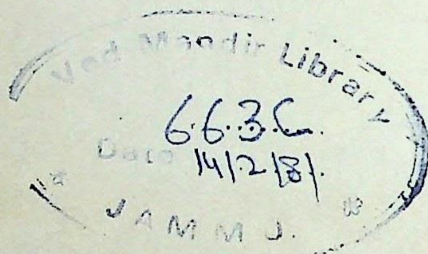
III

Manas Mukhtavali

III

63 / 11

मानस-मुक्तावली



प्रकाशक : बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०९ सदर्न एवेन्यू कलकत्ता २९

मूल्य : पंद्रह रुपये

संस्करण : रामनवमी संवत् २०३२
२० अप्रैल १९७५

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स
के १७ नवीन शाहदरा दिल्ली ३२

श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम

पं० रामकिंकर उपाध्याय

श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम जय राम जय जय राम श्रीराम

सविनय

मानस चतुश्शती वर्ष के सन्दर्भ में **मानस-मुक्तावली** के दो खण्ड गत वर्ष प्रकाशित हो चुके थे जिनका विमोचन किया था गत रामनवमी के पुण्य-दिवस पर पूज्य पिता **श्रीघनश्यामदासजी** ने। **मानस-मुक्तावली** के प्रत्येक खण्ड में १०० पंक्तियों पर मानस के अनन्य एवं अधिकारी विद्वान् पूज्य **पं० रामकिंकरजी उपाध्याय** का बड़ा ही गम्भीर एवं सारगर्भित विवेचन है। भक्ति-साहित्य में ऐसे प्रकाशनों का अपना उत्कृष्ट स्थान तो है ही, भाषा-साहित्य में भी ये ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गिने जायेंगे। हिन्दी-शिक्षण के पाठ्य-क्रम में मानस की चौपाइयों का उद्धरण जहाँ रहता हो वहाँ ऐसा साधिकार अर्थ तथा विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि भगवान् श्रीराम की कृपा-प्रसादस्वरूप **मानस-मुक्तावली** के तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। परिकल्पना को साकार एवं संपूर्ण रूप देने के लिए हम **पं० रामकिंकरजी** महाराज का अत्यन्त आभार मानते हैं।

यह अब निर्विवाद रूप से अनुभव किया जाने लगा है कि देश में स्वस्थ एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण की आवश्यकता है। **श्री गोस्वामीजी** ने अपने समय में **रामचरितमानस** के माध्यम से अनेक विद्वेष एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों का समाधान उपस्थित किया था। रामचरितमानस के अक्षुण्णतत्त्व एवं सूत्र-संकेत सार्वकालिक हैं जो आज के युग-संदर्भ में भी सर्वथा सही उतरते हैं और हर परिस्थिति में हमारा कल्याण कर सकते हैं। मुझे विश्वास है कि मानस चतुश्शती वर्ष के उपलक्ष में उद्भूत विशेष वातावरण सदा सजीव रहेगा और देश को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

देश के चारित्रिक उत्थान की भावना से मानस के विभिन्न चरित्रों के निरूपण का एक संकलन **मानस चरितावली** के नाम से प्रकाशित करने के लिए पूज्य पिताजी के निवेदन को **पं० रामकिंकरजी** महाराज ने स्वीकार किया था। मुझे विश्वास है कि यह संकल्प भी शीघ्र पूर्ण हो सकेगा और बिरला अकादमी अपना एक और पुष्प अर्पित कर सकेगी।

महाशिवरात्रि
संवत् २०३१

सरला बिरला

समापन और समर्पण

पिछले वर्ष श्रीरामनवमी के पावन पर्व पर 'मानस मुक्तावली' के दो खंड प्रकाशित हुए थे। भगवती लक्ष्मी और वीणापाणि सरस्वती के समान रूप से कृपा-पात्र श्री घनश्यामदासजी बिरला द्वारा इस ग्रन्थ का विमोचन दिल्ली के श्री लक्ष्मी-नारायण मंदिर में सम्पन्न हुआ था। इस अवसर पर उन्होंने जो भावना और भक्ति से भरा हुआ भाषण दिया था उसमें एक सुझाव यह भी था कि मानस के सभी मुख्य पात्रों पर 'मानस चरितावली' के नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। उस समय यह संकल्प बना था कि अगले वर्ष की श्रीरामनवमी पर अवशिष्ट 'मानस मुक्तावली' के दो खंड और 'मानस-चरितावली' प्रकाशित हो सकें। किन्तु लम्बी अस्वस्थता और कन्या के विवाह की समस्या से इसमें व्यवधान उपस्थित हुआ। इसलिए 'मानस-चरितावली' के संकल्प को अगले वर्ष के लिए स्थगित रखना ही उपयुक्त जान पड़ा। अतः 'मानस मुक्तावली' के अवशिष्ट खंड प्रकाशित हो सकें, ऐसी चेष्टा की गई। भगवत्कृपा से यह संकल्प साकार हो सका।

यह मानस चतुश्शती के समापन का वर्ष है। पर सत्य तो यह कि भगवच्चरित्र में विराम ही सम्भव है, समापन नहीं, अतः चतुश्शती वर्ष के बाद भी भगवच्चरित्र का प्रवाह देश को जीवन और अमृततत्त्व का संदेश देता रहेगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

सौजन्यमयी सरलाजी और श्री बसन्तकुमारजी बिरला इस सत्कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। श्रीरामचरितमानस के प्रति सौभाग्यशाली दम्पति की श्रद्धा सराहनीय है। श्री रमणलालजी बिन्नानी को धन्यवाद दिये बिना कृतज्ञता-ज्ञापन अधूरा रह जाएगा। वे बार-बार इस संकल्प की पूर्ति का स्मरण दिलाते रहे। इससे मुझे प्रेरणा प्राप्त हुई।

वसंत पंचमी
२०३१

—रामकिंकर

मुक्तावली-क्रम

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

भूमिका

दक्षिण भारत के कुछ लोगों ने इस वर्ष एक नई माँग प्रस्तुत की "रामलीला में विजयादशमी के पर्व पर महाराज रावण का पुतला जलाने का कार्य बन्द किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री को रामलीला में भाग नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इससे हम लोगों की भावना को ठेस लगती है। यदि इसे अस्वीकार कर दिया गया तो इसके उत्तर में हम लोग रावणलीला मनाकर राम का पुतला जलावेंगे।" उनकी माँगें पूरी नहीं की गईं तथा उन्होंने अपनी धमकी पूरी कर दी। उत्तर भारत का वातावरण इससे विक्षुब्ध हुआ। विरोध में सभाएँ की गईं। ऐसे लोगों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने की माँग की गई। कुछ लोगों ने देश की अखण्डता के हित में इसको उपेक्षा की दृष्टि से देखने का अनुरोध किया तो कुछ लोगों ने इस प्रसङ्ग में दिखाई गई सहिष्णुता को ही सारे अनर्थों की जड़ बताकर इसे कायरता की संज्ञा दी। एक ओर जब देश-विदेश में रामचरितमानस की चतुश्शती मनाकर उसके प्रति समादर व्यक्त किया जा रहा है, दूसरी ओर चतुश्शती वर्ष में ही मानस के आराध्य के प्रति आक्रोश का यह प्रदर्शन देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। भगवान् राम और लंकाधिपति रावण के संघर्ष को आर्य और द्राविड़, उत्तर और दक्षिण के संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास वस्तुतः राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित है। सारा दक्षिण भारत भी उत्तर की ही भाँति भगवान् राम की भक्ति से अनुप्राणित रहा है और उन्हें पूर्णता और ईश्वर काप्रतीक मानता आया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण वहाँ के जनसाधारण में भी समान रूप से प्रचलित व्यक्तियों के नाम हैं जो 'राम' से प्रारम्भ होते है। 'राम' और 'कृष्ण' आदि से प्रारम्भ होने वाले नामकरण के पीछे भावना यही है कि जितनी बार व्यक्ति का संबोधन किया जाय उतनी ही बार भगवन्नाम का उच्चारण हो। यह हमारी धार्मिक एकता एवं साँस्कृतिक एकात्मता का भी एक प्रमाण है। अतः यह बड़ी सरलता से समझा जा सकता है कि रामकथा का यह आरोपित अर्थ सर्वथा नया, विद्वेष एवं विघटन की सृष्टि करने वाला है और इससे

निपटना शासन का कार्य है। किन्तु यदि इसके पीछे सचमुच कोई भ्रान्ति हो तो उसके निराकरण का प्रयास भी अपेक्षित है। इसके लिए राजनैतिक मञ्च से दूर विचार-विनिमय के लिए दोनों पक्षों को एकत्र होकर शान्त चित्त से इसपर विचार करना चाहिए। सम्भव है, इस प्रकार भ्रान्ति का निराकरण होकर सम्यक् दृष्टि का उदय हो।

रावण का व्यक्तित्व उत्तर भारत में भी विवाद का विषय रहा है, पर उसके पीछे एक भिन्न दृष्टि थी। रामचरितमानस के पुराने व्याख्याता इस विषय पर दो भागों में बँटे हुए थे। एक पक्ष यह मानता था कि रावण महान् ज्ञानी ही नहीं अपितु उच्च कोटि का भक्त भी था। वह जनकनन्दिनी को मातृदृष्टि से देखता था, इसीलिए उन्हें अपहृत करने के बाद उसने वैदेही को अशोक वाटिका में रखा। वह श्रीराम के ईश्वरत्व से भली-भाँति परिचित था। वह तो युद्ध ही इस उद्देश्य से करता है जिससे सारी राक्षस जाति के साथ-साथ वह भी मुक्त हो सके। इसके पक्ष में मानस की कुछ विशिष्ट पंक्तियाँ उद्धृत की जाती रही हैं, विशेष रूप से जब शूर्पणखा के द्वारा खर-दूषण की मृत्यु का समाचार रावण को सुनाया गया। उसे सुनकर एकान्त क्षणों में रावण सोचता है—खर-दूषण तो मेरे समान ही बलवान थे, उन्हें ईश्वर को छोड़कर कौन मार सकता है ? उनके अवतार होने की सम्भावना होते हुए भी मेरे लिए इस तमोगुणी शरीर से भजन सम्भव नहीं है। मेरे लिए तो बस एक ही मार्ग अवशिष्ट है कि लड़ते हुए प्राण देकर मुक्त हो जाऊँ :

खर दूषन मोहि सम बलवन्ता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता॥
सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा॥

रावण के द्वारा अपहरण के क्षण में की जाने वाली मानसिक चरण-वन्दना का वर्णन भी इस पक्ष के समर्थन का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। श्रीजनकनन्दिनी की बातों को सुनकर ऊपर से रावण क्रोध का अभिनय करता है किन्तु मन-ही-मन चरण-वन्दना करता हुआ प्रसन्न होता :

सुनत बचन दससीस रिसाना।
मन महुँ चरन बन्दि सुख माना॥

मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ जिनके मन में रावण के प्रति अगाध आदर-भावना है। गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम की स्मृति मुझे आज भी उद्वेलित करती है। वहाँ एक ऐसे किशोर से मेरा परिचय हुआ जो पूर्व जन्मार्जित संस्कारों से सम्पन्न सात्विक साधक था। मेरे प्रति उसके हृदय में स्नेह और आदर की प्रगाढ़ भावना विद्यमान थी, किन्तु इसका एक विरोधाभासी तथ्य यह भी था कि मैं जब कभी रावण की आलोचना करता था तब वह उद्विग्न होकर उठ जाता था। बाद में उस किशोर की उपरामता इतनी बढ़ गई कि गीता-प्रेस, गोरखपुर से वह श्री अवध जाकर वहीं रहकर भजन में संलग्न रहने लगा। भगवान् राम के प्रगाढ़ भक्त "गुणसागर" की रावण के प्रति आदर-भावना बहुतों के लिए बड़ी अटपटी-सी बात थी, पर स्वयं उनके मन में कोई द्विविधा नहीं थी। उनकी दृष्टि से रावण भगवान् राम का महान् भक्त था जो अपनी भावनाओं को छिपाकर स्वयं को शत्रु के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास करता था। रावण उनकी दृष्टि में एक चतुर अभिनेता था जो लोकदृष्टि में एक खलनायक का-सा आचरण कर रहा था। विजयादशमी के पावन पर्व पर रावण का पुतला जलाया जाना उनके लिए कोई समस्या न थी। वह तो रंगमंच के आचरण के अनुरूप ही था।

दूसरे सज्जन की रावण-भक्ति तो अतिरेक की सीमा तक पहुँची हुई थी। उनके लिए रावण महान् शिव-भक्त था। वे भूलकर भी कभी रामनाम नहीं लेते थे। यदि उनसे यह तर्क किया जाय कि भगवान् शंकर स्वयं रामनाम का जप करते हैं तो वे कहते थे, "बड़ों की बात बड़े ही जानें।" विजयादशमी को रावण के पुतले की राख वे स्वयं एकत्र करते थे, और नर्मदा में ले जाकर प्रवाहित करने के बाद उसे तिलाञ्जलि देते थे। सम्पूर्ण मुण्डन कराने के बाद ही वे घर लौटते थे। वे रामनाम भले ही न लेते हों पर उन्हें ईश्वर ही मानते थे। एक बार उन्होंने रावण की वन्दना दो पंक्तियों में की जिसका भाव था—महाराज रावण की जय हो, क्योंकि तुम्हारे कारण ही जगदीश्वर का अवतार हुआ :

जय जयति जय दशसीस।
तुम्हारे कारण प्रगटे ईस॥

रावण के प्रति उनकी इस भावना से कोई उद्विग्न नहीं होता था, अपितु लोगों के लिए यह एक विनोद की सामग्री थी। लाख प्रयास करने पर भी वे राम-नाम नहीं लेते थे। उन्हें देखते ही लोग उनसे रामनाम कहलाने का प्रयास करते थे। उनके इस प्रकार के व्यवहार के पीछे कूटनीतिक कौशल-जैसी कोई बात नहीं थी। बाद में एक भिन्न वर्ग से पाला पड़ा। यह राजनीति में डूबा हुआ वर्ग था। राजनैतिक लाभ के लिए जातीय भावनाओं को उभारने में उसे कोई संकोच न

था। अपने को ब्राह्मणत्व का रक्षक समझने वाले एक आचार्य ने इसे ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष के रूप में देखने का प्रयास किया। उनके लिए रावण ब्राह्मणत्व का प्रतीक था। इससे बढ़कर विरोधाभास क्या होगा कि दक्षिण में रावण द्राविड़ का प्रतीक है। रावण का समर्थन करने वाले इस वर्ग की दृष्टि में राम के ही समान ब्राह्मण भी घृणा का पात्र है। सम्भवतः इस प्रकार के लोगों को यदि यह विश्वास हो जाय कि रावण ब्राह्मण था तो वह भी उनकी दृष्टि में घृणा का पात्र बन जाएगा। यों वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग से रावण के ब्राह्मणत्व की ही पुष्टि होती है। अशोक वाटिका में वृक्ष पर आरूढ़ पवनपुत्र के समक्ष यह समस्या थी कि वे जनकनन्दिनी से किस भाषा में वार्त्तालाप करें। आञ्जनेय देवभाषा के भी पंडित थे। पर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि संस्कृत में बातचीत करना उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि संस्कृत द्विजातियों की भाषा है और इस भाषा में बोलने पर मैथिली मुझे रावण समझकर भयभीत हो जाएँगी :

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृता।
रावणं मन्यमानामां सीता भीता भविष्यति॥

इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि रावण तमिलभाषी नहीं था। वस्तुतः राजनीतिज्ञ के लिए वास्तविक तथ्य का कोई महत्त्व नहीं है। वह तो हर वस्तु का उपयोग केवल अपने राजनैतिक स्वार्थ के दोहन के लिए करना चाहता है। इसीलिए एक वर्ग के लिए यदि वह ब्राह्मणत्व का प्रतीक है तो दूसरे वर्ग के लिए वह द्रविड़ सभ्यता का प्रतीक बन बैठा है। ऐसे लोगों को रावण के सम्मान अथवा अपमान से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उनके लिए मुख्य समस्या यह है कि वे इस आधार पर वर्ग विशेष के असंतोष को उभारकर अपना नेतृत्व बनाए रखना चाहते हैं। देश, धर्म, प्रान्त और भाषा-जैसी वस्तुएँ इनके लिए राजनैतिक शतरंज के मोहरे हैं। अपने राजनैतिक प्रतिद्वंद्वियों पर विजय पाने के लिए वह इनका मनमाना उपयोग करता है। शतरंज के खिलाड़ी को श्वेत या श्याम मोहरों में से किसी के प्रति आसक्ति नहीं होती। खेल में वह जिस मोहरे को लेकर खेलता है उसी की विजय के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। अधिकांश राजनीतिज्ञों की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की होती है। श्रीराम एवं रावण से तो उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। यदि उत्तर भारत में वह श्रीराम के प्रति श्रद्धालु है तो दक्षिण भारत में रावण का भक्त बन बैठा है। संयोग से यदि उत्तर भारत में रावण का महत्त्व अधिक हो जाए तो दक्षिण भारत में वह अपने को रामभक्त प्रदर्शित करने में किञ्चित् भी संकोच नहीं करेगा। इस प्रकार के राजनीतिज्ञों से दूर उत्तर और दक्षिण के कोटि-कोटि नर-नारी श्रीराम और रावण के संघर्ष को सदैव भिन्न दृष्टि से आँकते हैं।

तथाकथित राजनीतिज्ञों से हटकर यदि किसी श्रद्धालु भक्तजन से रामलीला के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाय तो वह स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकता कि वह किसी ऐसे आर्य विजेता का विजय-पर्व मना रहा है जिसके द्वारा दक्षिण भारत पराजित किया गया था। उसकी दृष्टि में तो श्रीराम साक्षात् ईश्वर ही हैं जिन्होंने रावण के रावणत्व के कारण ही उसे मृत्यु-दण्ड देकर भी अन्त में उसे स्वयं में ही लीन कर लिया। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि भगवान् श्रीराम की लीला में खलनायक के रूप में एक दक्षिण भारतीय आता है तो भगवान् कृष्ण की लीला का खलनायक उत्तर भारत का राजा कंस है। भगवान् श्रीराम और रावण का जन्म जहाँ दो भिन्न जातियों में होता है वहीं भगवान् श्रीकृष्ण एवं कंस स्वजातीय ही नहीं अपितु निकटस्थ सम्बन्धी भी हैं। इस प्रकार यदि ईश्वरीय अवतारों की प्रत्येक लीला में खलनायक की भूमिका में केवल दक्षिण भारतीय को ही प्रस्तुत किया जाता तब तो इस आरोप का कोई अर्थ हो सकता था कि उत्तर भारतीयों ने जान-बूझकर दक्षिण भारतीयों को ही नीचा दिखाने का प्रयास किया है। सारी पौराणिक गाथाओं में उत्तर एवं दक्षिण, आर्य एवं द्राविड़-जैसा कोई भेद नहीं दिखाई देता है। यदि भगवान् कृष्ण का जन्म उत्तर भारत में हुआ तो भक्तिदेवी का प्राकट्य दक्षिण में हुआ। देवर्षि नारद को अपना परिचय देते हुए भक्तिदेवी ने ऐसा ही संकेत किया—द्राविड़ देश में मेरा जन्म हुआ, कर्णाटक में मैं युवा हुई, महाराष्ट्र में भी मेरी स्थिति श्रेष्ठ रही, किन्तु गुजरात पहुँचकर मैं वृद्ध हो गई :

उत्पन्ना द्राविणे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णताङ्गता॥

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि यदि गुजरात प्रदेश के भावुक जनों पर यह प्रभाव पड़ता है कि उक्त रचना किसी विरोधी व्यक्ति की है तो यह अस्वाभाविक न होता। किन्तु भावप्रधान गुजरातियों ने इसे इस सन्दर्भ में न लेकर अपने सद्विवेक का परिचय दिया। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि समस्त देश में श्रीमद्भागवत के प्रति सर्वाधिक श्रद्धा-भावना गुजरात प्रान्त में ही देखी जाती है। यही शुद्ध भक्ति-भावना का दृष्टिकोण है। कूटनीतिक कुचाल का पुट देकर इसे भी पूर्व और पश्चिम के संघर्ष के रूप में विकसित किया जा सकता था।

श्रीरामचरितमानस में यह राम-रावण संघर्ष सर्वथा भिन्न परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। विश्व के रंगमंच पर ईश्वर ने एक ऐसे नाटक को प्रदर्शित करने का निर्णय किया जिसके द्वारा मनुष्य के अंतर्जीवन की समस्याएँ वाह्य रूप में

प्रस्तुत की जाएँ। अतएव भगवान् के ही पार्षद जय एवं विजय इस नाटक में रावण एवं कुम्भकर्ण के रूपों में अवतरित होते हैं। इस प्रकार नाटक समाप्त होने के उपरांत ये दोनों अभिनेता पुनः प्रभु के पवित्र धाम में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मोह एवं अहंकार का उदय हमारे अंतःकरण को किन-किन समस्याओं द्वारा आक्रान्त कर देता है, रावण एवं कुम्भकर्ण के माध्यम से यही परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने-आप में ही संघर्षरत है। एक ओर वह दशेन्द्रियों से भोगासक्त होकर निरन्तर विषयों का सुखानुभव कर रहा है। यही भोगासक्ति मूल रूप से परोत्पीड़न-वृत्ति की जन्मदात्री है। दूसरी ओर जीव सच्चिदानन्द ईश्वर का अंश होने के कारण स्वयं आनन्दमय है। अतएव अपने आत्मस्वरूप को पहचानकर वह स्वयं में रमण करने वाला आत्माराम बन जाता है। देहवाद एवं भोगासक्ति द्वारा जिस छलना-वृत्ति का जन्म होता है उसी के द्वारा वह दूसरों के स्थान पर स्वयं को ही छल रहा है, इसे वह नहीं जान पाता। रावण भी शान्ति-स्वरूपा श्रीसीता का अपहरण करते हुए इसी भ्रान्ति का आखेट हुआ। वह यह नहीं जान सका कि इस अपहरण में वह स्वयं का विनाश आमन्त्रित कर रहा है। श्रीसीता तो जगन्माता हैं। व्यक्ति को उनकी आराधना पुत्र-रूप में करनी चाहिए किन्तु दशेन्द्रियवादी भोगासक्त होने के कारण जगज्जननी के प्रति भी वही दृष्टि रखता है। वह यह नहीं जान पाता कि वास्तविक शान्ति भोगों के परित्याग में है, न कि उनके ग्रहण में।

एक ही इतिहास को प्रतिवर्ष दोहराया जाता है। दशमुख का प्रतीक (पुतला) बनाकर उसे जलाया जाना दशेन्द्रिय शरीर के अन्त में भस्मीभूत होने का प्रतीक है। मृत्यु के पश्चात् शरीर को जलाया जाना ही भोगवाद की पराजय सिद्ध करता है। अविनाशी तत्त्व तो वह है जो अंत में शरीर के घेरे से मुक्त होकर ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। रावण की मृत्यु के पश्चात् जो "तेज" उसके मुख से निकला वह श्रीराम में समा गया :

तासु तेज समान प्रभ आनन।
हरषे देखि सम्भु चतुरानन॥

यही त्रेता युग का इतिहास है, जो जीवन का शाश्वत सत्य है। इसी की पुनरावृत्ति परम्परागत जीवन के यथार्थ दर्शन की प्रक्रिया है। इसी को उत्तर-दक्षिण अथवा आर्य-द्राविड़ का रूप देकर संघर्ष की सृष्टि करना अपनी ही मानसिक विकृतियों को राम पर आरोपित करना है। उत्तर हो अथवा दक्षिण कहीं भी इस प्रकार की प्रवृत्ति घातक ही सिद्ध होगी। इस प्रकार यदि दक्षिण भारत के कुछ लोग जान-बूझकर या अनजान में ऐसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं तो

इसका उचित उत्तर यह नहीं होगा कि स्वयं हम भी उसी दुष्प्रवृत्ति में सम्मिलित हो जावें।

पुतले जलाये जाने के प्रसंग में रामायण के ही एक प्रसंग पर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। श्रीरामचरितमानस एवं वाल्मीकि रामायण दोनों में ही यह प्रसंग यत्किञ्चित् भेद के साथ दोहराया गया है। प्रतिदिन के युद्ध में स्वयं को पराजित अनुभव करने वाला रावण हताश होकर एक योजना बनाता है। वह श्रीराम तथा लक्ष्मण की नकली मृत्यु का ढोंग रचता है। रावण, श्री सीताजी को विमान पर बैठाकर आकाश की ओर ले जाकर उन्हें उस बीभत्स दृश्य का दर्शन कराता है। जनकनन्दिनी उस दृश्य को देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं। तत्पश्चात् चैतन्य अवस्था को प्राप्त होने पर वे व्याकुल स्वर में विलाप करने लगती हैं। किन्तु जब त्रिजटा के द्वारा उन्हें सत्य का ज्ञान हुआ तब उनका सारा विषाद समाप्त हो गया।

श्रीरामचरितमानस में इसी को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। रावण लंका के रणाङ्गण में श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण की अनगिनत नकली आकृतियाँ प्रकट करता है। इस दृश्य को देखकर समस्त बंदर हतप्रभ हो जाते हैं, उसी समय प्रभु रावण के इस माया-जाल को विनष्ट कर देते हैं तब बंदर पुनः स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं :

सही न जाइ कपिन्ह कै मारी।
तब रावन माया बिस्तारी॥

× ×

देखी कपिन्ह निसाचर अनी।
अनुज सहित बहु कोसलधनी॥

बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसल धनी।
माया हरी हरि निमिष महुँ हरषी सकल मर्कट अनी॥

श्रद्धालु जन भगवान् श्रीराम की मूर्ति का निर्माण करते हैं। उस मूर्ति या प्रतिमा में श्रद्धा के द्वारा की गई प्राण-प्रतिष्ठा ही तो देवत्व का आधार है। किन्तु रावण के तथाकथित अनुयायी जब स्वनिर्मित पुतले को 'राम' कहकर पुकारते हैं तब मानों वे लंका के इतिहास की पुनरावृत्ति ही करते हैं। रावण के द्वारा किया जाने वाला यह कार्य भी केवल अपनी पराजय को छिपाने का प्रयास-मात्र था, परन्तु क्या इससे उसकी पराजय टल सकी ? इसी प्रकार स्वयं को

उसका अनुयायी मानने वाले कुछ व्यक्ति यदि उसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं तो वे इसके द्वारा अपनी आन्तरिक मनोवृत्ति का ही प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार किया जाने वाला अपमान क्या भगवान् श्रीराम का किञ्चित् स्पर्श भी कर सकता है ? देश में क्रिया-प्रतिक्रिया का यह चक्र जिस निन्दनीय विद्वेष की सृष्टि कर रहा है उसे रोकने के लिए शासन एवं समाज के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण रखने वालों को समन्वित प्रयास करना चाहिए। निश्चय ही श्रीरामचरितमानस की भूमिका इस सन्दर्भ में अत्यधिक सहायक हो सकती है। इतिहास की बहिरङ्ग दृष्टि के स्थान पर उसमें जिस अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया गया है उसको दृष्टिगत रखकर विचार करने पर सारी समस्याएँ सर्वथा भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि में इस प्रकार की परिस्थितियों का जन्म छिपा न था, अतएव उन्होंने श्रीराम की अपेक्षा उनके पावन 'नाम' को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। आदि से अन्त तक गोस्वामीजी ने भगवान् श्रीराम तथा उनके 'रामनाम' की बड़ी ही सुन्दर तुलना की है। उन्होंने कहा, श्रीराम ने तो एक तपस्वी की पत्नी (अहल्या) का उद्धार किया। परन्तु उनके पवित्र रामनाम ने करोड़ों व्यक्तियों की कुमति को सुधारा। श्रीराम ने महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के हेतु ताड़का एवं उसके पुत्र सुबाहु का सेना सहित क्षण-भर में ही वध कर दिया, परन्तु 'नाम' भगवान् दास (भक्त) के दुःख एवं दुराशाओं को दोष समेत नष्ट कर देते हैं, जैसे सूर्यदेव रात्रि का। भगवान् श्रीराम ने स्वयं भगवान् शंकर के धनुष को तोड़ा परन्तु 'नाम' का प्रताप संसार के भयों को विनष्ट करता है। भगवान् श्रीराम जब दण्डक वन में पधारते हैं तो वह बड़ा ही शोभायमान हो जाता है, किन्तु 'नाम' भगवान् ने असंख्य मनुष्यों के मन पवित्र कर दिए। श्री रघुनाथजी ने राक्षसों के समूह को मारा परन्तु 'नाम' तो कलियुग के सारे पापों की जड़ उखाड़ने वाला है। श्री रघुनाथजी ने तो शबरी, जटायु आदि उत्तम सेवकों को शुभगति प्रदान की, किन्तु 'नाम' ने तो अगणित दुष्टों का उद्धार किया। 'नाम' के गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है। श्री रामजी ने तो सुग्रीव एवं विभीषण दो को ही अपनी शरण में रखा किन्तु 'नाम' ने तो अनेकों गरीबों पर कृपा की है। श्री रामजी ने भालुओं तथा बंदरों की सेना बटोरकर समुद्र पर पुल बाँधने के हेतु कम परिश्रम नहीं किया, परन्तु 'नाम' लेते ही संसार-समुद्र सूख जाता है। सज्जनगण विचार करके देखें कि दोनों में कौन बड़ा है ? श्रीराघवेन्द्र ने कुटुम्ब सहित रावण का वध कर दिया तब श्री सीताजी के साथ अपने नगर (अयोध्या) में पदार्पण किया। श्रीरामजी राजा हुए और अयोध्या उनकी राजधानी हुई, देवता एवं मुनिगण सुन्दर वाणी से उनके गुण गाते हैं। परन्तु सेवक (भक्त) प्रेमपूर्वक 'नाम' के स्मरण-मात्र से ही बिना परिश्रम 'मोह' की प्रबल

सेना को जीतकर प्रेम में मग्न हुए अपने ही सुख में विचरते हैं। 'नाम' के प्रसाद से उन्हें स्वप्न में भी कोई चिन्ता नहीं सताती।"

राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव चापू।
भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन।
नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ॥
राम सुकंठ बिभीषन दोऊ।
राखे सरन जान सबु कोऊ॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे।
लोक बेद बर बिरिद बिराजे॥
राम भालु कपि कटकु बटोरा।
सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं।
करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥
रामु सकुल रन रावनु मारा।
सीय सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा रामु अवध रजधानी।
गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती।
बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें।
नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥

आज भी 'मोह' संसार में समाज का सबसे प्रबल शत्रु है। अत: गोस्वामीजी दरिद्रता को भी मोह का वंशज ही मानते हैं :

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।।

वास्तव में व्यक्ति अथवा समाज तब तक सुखी एवं सन्तुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसकी अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की दरिद्रता का पूर्ण विनाश नहीं हो जाता। अतएव हमारा सारा प्रयास उसी दिशा में केन्द्रित होना चाहिए। केवल पुतले को जला देना ही यथेष्ट नहीं है। यदि हम बाह्य जीवन में तो रावण का पुतला जलावें और अन्त:करण में उसकी प्रतिष्ठा करें, तो रामभक्ति के नाम पर रावण के तथाकथित भक्तों के विरोध का कोई अर्थ नहीं रह जाता। तब तो सारा विरोध शाब्दिक एवं खोखलेपन की अभिव्यक्ति-मात्र ही रह जाता है।

मानस मुक्तावली का सौ पंक्तियों का यह तृतीय खंड प्रकाशित हो रहा है। इसमें भगवान् राम और रावण के संघर्ष का श्रीगणेश होता है। दण्डकारण्य ही वह पुण्यभूमि है जहाँ रावण को सर्वप्रथम चुनौती दी गई। गोस्वामीजी दण्डकारण्य को मन का प्रतीक मानते हैं, वासना-रूपी शूर्पणखा इसी में प्रविष्ट होकर इसको अपनी क्रीड़ा-भूमि बनाना चाहती है। उसकी इच्छा के अनुकूल चलने वाला व्यक्ति मोह और वासना का सेवक बन जाता है। इस प्रकार के प्रलोभन को भगवान् श्रीराम एवं श्री लक्ष्मणजी अस्वीकार कर देते हैं। परिणामत: श्रीलक्ष्मण द्वारा वासना पर किया जाने वाला प्रहार ही मोह को दी जाने वाली चुनौती थी।

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि।।

अतएव इस तृतीय खंड में संघर्ष के उतार-चढ़ाव की गाथा प्रस्तुत की गई है।

इस ग्रन्थ के लेखन में विभिन्न व्यक्तियों ने अलग-अलग रूपों में अपना योगदान दिया है।

श्रीमती शीला कोचर, प्रेमजी, श्री विष्णुकान्त पाँडे, श्रीकान्त पाँडे, उमाशंकर शर्मा, जगदीश गुप्त एवं गोविन्दप्रसाद दुबे ने लेखन-प्रक्रिया में विविध रूपों में बड़ा परिश्रम किया है। मैं इन सबको अपना स्नेहाशीष देता हूँ।

बसंत पंचमी
२०३१

—रामकिंकर

मानस-मुक्तावली-३

मानस-मुक्तावली भाग-३ में जिन पंक्तियों के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वे निम्नलिखित हैं :

१. उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्मरति॥

२. चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना॥
सुनि कृपाल अति आरत बानी। एकनयन करि तजा भवानी॥

३. कीन्ह मोहबस द्रोह, जद्यपि तेहिकर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर सम॥

४. बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

५. ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

६. ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

७. एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

८. जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदयँ निरन्तर बासी॥

९. तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥

१०. अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

११. अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥

१२. एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥

१३. ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक-मोह-भ्रम जाइ॥

१४. धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

१५. जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

१६. सूपनखा रावन कै बहिनी । दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।।

१७. सूपनखहिं समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भाँति ।
गयउ भवन अति सोचबस नींद परइ नहिं राति ।।
१८. खर-दूषण मोहि सम बलवन्ता । तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता ।।

१९. तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा । जौ लगि करौं निसाचर नासा ।।
२०. जबहिं राम सब कहा बखानी । प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी ।।

२१. उभय भाँति देखा निज मरना । तब ताकिसि रघुनायक सरना ।।
२२. अस जियँ जानि दसानन संगा । चला राम पद प्रेम अभंगा ।।

२३. जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहसि कहा सुनु माता ।।
२४. मरम बचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।।

२५. सुनत बचन दससीस रिसाना । मन महुँ चरन बंदि सुख माना ।।

२६. जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम ।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम ।।

२७. राम कहा तनु राखहु ताता । मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ।।
२८. जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होई श्रुति गावा ।।
२९. सो मम लोचन गोचर आगें । राखौं देह नाथ केहि खाँगें ।।

३०. दुरबासा मोहि दीन्ही सापा । प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा ।।
३१. पूजिअ विप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रवीना ।।

३२. सबरी देखि राम गृहँ आए । मुनि के बचन समुझि जियँ भाए ।।
३३. जनक सुता कइ सुधि भामिनी । जानहि कहु करिबरगामिनी ।।

३४. देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात ।।

३५. तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा । प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।।
३६. मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ।।

३७. दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग ।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग ।।

३८. मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानिकर ।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न ।।

३९. अति सभीत कह सुनु हनुमाना । पुरुष जुगल बल रूप निधाना ।।
४०. धरि बटु रूप देखु तैं जाई । कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई ।।

४१. जगकारन तारन भव भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार ।।

४२. प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना । सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ।।

४३. सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।।
४४. समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।।

४५. तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ ।।
४६. सुनि सेवक दुख दीनदयाला । फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला ।।
४७. सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरहिं प्रान ।।

४८. धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ।।
४९. मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ।।
५०. तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया ।।

५१. उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत रामु गोसाईं ।।

५२. उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ।
५३. सुर नर मुनि सबकै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।।

५४. लछिमन देखु मोर गन नाचत बारिद पेखि ।
ग्रही बिरति रत हरष जस बिष्नुभगत कहुँ देखि ।।

५५. महावृष्टि चलि फूटि किआरीं । जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं ।।

५६. रस-रस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ।।

५७. सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज कोस पुर नारी ।।
५८. जेहिं सायक मारा मैं बाली । तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।।

५९. सुनु हनुमंत संग लै तारा । करि बिनती समुझाउ कुमारा ।।

६०. यह गुन साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।।
६१. तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।।

६२. पाछें पवन तनय सिरु नावा । जानि काज प्रभु निकट बोलावा ।।
६३. जद्यपि प्रभु जानत सब बाता । राजनीति राखत सुर त्राता ।।

६४. मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सब बिनु जलपाना ।।
६५. आगें कै हनुमंतहि लीन्हा । पैठे बिबर बिलम्बु न कीन्हा ।।

६६. तेहिं सब आपनि कथा सुनाई । मैं अब जाब जहाँ रघुराई ।।
६७. मूदहु नयन बिबर तजि जाहू । पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ।।

६८. पुनि-पुनि अंगद कह सब पाहीं । मरन भयउ कछु संसय नाहीं ।।
६९. कह अंगद बिचारि मन माहीं । धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ।।

७०. मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा । राम कृपाँ कस भयउ सरीरा ।।

७१. कहइ रीछपति सुनु हनुमाना । का चुप साधि रहेहु बलवाना ।।

७२. जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंता ।।

७३. सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ।।
७४. राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान ।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान ।।

७५. निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई । करि माया नभु के खग गहई ।।
७६. सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा ।।

७७. गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी । कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ।।

७८. तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ।।

७९. तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम ।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम ।।

८०. तृन धरि ओट कहति बैदेही । सुमिरि अवधपति परम सनेही ।।

८१. त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुन बिबेका ।।
८२. सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ।।

८३. निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी ।
अस कहि सो निज भवन सिधारी ।।

८४. कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ।।

८५. जीति को सकइ अजय रघुराई । माया तें असि रचि नहिं जाई ।।
८६. रामचन्द्र गुन बरनैं लागा । सुनतहिं सीता कर दुख भागा ।।

८७. कोमलचित कृपाल रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई ।।

८८. तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ।।

८९. करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना । निभर प्रेम मगन हनुमाना ।।

९०. चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा । फल खाएसि तरु तोरैं लागा ।।

९१. ब्रह्म अस्त्र तेहिं साँधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार॥

९२. ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहुँ बार कटकु संघारा॥

९३. जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

९४. मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान॥

९५. जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥

९६. रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥

९७. जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं।

९८. मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा। जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा॥

९९. चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष समेत पवनसुत लयऊ॥

१००. तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्मरति॥

अर्थ—उमा! राम के गुण रहस्यमय हैं, इनसे पंडित और मुनियों को वैराग्य प्राप्त होता है। किन्तु वे मूर्ख, जिनमें भगवद्भक्ति का अभाव है, जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, मोहग्रस्त हो जाते हैं।

ईश्वर की तो बात ही क्या उसके द्वारा निर्मित यह विलक्षण प्रकृति ही स्वयं में इतनी रहस्यपूर्ण है कि अनादिकाल से लेकर अब तक व्यक्ति उसके भेदों से परिचित नहीं हो पाया है। कभी जान सकेगा इसकी सम्भावना भी नहीं है। ज्ञात की तुलना में अज्ञात की मात्रा इतनी अधिक है कि ज्ञात का दावा सर्वदा हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने वैज्ञानिक की तुलना उस बालक से की थी जो विशाल समुद्र-तट पर सीपियों को एकत्र कर रहा हो। इस महान् विज्ञानवेत्ता की यह वाचिक नम्रता-मात्र न होकर यथार्थ की स्वीकृति ही थी। अध्यात्मवेत्ता भी सर्वदा यही उद्घोष करते रहे हैं। पौराणिक श्रद्धा की दृष्टि से ब्रह्मा इस विशाल विश्व के रचयिता हैं किन्तु वे भी कह उठते हैं "जा कहुँ कोउ नहिं जाना"। ब्रह्मा ने ईश्वर की स्तुति करते हुए इस असमर्थता का ज्ञापन दो बार किया :

पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।

× ×

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।

× ×

ईश्वर और उसकी प्रकृति दोनों ही अविज्ञेय हैं। किन्तु मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति भी अनुपम है। वह निरन्तर इस रहस्य के भेदन में संलग्न रहता है। उस प्रयत्न में उसके हाथ जो रहस्य लग जाते हैं वह उनका उपयोग करने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक, प्रकृति के जिन रहस्यों को जान पाया है उनका सदुपयोग और दुरुपयोग आविष्कारों के रूप में आज विश्व के सामने है। अध्यात्मवेत्ता की जिज्ञासा का विषय प्रकृति न होकर ईश्वर है। वैज्ञानिक यदि पदार्थ से शक्ति प्रकट करने की चेष्टा करता है तो भक्त प्रकृति के रचयिता ईश्वर को ही अपने बीच अभिव्यक्त करने के लिए व्यग्र रहता है। अवतार इसी आकांक्षा का परिणाम है। वैज्ञानिक पदार्थ से शक्ति को प्रकट करने के लिए यान्त्रिक विधि का आश्रय लेता है। भक्त की दृष्टि में ईश्वर को प्रकट करने का माध्यम प्रेम है :

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी।
प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

पदार्थ से शक्ति के प्रकटीकरण की प्रक्रिया में अनेक भय विद्यमान रहते हैं। उसके उपयोग की सही प्रक्रिया का ज्ञान न होने पर वह विध्वंसक भी बन सकता है। किसी-न-किसी रूप में अध्यात्म विज्ञान में भी यह समस्या विद्यमान है। ईश्वर के अवतार और उसकी लीलाओं का आनन्द लेने के लिए हृदय में भक्ति और प्रीति की आवश्यकता है। भक्ति और प्रीति के अभाव में ईश्वर के द्वारा मनुष्य के रूप में की गई लीलाएँ मनुष्य को मोहग्रस्त बना सकती हैं।

वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को उसके आविष्कर्त्ता और निर्माता की चेतावनी पर ध्यान रखना पड़ता है। उसकी तनिक-सी उपेक्षा व्यक्ति और समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म विज्ञान की भी है। परमाचार्य भगवान् शिव अवतारवाद के मुख्य प्रणेता हैं, इसलिए अवतार के रहस्यों को समझने के लिए उनकी सैद्धान्तिक चेतावनी को स्मरण रखना आवश्यक है।

पार्वती को दी जाने वाली चेतावनी विशेष अर्थ रखती है। अपने पूर्व जन्म में सती के रूप में वे ऐसी भूल कर चुकी हैं जिसका परिणाम उन्हें लम्बे काल तक भोगना पड़ा था। कथा में उसी लीला के निकट आने पर शिव की स्मृति में पुरानी बातें उभर आयें, यह स्वाभाविक था। उस समय भी शम्भु ने सती को चेतावनी

देने की चेष्टा की थी, किन्तु सती ने उसे उपयुक्त महत्त्व नहीं दिया। वे ईश्वर की लीलाओं का रहस्य समझने के लिए दृष्टि और तर्क का आश्रय लेती हैं। परिणामस्वरूप उन्हें दीर्घकाल तक शिव का वियोग सहना पड़ा। महेश ने प्रस्तुत प्रसंग में उमा के माध्यम से उन सभी लोगों को चेतावनी दी जो केवल घटना-क्रम और तर्क के माध्यम से ही श्रीराम की लीलाओं को समझना चाहते हैं। लीला-रहस्य को हृदयंगम करने के लिए पंडित और मुनि की आवश्यकता है। पंडित शब्द का मूल रूप पंडा है। पंडा का तात्पर्य है—"शास्त्रोज्ज्वला बुद्धि"। जिसकी बुद्धि शास्त्र के सही तात्पर्य को ग्रहण कर सकती है वही पंडित है। शास्त्र उन महापुरुषों की कृति हैं जिन्होंने साधना के द्वारा अपने अन्तःकरण को इतना शुद्ध बना लिया कि मानवीय संस्कार से उत्पन्न होने वाले दोषों का उसमें लेश भी नहीं रह गया।

पंडित बुद्धि का प्रयोग करता है। किन्तु वह स्वयं की बुद्धि की प्रामाणिकता भी शास्त्रीय आधार पर ही स्वीकार करता है। व्यावहारिक दृष्टान्त के रूप में इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। न्यायालय में अपनी बात सिद्ध करने के लिए बुद्धिमान वकील तर्क का आश्रय तो लेता ही है, किन्तु केवल तर्क ही उसे विजय दिलाने में समर्थ नहीं हो सकता। उसे अपनी बात को न केवल तर्क-संगत अपितु संविधान के अनुकूल भी प्रमाणित करना पड़ता है। योग्य न्यायाधीश निर्णय देते हुए तार्किकता की अपेक्षा संविधान की अनुकूलता को ही अधिक महत्त्व देता है। शास्त्र की तुलना संविधान से की जा सकती है। पंडित वही है जो शास्त्रानुकूल बुद्धि के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयास करे।

मुनि का अर्थ मननशील है। उतावलेपन से शास्त्र के सही तात्पर्य को समझ पाना सम्भव नहीं है। इसके लिए मनन की आवश्यकता है। मनन की प्रक्रिया मन के द्वारा सम्पन्न होती है। अनेक ऐसी बातें होती हैं जिन्हें बुद्धिसंगत तो कहा जा सकता है किन्तु उन्हें मन स्वीकार नहीं करता। मन की स्वीकृति के अभाव में किसी भी सत्य को जीवन में उतार पाना सर्वथा असम्भव है। बुद्धि और मन का एक दिशा में चलना ही जीवन की सफलता का मूलमन्त्र है। मननशील मुनि का जीवन इसी समन्वय को प्रमाणित करता है। ईश्वर की लीलाओं का रहस्य हृदयंगम करने के लिए पंडित और मुनिवृत्ति के समन्वय की आवश्यकता है।

भगवान् शंकर के शब्दों में प्रभु की लीला का रहस्य जान लेने पर पंडित और मुनियों के अन्तःकरण में वैराग्य का उदय होता है। जिन लीलाओं के सन्दर्भ में यह बात कही गयी है वे श्रृंगार रस से सम्बद्ध हैं। अरण्यकाण्ड का उपक्रम और उपसंहार श्रृंगार के संयोग और वियोग इन दो पक्षों से सम्बद्ध है। श्रृंगार व्यक्ति के अन्तःकरण में राग की सृष्टि करता है, यह प्रचलित मान्यता है। किन्तु

श्रीराम की श्रृंगारिक लीलाएँ शिव की दृष्टि में सर्वथा भिन्न परिणाम प्रस्तुत करती हैं। उनके द्वारा राग के स्थान पर अन्तःकरण में वैराग्य का उदय होता है। साधारण दृष्टि से अटपटा प्रतीत होने पर भी यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिसंगत है। इसे यों कह सकते हैं कि ईश्वर की लीला का रस प्राप्त करने पर पंडित और मुनियों के अन्तःकरण में प्रभु के चरणों में अनुराग उत्पन्न होता है। ईश्वर के प्रति अनुराग ही सांसारिक विषय से विरागी बना देता है :

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसि बासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंदा।।

किन्तु जो धर्म के रहस्य से परिचित नहीं हैं और जिनका प्रेम भगवान् से नहीं है वे इन लीलाओं को साधारण श्रृंगारिक स्तर पर देखकर इनसे एक भिन्न परिणाम निकाल लेते हैं। उन्हें श्रीराम का चरित्र घोर विषयी के समान प्रतीत होता है। वन से कुसुमराशि चुनकर प्रिया सीता के लिए आभूषणों का निर्माण करने वाले श्रीराम का चित्र अथवा जानकी के अपहरण के पश्चात् विलाप करते हुए लता-वृक्षों से उनका पता पूछते हुए व्याकुल राघव की झाँकी उनके अन्तः-करण में इसी प्रकार के विपरीत भाव की सृष्टि करती है।

भावुक भक्त इन झाँकियों का स्मरण करते ही गद्‌गद हो उठता है। अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी अपनी प्रिया के लिए आभूषणों का निर्माण करता है। स्वयं उसके विश्राम के लिए शय्या सजाता है। उसकी यह प्रेमपरवशता ही सहृदय भावुकों को रसपरिप्लुत बना देती है। व्यक्ति का मन स्नेह की प्यास से व्याकुल है। किन्तु उसकी तृप्ति के लिए जहाँ भी जाता है उसे प्यासे लोगों की ही भीड़ दिखायी देती है। विनयपत्रिका में व्याकुल तुलसीदास पुकार उठते हैं, प्रभु तुम्हें छोड़कर और कहाँ जाऊँ ? जिससे जल पिलाने के लिए कहता हूँ वह अमृत की माँग करता है :

नाथ ! गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो।
राम रीझिबे को जानौं भगति न भाउ सो।।
करम, सुभाउ, काल, ठाकुर न ठाउँ सो।
सुधन न, सुतन न, सुमन, सुआउ सो।।
जाचौं जल जाहि कहै अमिय पियाउ सो।
कासों कहौं काहू सों न बढत हियाउ सो।।
बाप ! बलि जाउँ, आपु करिये उपाय सो।
तेरे ही निहारे परै हारेहू सुदाउ सो।।

तेरे ही सुझाये सूझै असुझ सुझाउ सो।।
तेरे ही बुझाये बूझै अबुझ बुझाउ सो।।
नाम-अवलंबु-अंबु दीन मीन-राउ-सो।
प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो।।
सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो।।

श्रीराम पूर्णकाम हैं। यों तो अनेक महापुरुषों को पूर्णकाम की उपाधि प्रदान की जाती है। जिसके जीवन में कोई कामना शेष नहीं है वह पूर्णकाम है। ऐसे पूर्णकाम लोक से सर्वथा उदासीन हो जाते हैं। किन्तु श्रीराम की पूर्णकामता सर्वथा भिन्न प्रकार की है। पूर्णकाम प्रभु दूसरों की कामना पूर्ण करते रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर का प्यासा मन इन उदार शिरोमणि के पास पहुंचकर ही तृप्ति प्राप्त कर सकता है। अपने आश्रित की प्रसन्नता के लिए वे क्या नहीं कर सकते ?

सीता के वियोग में व्याकुल रामभद्र की झाँकी भक्तों को आश्वस्त बनाती है। यह ईश्वर उस प्रकार का नहीं है कि जिसे पाने के लिए साधक के अन्तःकरण में ही व्याकुलता की आवश्यकता हो। यह तो स्वयं ही व्याकुल होकर स्नेह-पात्र को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ने वाला ईश्वर है। श्रीसीता जिन परिस्थितियों में बंदिनी हैं उनमें प्रभु को खोजने के लिए एक पग चल पाना भी उनके लिए असम्भव है। मिलन का प्रयास तो प्रभु को ही करना है। और वे वन-वन भटकते हुए अन्त में प्रिया का पता लगा ही लेते हैं। राक्षसों का संहार करने के लिए वानरों की विशाल वाहिनी एकत्र करना, मध्य में पड़ने वाले समुद्र की अगाध जलराशि को पार करने के लिए समुद्र पर सेतु का निर्माण, उनके जिस अनुराग-भरे अन्तःकरण का परिचय देता है वही भक्त के लिए आशा का सबसे बड़ा संदेश है। वह सोचता है, दुर्वृत्तियों से घिरी हुई हमारे अन्तःकरण की भावना भले ही उन प्रभु तक न पहुँच सके किन्तु वे अपनी करुणा और सामर्थ्य से उसे अवश्य पा लेंगे। श्रीराम के श्रृंगार और अनुराग से भरे हुए यह चित्र भक्त को आश्वस्त करते हैं। उसे लगता है कि अनुराग करने योग्य तो एकमात्र श्रीराम ही हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना॥
× ×
सुनि कृपाल अति आरत बानी। एकनयन करि तजा भवानी॥
कीन्ह मोहबस द्रोह, जद्यपि तेहिकर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर सम॥

अर्थ—श्रीजानकी जी के चरणों से रक्त वह चला जानकर रघुनाथजी ने सींक के धनुष पर सींक के बाण का संधान किया।

हे पार्वती ! उसकी अत्यन्त व्याकुलता-भरी वाणी सुनकर प्रभु ने केवल एक नेत्र का बनाकर उसे छोड़ दिया। यद्यपि उसने मोह के कारण द्रोह किया था इसलिए वह मृत्युदण्ड का अधिकारी था, किन्तु प्रभु ने कृपाकर उसे छोड़ दिया। रघुबीर के समान कौन कृपालु होगा ?

जयन्त और रावण दो ही ऐसे पात्र हैं जिन्होंने जनकनंदिनी को उत्पीड़ित करने का प्रयास किया। किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जयन्त, दशग्रीव से भी बढ़कर अपराधी जान पड़ता है। रावण का मुख्य लक्ष्य रामभद्र को कष्ट पहुँचाना था, और इसके लिए उसके पास कुछ कारण विद्यमान थे। शूर्पणखा के विरूपीकरण और खर-दूषण, त्रिशिरा के संहार के माध्यम से प्रभु ने रावण को चुनौती दी थी, और रावण ने उसे स्वीकार कर लिया। बदले में वह वैदेही का अपहरण कर लेता है। उन्हें ले जाकर अशोक वाटिका में बंदिनी बना लेता है। किन्तु जयन्त के द्वारा श्री जगज्जननी जानकी पर किया जाने वाला प्रहार सर्वथा अकारण था। इसलिए उसके अपराध का गुरुत्व मानस के किसी भी पात्र की तुलना में अधिक प्रतीत होता है। सबसे पहले जयन्त द्वारा

किये जाने वाले प्रहार की पृष्ठभूमि पर विचार कर लेना चाहिए।

कल-कल निनादिनी मंदाकिनी के पावन तट पर राघव प्राणवल्लभा विदेहजा के साथ विराजमान थे। कुछ ही क्षण पहले कौशलेन्द्र ने पुष्पाभूषणों से प्रियतमा सीता का शृंगार किया था। रंग-बिरंगी धातुओं से मुखमण्डल पर पत्रावली का निर्माण करते हुए जब उन्होंने विदेहनंदिनी के माथे पर तिलक लगाना प्रारम्भ किया तो वनस्थली भी पुलकित हो उठी। आनन्द और उल्लास के इन अनुपम क्षणों की स्मृति आज भी रसिकों के हृदय को रसप्लावित बना देती है। गीतावली रामायण में तुलसी ने इसका एक अनुपम चित्र प्रस्तुत किया है :

फटिकसिला मृदु बिशाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि-तटनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर साम गान की॥
मधुकर-पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर-झर,
जल-कन घन-छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की॥
बिरचित तहँ परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लव-दल रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम-पान की॥
सिय अंग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।
माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

रस और उल्लास के इन अनुपम क्षणों में जयन्त किशोरीजी के पावन चरणों में चोंच से प्रहार कर देता है। इन्द्रपुत्र जयन्त उस समय काक के रूप में था। प्रियाजी के सुकोमल पादपल्लव से रक्त की धारा प्रवाहित हो उठी। जयन्त के अन्तःकरण में दुस्संकल्प क्यों आया इसका सांकेतिक स्पष्टीकरण गोस्वामीजी एक पंक्ति में देते हैं। "सठ चाहत रघुपति बल देखा" पूरा शब्द-चित्र इस प्रकार से है :

एक बार चुनि कुसुम सुहाए।
निज कर भूषन राम बनाए॥

सीतहि पहिराए प्रभु सादर ।
बैठे फटिक-सिला पर सुंदर ॥
सुरपति सुत धरि बायस बेषा ।
सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा ।
महा मंदमति पावन चाहा ॥
सीता चरन चोंच हति भागा ।
मूढ़ मंद-मति कारन कागा ॥

लगता है जयन्त अपने पिता इन्द्र की सभा में चलने वाली श्रीराम के विषय की चर्चाओं से प्रेरित होकर ही चित्रकूट आया था। जब से प्रभु ने चित्रकूट की पुनीत वनस्थली को अपने पावन निवास से धन्य बनाया तब से वह देवलोक-वासियों के आकर्षण का केन्द्र बन गई। और यह स्वाभाविक भी था।

अयोध्या के राज-सिंहासन के स्थान पर वन की कंटकाकीर्ण भूमि में ले आने वाले षड्यन्त्रकारी देवता ही तो थे। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही उन्होंने यह योजना बनायी थी। इसीलिए उन्हें अपना यह कर्त्तव्य प्रतीत होता था कि प्रभु की सेवा के लिए चित्रकूट में अधिकाधिक सुखद वातावरण प्रस्तुत किया जा सके। प्रारम्भ में प्रभु के निवास के लिए पर्णकुटी का निर्माण भी देवताओं के द्वारा हुआ था :

रमेउ राम मनु देवन्ह जाना ।
चले सहित सुरथपति परधाना ॥
कोल किरात बेष सब आए ।
रचे परन तृन सदन सुहाए ॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला ।
एक ललित लघु एक बिसाला ॥
लखन-जानकी-सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत ।
सोह मदनु मुनि बेष जनु, रति-रितुराजि-समेत ॥

राघव के प्रति देवताओं के इस अमित आकर्षण ने जयन्त को ईर्ष्यालु बना दिया हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं है। महाराज श्रीदशरथ देवराज इन्द्र के मित्र थे। उनके आगमन पर इंद्र उठकर स्वागत करता हुआ अपने ही सिंहासन के आधे भाग में उन्हें बैठाता था :

आगे होइ जेहि सुरपति लेई।
अरध सिंहासन आसन देई॥

देवराज का पुत्र जयन्त श्रीराम को स्वयं अपने साम्य में देखता यह स्वाभाविक ही था। उसे लगता था कि यदि राम अयोध्या के स्वामी के पुत्र हैं तो मैं देवराज का पुत्र हूँ। यदि दशरथ मरण-धर्मा हैं तो मेरे पिता अमर हैं। यदि रामभद्र अयोध्या के नागरिकों के आकर्षण के केन्द्र थे, तो जयन्त स्वर्गस्थ देवताओं की आँख का तारा था। किन्तु चित्रकूट में श्रीराम के आते ही स्थिति में परिवर्तन हो गया। देवताओं की दृष्टि राम की ओर आकृष्ट हो गई। जयन्त को इससे स्वयं की उपेक्षा प्रतीत हुई। वह सोचने लगा, "दशरथ-पुत्र में ऐसा क्या है कि जिससे सारा सुर-समाज आकृष्ट होकर उन्हें ही प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा है?"

राम साक्षात् ईश्वर के अवतार हैं इसे वह सहज मन से स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। इसी मन:स्थिति में वह चित्रकूट में श्रीराम को देखने के लिए गया। वह चित्रकूट ऐसे क्षणों में पहुंचा जब श्रीरामभद्र पुष्प के आभूषणों से प्रिया का शृंगार कर रहे थे। यह दृश्य उसके लिए नया नहीं था। स्वर्ग के नंदन और चित्ररथ वन में विहार करने वाले देवता शृंगार के इन क्रिया-कलापों में ही तो संलग्न रहते हैं। अत: राघव की इन शृंगार-भरी लीलाओं ने जयन्त की भ्रांति को और भी बढ़ा दिया। उसे प्रभु एक साधारण भोगी राजकुमार प्रतीत हुए। दूसरी ओर उसे यह भी स्मरण था कि इन्द्र सहित सारे देवता प्रभु को ईश्वर का अवतार मानते हैं। देवताओं की इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए ही जयन्त ने मैथिली के चरणों में प्रहार किया। देवताओं की दृष्टि में सीता साक्षात् आदिशक्ति थीं। इसलिए उनके चरणों में प्रहार करते हुए मानों जयन्त ने श्रीराम की शक्ति को ही चुनौती दी थी। वह इसके द्वारा अपनी निर्भयता का परिचय देना चाहता था। काक-वेष धारण करने के पीछे भगवान् राम की सर्वज्ञता को मिथ्या सिद्ध करने का मनोभाव कार्य कर रहा था। उसे विश्वास था कि इस प्रहार को राम साधारण पक्षी की चेष्टा मानकर मौन रह जायेंगे। और तब वह स्वर्ग में लौटकर राघव की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का उपहास कर सकेगा। वह सारे देवताओं को यह बता देना चाहता था कि उन लोगों ने भ्रांति के कारण ही एक साधारण राजकुमार को ईश्वर मान लिया है।

लीला-तत्त्व को न जान पाने के कारण ही उससे ऐसी अविवेक-भरी चेष्टा हुई। अभिनेता की सफलता इसी में मानी जाती है कि वह जिस वेश को स्वीकार करे रंगमंच पर उसे पूरी तरह साकार कर दे। प्रभु की लीला में यह सार्थकता आदि से अन्त तक विद्यमान है। नाटक के दर्शक की सार्थकता यही है कि वह

लीलारस का उपभोग करता हुआ भी स्वयं नाट्यमंच के क्रिया-कलापों में भाग न ले। किन्तु जयन्त ने न केवल अभिनय को यथार्थ मान लिया अपितु नाटक के क्रिया-कलाप में हस्तक्षेप कर बैठा।

प्रभु उसकी धृष्टता का समुचित सांकेतिक उत्तर प्रदान करते हैं। उन्होंने श्रीकिशोरी जी के चरणों से रक्त प्रवाहित होते हुए देखा। तत्काल वे सींक द्वारा निर्मित धनुष पर सींक के ही बाण का संधान करते हैं। शृंगार की रसमयी वेला में वीरताव्यंजक धनुष और बाण पास में न रहा हो यह स्वाभाविक ही था। किन्तु यह धनुष और बाण तात्त्विक दृष्टि से है क्या ? रामचरितमानस में इसे काल का प्रतीक माना गया है :

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदण्ड॥

इस धनुष की स्मृति दिलाकर तुलसी अपने मन को सावधान करते हैं। "अरे मन ! तू सावधान हो जा। काल ही प्रभु का धनुष है और लव, निमेष, परमाणु, युग आदि बाण के सदृश उस धनुष से संचालित होते रहते हैं। यदि तूने प्रभु की उपेक्षा की तो यह बाण किसी भी क्षण तेरा विनाश कर सकता है।" बहिरंग धनुष और बाण की दूरी से जयन्त और भी निश्चिन्त था। उसे विश्वास था कि रक्त की धारा प्रवाहित होने पर भी राम उसे दण्डित नहीं कर सकते हैं। उसे यह कहाँ ज्ञात था कि ईश्वर को अपने संकल्प की पूर्ति के लिए स्थूल उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। उसका संकल्प ही समग्र सृष्टि के सृजन, पालन और संहार में समर्थ है। यदि वह बाह्य उपकरणों को स्वीकार करता है तो उसका उद्देश्य भी मानवोचित लीला का प्रकटीकरण मात्र है। वह अपने संकल्प से ही व्यक्ति अथवा वस्तु में सामर्थ्य की सृष्टि करता है। आज उसने अपने संकल्प के द्वारा एक साधारण तृण में ही काल-शक्ति का संचार कर दिया। सींक के द्वारा धनुष और बाण का निर्माण प्रतीकात्मक संकेतों को प्रकट करता है। विदेहजा के शृंगार के लिए प्रभु ने वन में जिन वस्तुओं का संग्रह किया था, उनमें सुमन और सींक भी थीं। कुसुमस्तवक को आभूषणों का रूप प्रदान करने के लिए प्रभु ने सींकों का उपयोग किया था। धनुष और बाण के रूप में प्रयुक्त होने वाली सींक भी उन्हीं में से अवशिष्ट रह गयी थी। वज्रधारी इन्द्र का पुत्र आज तृण से भी तुच्छ बन चुका था। और तृण ने वज्र का रूप धारण कर प्रभु की उस अतुलित सामर्थ्य की ओर इंगित किया, जिसका वर्णन मानस की इस पंक्ति में किया गया है :

तृण से कुलिस कुलिस तृण करई।
तासु दूत पन कहु किमि टरई॥

इस सींकास्त्र के प्रयोग में प्रभु की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता दोनों का ही परिचय प्राप्त होता है। भयभीत जयन्त स्वर्ग की ओर भागता है। प्रभु का अमोघ बाण उसके पीछे था। जयन्त कौए के रूप का परित्याग कर अपने देवरूप में लौट जाता है। उसे आशा थी कि देवराज अपने पुत्र की रक्षा करेंगे। किन्तु इन्द्र एक क्षण के लिए भी उसे स्वर्ग में रखने के लिए प्रस्तुत नहीं था :

धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं।
राम बिमुख राखा तेहि नाहीं॥

इस प्रक्रिया में जयन्त का अविवेक सामने आ जाता है। वह प्रभु के समक्ष कपट-वेष में जाता है। और पिता के समक्ष 'निज रूप' ग्रहण कर लेता है। प्रभु को कपट प्रिय नहीं है। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं :

निरमल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

कपट-वेष में तो वे अपने अनन्य भक्त हनुमान को भी हृदय से नहीं लगाते। यद्यपि श्रीआञ्जनेय प्रभु का परिचय प्राप्त करने के लिए ही कपट-वेष बनाकर उनके सन्निकट गये थे, किन्तु प्रभु ने उन्हें हृदय से तभी लगाया जब वे निज रूप में परिवर्तित हो जाते हैं :

अस कहि परेउ चरन अकुलाई।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा।
निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

किन्तु व्यावहारिक विश्व के लोग 'निज रूप' को स्वीकार करने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं होते हैं। उन्हें व्यक्ति वैसा नहीं चाहिए जैसा है अपितु उनके लिए उस प्रकार के व्यक्ति की आवश्यकता है जैसा वे चाहते हैं। व्यावहारिक सफलता के लिए व्यक्ति को स्वयं को छिपाने की कला सीखनी पड़ती है। इस तरह मिथ्याचार ही व्यावहारिकता का पर्यायवाची बन जाता है। इसी मनोभाव को गोस्वामीजी ने इस पंक्ति में प्रकट किया है :

झूठइ लेना झूठइ देना।
झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलइ मधुर बचन जिमि मोरा।
खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥

संसार में व्यवहार का मुख्य आधार स्वार्थ है। लाभ-हानि का गणित करके ही मनुष्य दूसरे से सम्बन्ध जोड़ना चाहता है :

स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

यहाँ तक कि माता और पिता के सम्बन्ध को भी सर्वथा स्वार्थमुक्त स्वीकार नहीं किया गया है :

अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ।
मातु-पिता स्वारथ रत ओऊ॥

यद्यपि माता और पिता के वात्सल्य की बड़ी सराहना की जाती है, फिर भी वह सापेक्ष सत्य ही है। यह वात्सल्य जहाँ तक स्वभाव से सम्बन्धित है व्यक्ति की बाध्यता ही है। ममता और अपनत्व के कारण माता-पिता पुत्र की अनेक त्रुटियों को सह लेते हैं। किन्तु इस सहिष्णुता की भी एक सीमा होती है। कभी ऐसी परिस्थिति आती है जब माता-पिता का वात्सल्य स्रोत भी सूख जाता है और वे अपने पुत्र के परित्याग के लिए बाध्य होते हैं। लोक और परलोक दोनों प्रकार की हानियों की आशंका व्यक्ति के स्वार्थ को नग्न बना देती है। जयन्त ईश्वर को पहचानने का प्रयास कर रहा था किन्तु कौतुकी ईश्वर ने उसके समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि दीर्घकाल तक वह अपने जिन माता-पिता के निकट था उन्हें भी सही अर्थों में पहचान नहीं पाया था। उसने सर्वदा शची और इन्द्र के वात्सल्य का ही साक्षात्कार किया था। न जाने कितने अपराधों के लिए क्षमा प्राप्त कर चुका था। अतः जयन्त को विश्वास था कि वही अपनत्व उसे आज भी प्राप्त होगा। किन्तु इन्द्र के समक्ष आज सर्वनाश का भय उपस्थित था। जयन्त की रक्षा के प्रयास में कहीं मैं स्वर्ग का सारा वैभव न खो बैठूँ यह आशंका उसे इतना संत्रस्त कर देती है कि वह सुरक्षा की बात दूर अपितु जयन्त से वार्तालाप करना भी पसन्द नहीं करता। फिर भी जयन्त पूरी तरह निराश नहीं हुआ। उसे ब्रह्मा और शिव की स्मृति हो आई और वह उनसे संरक्षण पाने के लिए उनके धामों की ओर प्रस्थान करता है। किन्तु वहाँ भी वही इतिहास दोहराया गया :

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।
फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥
काहूँ बैठन कहा न ओही।
राखि को सकइ राम कर द्रोही॥

ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं और भगवान् शंकर तो घनीभूत विश्वास ही हैं। जयन्त को जब श्रीराम के स्वरूप के विषय में भ्रान्ति हुई थी यदि तभी वह विवेक और विश्वास का आश्रय लेता तो उसे आज इस स्थिति में न पड़ना पड़ता। पर उस समय उसने विवेक और विश्वास के स्थान पर अहंकार का आश्रय लिया। आज जब उसका दुष्परिणाम सामने आया तब वह इनके आश्रय में दौड़ा आता है। किन्तु इन दोनों के द्वारा भी उसे कोई प्रश्रय प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रसंग में धर्म को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग सामने आता है। शरणागत का परि-त्राण एक महानतम धर्म बताया गया है। मानस में तो उसे इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि शरणागत का परित्याग करने वाले का मुख देखना भी पाप माना गया है :

शरणागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जयन्त को शरण में न लेकर क्या ब्रह्मा और शंकर उस सिद्धान्त की सीमा में नहीं आ जाते जिसका उल्लेख ऊपर के दोहे में किया गया है? इस सन्दर्भ में दोहे में आया हुआ एक वाक्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है "निज अनहित अनुमानि"। इसका तात्पर्य है कि यदि अपने अहित की आशंका से शरणागत का परित्याग किया जाये तभी वह अधर्म की कोटि में आता है। यहाँ पर जयन्त का त्याग स्वयं उसके हित के लिए ही किया गया है। इसका उद्देश्य जयन्त को भगवान् राम की शरण में भेजना था। ईश्वर की सच्ची शरणागति तभी होती है जब व्यक्ति के लिए विश्व में कोई आश्रय न रह जाये। स्वयं में समग्र असामर्थ्य की अनुभूति के पश्चात् ईश्वर की सर्वसमर्थता पर विश्वास ही शरणागति की समग्रता तक पहुंचाता है। जयन्त को इस स्थिति तक पहुंचाने के लिए ही ब्रह्मा और शंकर ने इस प्रक्रिया का आश्रय लिया था। अन्य प्रसंगों में भी इस प्रक्रिया का संकेत प्राप्त होता है। रावण को शरणागति का उपदेश देते हुए श्रीहनुमान जी उसे यह स्पष्ट बता देते हैं कि भगवद् विमुख होने पर शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी उसकी रक्षा नहीं कर सकेंगे :

शंकर सहस विष्णु, अज तोही।
राखि न सकइ राम कर द्रोही॥

ठीक इसी प्रकार की चेतावनी अंगद द्वारा भी रावण को दी जाती है :

जौं खल भइसि राम कर द्रोही।
ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥

इस प्रकार की चेतावनी दिये जाने पर भी रावण में शरणागति की भावना का उदय नहीं होता। क्योंकि उसका अहंकार इतना प्रबल था कि वह स्वयं किसी की शरण में जाने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। अपने बल के प्रति उसका आत्मविश्वास कभी समाप्त नहीं हुआ। श्रीराम को सर्वसमर्थ भी वह कभी स्वीकार नहीं कर सका। विशेष रूप से मारीच के पीछे धनुष-बाण लेकर दौड़ते हुए श्रीराम के चित्र ने उनकी सामर्थ्य के प्रति उसके विश्वास को डिगा दिया। उसे लगने लगा कि मायामृग को न पहचानकर उसके पीछे बाण लेकर भागने वाला न तो सर्वज्ञ ही है और न सर्वशक्तिमान् ही। इस दृष्टि से जयन्त सौभाग्यशाली था।

जहाँ मारीच के पीछे भगवान् राम स्वयं दौड़े थे वहाँ जयन्त के पीछे प्रभु ने केवल अपने बाण को हीं लगा दिया था। उस बाण ने ब्रह्मलोक और शिवलोक तक पीछा कर प्रभु की अतुलित सामर्थ्य का परिचय दिया। ब्रह्मा और शिव ने भी शरण में न लेकर प्रभु की पूर्णता का संकेत जयन्त को दे दिया। फिर देवर्षि नारद-जैसे संत के द्वारा उसकी भ्रान्ति का निवारण हो गया। और वह प्रभु की शरणागति ग्रहण कर सका। पाप और पुण्य का पार्थक्य इस प्रसंग के द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है। यद्यपि रावण और जयन्त दोनों ही प्रभु को प्रारम्भ में पहचान नहीं पाते और दोनों के ही द्वारा किशोरीजी को कष्ट प्राप्त होता है। किन्तु जहाँ जयन्त को एक आँख की बलि देकर ही छुट्टी प्राप्त हो गयी वहाँ रावण को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। जहाँ संशय के साथ अभिमान का अभाव होता है वहाँ व्यक्ति शीघ्र ही सत्य को हृदयंगम कर लेता है। किन्तु जहाँ संशयालु स्वयं को ही सबसे बड़ा बुद्धिमान मानता है वहाँ कल्याण की सम्भावना नहीं है। रावण की मनःस्थिति इसी प्रकार की थी।

देवर्षि के द्वारा प्रेरित जयन्त प्रभु के चरणों में लौट आता है। इसके बाद की प्रक्रिया को मानस में दो रूपों में रखा गया है। जहाँ मन्दोदरी इसे "आँख गहि फोरा" कहती है वहाँ भगवान् शंकर उसे "एक नयन कर तजा भवानी" कहते हैं :

शिव : **सुनि कृपाल अति आरत बानी।**
एक नयन करि तजा भवानी॥

× ×

मन्दोदरी : सुरपति सुत जानइ बल थोरा।
राखा जिअत आँख गहि फोरा॥

प्रस्तुत प्रसंग में दण्ड और करुणा के समन्वय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। जयन्त द्वारा अपनी त्रुटि स्वीकार करते हुए शरणागत हो जाने पर उसे दण्ड दिया जाना चाहिए या नहीं ? यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। प्रभु स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेरे सम्मुख आते ही जीव के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं :

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू।
आए सरन तजउँ नहि ताहू॥
× × ×
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

फिर जयन्त के अपराध को इतना अक्षम्य क्यों माना गया कि एक नेत्र फोड़ने की आवश्यकता का अनुभव किया गया ? इसका एक उत्तर यह है कि सींक के द्वारा निर्मित बाण पर प्रभु ने ब्रह्मास्त्र का आह्वान किया था। ब्रह्मास्त्र की यह मर्यादा मानी जाती है कि वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। मानस में भी इसके संकेत प्राप्त होते हैं। मेघनाद द्वारा आञ्जनेय पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किये जाने पर उनके सामने कठिन समस्या आ गयी थी। हनुमान सारे अस्त्रों से अवध्य थे। ब्रह्मास्त्र भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता था किन्तु उदार चरित्र हनुमान ने मूर्च्छा को स्वीकार कर लिया। विशेषाधिकार प्राप्त होने पर भी वे ब्रह्मा की मर्यादा को विनष्ट करना उचित नहीं मानते :

ब्रह्म अस्त्र तेहि साँधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्म सर मानउँ महिमा मिटइ अपार॥

प्रभु के समक्ष भी यही समस्या विद्यमान थी। एक ओर शरणागति और करुणा की मर्यादा थी तो दूसरी ओर ब्रह्मास्त्र का गौरव। प्रभु अपनी मर्यादा की अपेक्षा दूसरों की मर्यादा के संरक्षण को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रस्तुत प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है। शरणागति की मर्यादा के संरक्षण के लिए जयन्त के निकृष्टतम अपराध को भी क्षमा कर देते हैं। किन्तु ब्रह्मास्त्र की मर्यादा के लिए वे एक नेत्र का बलिदान कर देते हैं। इसे दण्ड और करुणा के सन्तुलन की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। अपराध किये जाने पर दण्ड की व्यवस्था का उद्देश्य केवल अपराधी को उसके कर्म का परिणाम देना मात्र ही नहीं है। इसके द्वारा समाज

के लोगों को चेतावनी भी प्राप्त होती है कि यदि वे भी अपराध करेंगे तो दण्ड से मुक्त नहीं हो सकते। दया का उद्देश्य अपराधी को त्रुटि परिमार्जन के लिए अवसर प्रदान करना है जिससे वह भविष्य में वही भूल दोहराने की भूल न करे। केवल दया का प्रयोग समाज के अन्य लोगों को अपराध के लिए प्रोत्साहित कर सकता है। मात्र दण्ड व्यक्ति को निराश बना देता है। भूतकाल में की गई त्रुटि यदि भविष्य की सम्भावनाओं को समाप्त कर दे तो यह व्यक्ति के प्रति निर्ममता का आचरण होगा। जहाँ जयन्त को दण्ड देकर प्रभु ने समाज के अन्य व्यक्तियों को चेतावनी दी वहाँ मृत्युदण्ड न देकर उन्होंने जयन्त को यह सुअवसर प्रदान किया कि वह भविष्य में अपने अपराध का परिमार्जन कर सके। इस तरह दण्ड और करुणा का सन्तुलित प्रयोग करते हुए व्यक्ति और समाज के कल्याण का समन्वय-सूत्र प्रस्तुत किया गया है।

भगवान् शंकर की वाक्यावली में इसके आध्यात्मिक स्वरूप की ओर भी संकेत प्राप्त होता है। बहिरंग शरीर में व्यक्ति को दो नेत्र प्राप्त हैं। शारीरिक दृष्टि से इसका जो भी उपयोग हो, मानसिक अर्थों में यह व्यक्ति की द्वैत दृष्टि का भी परिचायक है।

वह अपनों और परायों को सर्वदा अलग दृष्टि से देखता है। अपनों के प्रति उसके अन्तःकरण में राग होता है, तो परायों के प्रति उपेक्षा अथवा द्वेष की वृत्ति विद्यमान रहती है। यह द्वैत दृष्टि ही माया का परिणाम है। प्रभु के ही शब्दों में मैं, मेरा और तू, तेरा माया का प्रतीक है :

मैं अरु मोर तोर तै माया।
जेहि बस कीन्हेसि जीव निकाया॥

प्रभु जब कृपा करते हैं तभी व्यक्ति के जीवन में भेदबुद्धि का विनाश होता है :

तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेदबुद्धि कब बिसरावहिंगे।

बहिरंग दृष्टि से भगवान् राम और श्रीसीता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, पर तात्त्विक दृष्टि से वे दोनों सर्वथा अभिन्न हैं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

जयन्त दोनों की तात्त्विक अभिन्नता से परिचित न होने के कारण ही उसे भौतिक श्रृंगार और वासना के रूप में देखता है। इसीलिए वह जगज्जननी के

चरणों में प्रहार करने की मूर्खता कर बैठता है। शरणागत होने पर उसकी द्वैत दृष्टि का विनाश हो जाता है। एक नयन के रूप में मानों केवल विवेक की दृष्टि ही अवशिष्ट रह जाती है। इसलिए भगवान् शंकर की दृष्टि में यह दण्ड, दण्ड न होकर प्रभु की करुणा का ही परिचायक है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना ।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना ।
नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥

अर्थ—पति चाहे वृद्ध, रोगी, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बधिर, क्रोधी और अत्यन्त दीन ही क्यों न हो तो भी ऐसे पति का अपमान करने से स्त्री यमलोक में अनेक प्रकार के दुःख भोगती है।

नारी और पुरुषों की समानता और स्वातन्त्र्य के इस युग में इन पंक्तियों के प्रति आधुनिक नारियों का आक्रोश आश्चर्यजनक नहीं है। विशेष रूप से इन पंक्तियों से बहुप्रचारित इस तथ्य से बल प्राप्त होता है कि तुलसीदास नारी-विरोधी थे। मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि तुलसीदास पुरुष और नारी की समानता के समर्थक थे। पर जिस आवेश और असहिष्णुता से उन्हें नारी-विरोधी सिद्ध किया जाता है वह यथार्थ से सर्वथा दूर है। उनकी मान्यताओं के पीछे जो विचार विद्यमान हैं उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

पातिव्रत धर्म पर सभी सन्दर्भों से अलग रहकर विचार नहीं किया जाना चाहिए। पातिव्रत धर्म में आया हुआ 'व्रत' शब्द इतना व्यापक है कि उसके अर्थ को सही रूप में समझ लेने के बाद पातिव्रत धर्म पर किये जाने वाले आक्रोश की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। हिन्दू धर्म में अनगिनत व्रत विद्यमान हैं। व्रत का वास्तविक तात्पर्य है कुछ नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने का निश्चय। वे

निश्चय सर्वथा भिन्न प्रकार के भी हो सकते हैं। यह व्रत शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी प्रकार के हो सकते हैं। शुद्ध शारीरिक धरातल से लेकर बौद्धिकता की चरम अभिव्यक्ति व्रत में देखी जा सकती है। कुछ व्रत ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध भोजन-सम्बन्धी पदार्थों से है। देश, काल के सन्दर्भ से इनकी पवित्रता, अपवित्रता का मापदण्ड भी बदलता रहता है। साधारणतया चावल को अत्यन्त पवित्र धान्य माना जाता है। हविष्य, चरु, पायस, सर्वत्र उसका प्रयोग किया जाता है। सुस्वादु तो वह है ही। किन्तु एकादशी व्रत के विधान में चावल सर्वथा त्याज्य माना जाता है। यदि समग्र अन्न का परित्याग न कर सके तो कम-से-कम चावल का तो परित्याग कर ही देना चाहिए, ऐसा शास्त्रीय विधान है। किसी व्रत में नमक का त्याग किया जाता है तो किसी में मिष्टान्न का। व्रत के पीछे मुख्य भावना यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने निश्चय पर दृढ़ रहता है तब उसकी संकल्प-शक्ति में ऐसी दृढ़ता आती है कि उसका प्रयोग व्रती अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कर सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि व्रत से उपलब्ध शक्ति का व्यक्ति दुरुपयोग करने लगे, इसके अनगिनत दृष्टान्त पुराण और इतिहास में उपलब्ध हैं। ऐसी परिस्थिति में अवतार और महापुरुषों ने व्रत को विनष्ट करने में भी संकोच नहीं किया। पातिव्रत धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। मानस के प्रारम्भ में ही सती वृन्दा का उल्लेख किया गया है।

यशस्विनी वृन्दा उस व्रत के प्रभाव से अद्भुत क्षमता प्राप्त कर लेती है। जालन्धर घोर अत्याचारी और अनाचारी है। वृन्दा को पातिव्रत से जो क्षमता प्राप्त होती है वह जालन्धर की देन नहीं थी, वह तो वृन्दा के अपने ही संकल्प आर निष्ठा का परिणाम था। अपितु इसके प्रतिकूल वृन्दा के द्वारा जालन्धर को शक्ति प्राप्त होती है :

एक कलप सुर देखि दुखारे ।
समर जलन्धर सन सब हारे ॥
शम्भु कीन्ह संग्राम अपारा ।
दनुज महाबल मरई न मारा ॥
परम सती असुराधिप नारी ।
तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥

लोक-कल्याण के लिए भगवान् विष्णु वृन्दा के व्रत को विनष्ट कर देते हैं :

छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥

इससे स्पष्ट है कि व्रत शक्ति प्राप्त करने की एक प्रक्रिया-मात्र है। भौतिक पदार्थों से ऊर्जा के उत्पन्न करने की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला कोई भी वैज्ञानिक उसे साकार रूप दे सकता है। उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग उस व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर है। व्रत वह प्रक्रिया है जिससे मानसिक शक्ति का प्रकटीकरण होता है। व्रतों में यदि पातिव्रत को अधिक महत्त्व उपलब्ध हुआ तो इसके पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक कारण विद्यमान हैं। पति और पत्नी का सम्बन्ध सामाजिक सुरक्षा का मुख्य आधार है। इसमें व्यवधान पड़ने पर सारे सामाजिक ढाँचे के विनष्ट होने का भय है। अन्य व्रत जहाँ सीमित काल के लिए स्वीकार किये जाते हैं, वहाँ पातिव्रत समग्र जीवन के लिए स्वीकार किया जाता है। अन्य व्रतों में जहाँ निष्ठा और नियम का आधार पदार्थ और मूर्ति आदि होते हैं वहाँ पातिव्रत का केन्द्र चैतन्य व्यक्ति है। पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक राग होता है। इसलिए इस व्रत में अन्य व्रतों की भाँति मन को मोड़ना नहीं पड़ता। मन के सहज प्रवाह को ही यहाँ उदात्त रूप देने की चेष्टा की जाती है।

जब व्यक्ति व्रत स्वीकार करता है तब उसे स्वयं अपनी ओर से ही उसका निर्वाह करना है। दृष्टान्त के रूप में मूर्ति-पूजा को ले सकते हैं। मूर्ति में जहाँ आकर्षण होता है वहाँ उसमें अनेक कमियाँ भी होती हैं। मूर्ति से चैतन्य व्यवहार की आशा नहीं की जाती। यद्यपि स्वयं पूजा करने वाले को मूर्ति से चैतन्य व्यक्ति के समान ही व्यवहार करना पड़ता है। स्वयं चैतन्य की तरह व्यवहार करने पर भी बदले में उधर से कोई प्रतिदान न पाने पर भी भावुक भक्त मूर्ति की आराधना बड़े अनुराग से करता है। उसकी दृष्टि में एक-न-एक दिन मूर्ति से चैतन्य का प्राकट्य होता ही है। उसके पहले की प्रक्रिया को वह अपनी साधना की परीक्षा के रूप में स्वीकार करता है।

पुष्पवाटिका-प्रसंग में इसकी झाँकी प्राप्त होती है। मिथिलेशनंदिनी के द्वारा वहाँ दो बार पार्वती के पूजन का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम बार वे पुष्पवाटिका में प्रविष्ट होते ही सरोवर में स्नान करने के बाद पार्वती मन्दिर में पूजन के लिए पधारती हैं :

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता ।
गई मुदित मन गौरि निकेता ॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा ।
निज अनुरूप सुभग बरु मागा ॥

वे अपने अनुरूप सुन्दर वर की याचना करती हैं। किन्तु उधर से कोई

प्रत्युत्तर प्राप्त नहीं होता। वे इससे निराश नहीं होती हैं। श्रीराम की अनुपम रूप-माधुरी का दर्शन करने के पश्चात् वे पुन: भगवती उमा के मन्दिर में आती हैं। इस वार उन्हें वह सब उपलब्ध हो गया जिसे वह पाना चाहती थीं :

बिनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसुकानी ॥
सादर सियँ प्रसादु सिर धरेऊ।
बोली गौरि हरषु हियँ भरेऊ ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी।
पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥
नारद-बचन सदा सुचि साचा।
सो बरु मिलिहि जाहिं मन राचा ॥
मन जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुन्दर साँवरो।
करुना-निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो ॥
एहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हियँ हरषीं अली ॥
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली ॥

यदि पति की आराधना भी भगवद्दृष्टि से की जाती है तो वहाँ भी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेना होगा। मूर्ति में दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष दोष साधक की भावना को प्रभावित नहीं कर पाते। इसी प्रकार की भावना पातिव्रत धर्म में भी स्वीकार की जाती है।

पातिव्रत धर्म में ही क्यों, जीवन के किसी भी क्षेत्र में निष्ठा के आधार पर चलने वाला व्यक्ति इस प्रक्रिया को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। दृष्टान्त के लिए देशभक्ति को ही ले लें। क्या देशभक्ति का आधार भूमि की उर्वरा-शक्ति होती है ? क्या अपने देश की पथरीली भूमि के स्थान पर कोई देशभक्त दूसरे देश की शस्यश्यामला भूमि को नमन कर सकता है ? स्वर्णमयी लंका को जीतने के पश्चात् भी भगवान् राम अयोध्या पहुँचने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। वे भावुकता-भरे स्वर में कह उठते हैं—भाई लक्ष्मण ! भले ही लंका अयोध्या की अपेक्षा अधिक वैभवशालिनी हो किन्तु यह मुझे आकृष्ट नहीं कर पाती। माँ और जन्मभूमि स्वर्ग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है :

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननि जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

निष्ठा का आधार गुण-दोष नहीं हो सकता। निष्ठा व्यापार नहीं है। "अंध

बधिर क्रोधी अति दीना" का तात्पर्य यह नहीं है कि इसके द्वारा तुलसी इस प्रकार के विवाह का समर्थन करते हैं पर अपवाद के रूप में ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं। विवाह के पहले योग्य पिता अपनी पुत्री के लिए सद्‌गुण सम्पन्न वर खोजने की ही चेष्टा करता है किन्तु विवाह के पश्चात् भी तो वर में वे दोष आ सकते हैं जिनका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है। ऐसी स्थिति में कन्या का क्या कर्त्तव्य है ? विपरीत स्थिति में यदि वह स्वयं की आकांक्षा और निष्ठा को परिवर्तित करती रहे तो उसका जीवन हवा में बहते रहने वाले तृण के समान तुच्छ सिद्ध होगा।

आधुनिकाओं को उपर्युक्त पंक्तियों पर इतना आक्रोश इसलिए भी है कि उन्हें यह भ्रम हो गया है कि यह सारा धर्म केवल नारी के लिए ही है और पुरुष पूरी तरह से स्वतन्त्र है। इसमें संदेह नहीं कि पुरुष जाति ने इस सिद्धान्त का दुरुपयोग किया है। इसलिए उसके विरुद्ध विद्रोह आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु सिद्धान्त का दार्शनिक आधार इससे सर्वथा भिन्न है। पातिव्रत के समान ही पत्नीव्रत भी एक महान् धर्म है। दोनों ओर श्रेष्ठता का मापदण्ड भी एक ही है। यदि उत्तम कोटि की पतिव्रता स्वप्न में भी परपुरुष की ओर आकृष्ट नहीं होती है तो उत्तम पुरुष भी स्वप्न में परस्त्री का दर्शन नहीं करता है :

उत्तम के अस बस मन माहीं ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ।।

× ×

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी ।
जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी ।।

इसलिए इन पंक्तियों को धर्म-सार के सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिए।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ।
प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

अर्थ—मुनि (सरभङ्ग) भगवान् में लीन नहीं हुए। उन्होंने प्रारम्भ में ही भेद-भक्ति का वरदान माँग लिया था।

मानस में भक्ति के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। "ईश्वर के प्रति अनुरक्ति ही भक्ति है।" "सा परानुरक्ति ईश्वरे।" भक्ति की इस परिभाषा को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। किन्तु ईश्वर के प्रति अनुरक्ति का स्वरूप क्या है ? इसका संक्षिप्त उत्तर सरल नहीं है। अनुरक्ति हृदय की भावना है। किन्तु यह भावना जिन व्यक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है वे सभी एक-जैसे नहीं होते। व्यक्ति-व्यक्ति में बाह्य साम्यताओं के साथ अनेक भेद विद्यमान होते हैं। भक्ति की विविधता का रहस्य भी यही है। एक ही विद्युत् शक्ति का व्यक्तीकरण अलग-अलग यन्त्रों के माध्यम से सर्वथा भिन्न रूप में होता है। बाह्य दृष्टि से वह अभिव्यक्ति सर्वथा विरोधी भी प्रतीत होती है। एक यन्त्र के माध्यम से वह ऊष्मा या ताप की सृष्टि करती है तो दूसरे यन्त्र से वह शीतलता बनकर प्रकट होती है। हृदय-यन्त्र की भिन्नता के कारण यह अनुरक्ति भी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न रूप में सामने आती है।

वन-पथ में जाते हुए श्रीराम का दर्शन करने वाले ग्रामीण जनों में सौंदर्य के प्रति महती आसक्ति का दर्शन होता है। किन्तु क्रियात्मक रूप में उनके आचरण

में भिन्नता है। कुछ सुन्दरता को एकटक निहारते हुए पथिक प्रभु के साथ दूर तक चले जाते हैं :

रामहि देखि एक अनुरागे।
चितवत चले जाहिं सँग लागे॥

किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो दर्शन के पश्चात् एक पग भी आगे नहीं बढ़ते हैं। जहाँ-के-तहाँ खड़े रह जाते हैं। वे भी सौन्दर्य-रस का पान कर रहे हैं पर उनकी पद्धति सर्वथा भिन्न है। उस अनुपम छबि को वे नेत्र-मार्ग से हृदय में ले आते हैं। उनकी आँखें मुँदी हुई हैं। पर वे अन्तर्देश में मनश्चक्षुओं से उसे निहार रहे हैं :

एक नयन मग छबि उर आनी।
होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥

यह अन्तःकरण की भिन्नता ही है जो उन्हें पृथक् पद्धति का आश्रय लेने के लिए प्रेरित करती है। भावना की दृष्टि से इनमें तारतम्य की भी स्थापना की जा सकती है। गोस्वामीजी इस विषय में मौन हैं। पर दोनों के लिए वे अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं। "चितवत चले जाहिं सँग लागे" को वे "अनुरागे" का परिणाम मानते है। इस पद्धति में विचार की रञ्च-मात्र उपस्थिति नहीं है। अन्तर्मुखता-जैसे योग और ध्यान से सम्बन्धित शब्दों का यहाँ प्रयोग भी नहीं है। वे शरीर और मन दोनों ही से राम को पाना चाहते हैं। इसमें मन दृष्टि का अनुगमन करता है। सगुण साकार ईश्वर स्थूल रूप में अभिव्यक्त होता है। वह अन्तर्यामी से बहिर्यामी बनता है। अतः बहिर्यामी को वे बाहर देखकर ही आनन्दित होते हैं। वे बहिर्यामी को अन्तर्यामी बनाकर क्यों देखें ?

दूसरे प्रकार की भावना में विचार के संस्कार विद्यमान हैं। वैराग्यवृत्ति भी चित्त में संस्कार-रूप में स्थित है। "राम ब्रह्म हैं, ईश्वर हैं। देह से ऊपर हैं, उन्हें देह से ऊपर उठकर ही पाया जा सकता है। बाहर देखने पर वियोग अवश्यम्भावी है। शाश्वत मिलन तो हृदय में ही होता है। वे बहिर्यामी प्रतीत होते हैं पर हैं वे अन्तर्यामी ही। उन्हें बाहर नहीं भीतर पाना होगा" ऐसे तर्क-वितर्क वहाँ प्रेरक रूप में विद्यमान हैं।

पहले प्रकार का भावुक जहाँ वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है वहाँ दूसरे में इसका अभाव है। पर अनुरागी हृदय वियोग से भागना भी तो नहीं चाहता। इस वियोग की पीड़ा में भी उसे रसानुभूति होती है। साहित्य में केवल संयोग या श्रृङ्गार ही तो रस नहीं है। करुण रस का स्थान उससे न्यून नहीं है। श्रृङ्गार को रसराज तो माना ही गया है पर "एकोरसः करुण एव" कहकर कुछ आचार्यों ने

करुणा को ही सर्वश्रेष्ठ रस का स्थान दिया है।

सरभङ्ग की भक्ति का नामकरण भेद-भक्ति के रूप में किया है। महाराज श्रीदशरथ में भी भक्ति का यही स्वरूप विद्यमान है। लंका के रणाङ्गण में रावण-वध के पश्चात् महाराज दशरथ का आगमन होता है। उनका अन्तःकरण वात्सल्य रस से ओतप्रोत है। आज भी वे राम को पुत्र-रूप में ही देखना चाहते हैं। प्रभु उनकी भावना का निर्वाह करते हैं। उठकर उनके चरणों में प्रणाम करते हैं। उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं :

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए।
तनय बिलोकि नयन जल छाए॥
अनुज सहित प्रभु बन्दन कीन्हा।
आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ।
जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥

विदा के क्षणों में श्रीराम दृष्टि निक्षेप से ज्ञान प्रदान करते हैं। उसका तात्कालिक प्रभाव भी पड़ता है। विदा की वेला में वे प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं :

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।
चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
× ×
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा।
दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

किन्तु यह ज्ञान क्षणिक था, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। ज्ञान का फल कैवल्य मुक्ति है। पर महाराज दशरथ को स्वर्ग जाना ही अभीष्ट है। प्रभु को प्रणाम करने के बाद वे स्वर्ग के लिए प्रस्थान करते हैं। इस विरोधाभास के परिहार के लिए भगवान् शंकर पार्वती से इसका कारण इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—पार्वती ! महाराज दशरथ को मुक्ति इसलिए प्राप्त नहीं होती है क्योंकि वे भेद-भक्ति के उपासक थे। सगुण उपासक मोक्ष नहीं लेते हैं अतः श्रीराम उन्हें भक्ति ही प्रदान करते हैं :

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो।
दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥

बार-बार करि प्रभुहि प्रनामा ।
दसरथ हरषि गए सुरधामा ॥

महाराज श्री का भेद-भक्ति का आग्रह अत्यन्त प्रवल था। प्रारम्भ में महारानी सतरूपा और मनु के रूप में उनकी साधना-पद्धति भले ही समान रही हो, साध्य के साक्षात्कार के बाद जब दोनों के द्वारा जो वर माँगे गये उसमें यही भेद विद्यमान है। सतरूपा विवेक-मिश्रित भक्ति चाहती हैं :

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ।

किन्तु महाराज अपने स्थान पर अविचल हैं। वे विवेक को पास भी नहीं फटकने देना चाहते हैं। यदि ईश्वर पुत्र बनकर आता है तो वे पूरी तरह उसे पुत्र-रूप में ही देखना चाहते हैं :

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी ।
अवर एक बिनती प्रभु मोरी ॥
सुत विषइक तव पद रति होऊ ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥

इसलिए लगता है लंका के रणक्षेत्र में दिया जाने वाला ज्ञान तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही था। महाराज दशरथ के लिए वियोग की स्थिति असह्य थी। अतः वियोग के पूर्व दिया जाने वाला ज्ञान केवल वियोगजन्य दुःख के निवारण के लिए ही था। और यह उद्देश्य पूरा भी हुआ। इसीलिए वे हर्षित होकर जा सके। "दसरथ हरषि गए सुरधामा" इसी ज्ञान का फल था। किन्तु अगले ही क्षण महाराज ने उस ज्ञान को दृढ़तापूर्वक लौटा दिया। उन्हें एकत्व की स्थिति अभीष्ट नहीं थी। वे जिस वात्सल्य रस की अनुभूति कर चुके थे उसी में डूबे रहना चाहते थे। यों राम अपने भक्तों को अनिच्छित मुक्ति देते हुए भी देखे जाते हैं :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद ।
संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुकुत गोसाईं ।
अनइच्छित आवइ बरिआई ॥

'अनइच्छित' और 'बरिआई' से यदि मुक्ति नहीं आ सकी तो इसका कारण सम्भवतः उतनी ही तीव्र अस्वीकृति का आग्रह होगा। कुछ लोगों को यदि भोजन

के समय आग्रहपूर्वक कोई वस्तु परोस दी जाये तो उसे वे संकोचपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो बलात् दे देने पर उसे निस्संकोच छोड़ देते हैं। महाराज ने प्रभु के द्वारा मुक्ति परोस दिये जाने पर भी उसे स्वीकार नहीं किया।

भेद-भक्ति हृदयप्रधान है वह "संयुत बिरति बिबेक" नहीं। साधारणतया भक्ति के सभी रूपों का श्रीगणेश तो भेदमूलक द्वैत से ही होता है। किन्तु यह भेद क्रमशः अभेद में ही परिणत हो जाता है। द्वैत मिटकर जहाँ अद्वैत का आगमन हुआ वहाँ उसे ज्ञानी भक्त की संज्ञा प्रदान की गई। गीता में "ज्ञानी त्वात्मैव मेमतम" ज्ञानी मेरी ही आत्मा है कहकर भगवान् कृष्ण ने इसकी सराहना की। मानस में भी "ज्ञानी प्रभुहि विशेष पिआरा" कहकर इसी मत का समर्थन किया गया है। किन्तु इनमें जिन चार प्रकार के भक्तों का विभाजन किया गया, उस श्रेणी में दशरथ और सरभङ्ग नहीं आते हैं। भेद-भक्ति इनसे सर्वथा भिन्न है। इसे भक्ति की शुद्ध रसवादी परम्परा कह सकते हैं। ज्ञान-मिश्रा भक्ति तत्त्वप्रधान है। तत्त्व सर्वथा स्वतंत्र है। वह कर्त्ता की भावना से परिवर्तित नहीं होता। किन्तु रसवादी परम्परा में कर्त्ता के रसानुभूति की प्रधानता है। उसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है। किसी को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट लगती है इसका सम्बन्ध विचार से हो भी नहीं सकता है। परम प्रेममयी गोपियाँ भी भेद-भक्ति की आग्रही हैं। उद्धव का योग, ज्ञान और अभेदवाद उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। वे उद्धव के तर्कसङ्गत उपदेश को "मन माने की बात" कहकर काट देती हैं। उनका सीधा आग्रह रसिक सूर की भाषा में अभिव्यक्त हुआ :

उधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल, बिष कीरा बिष खात।
ज्यौं चकोर कौं दै कपूर कोउ तजि कि अंगार अघात॥
मधुप करत घर कोरि काठ मैं, बँधत कमल के पात।
ज्यों पतंग हित जानि आपनौ, दीपक सौं लपटात॥
सूरदास जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात॥

मानस में इसी भावनामयी भक्ति का यह रूप महाराज श्रीदशरथ और सरभङ्ग के चरित्र से परिलक्षित होता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

एक बानि करुनानिधान की।
सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

अर्थ—कृपामय प्रभु का एक स्वभाव है कि जिस व्यक्ति का कोई अन्य आश्रय नहीं होता, वह उन्हें प्रिय लगता है।

भक्तों की दृष्टि में "राम अमितु गुन सागर" हैं :

राम अमितु गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ।
सन्तन्ह सन जस किछु सुनेउँ, तुम्हहि सुनायउँ सोइ॥

किन्तु इन समस्त गुणों में भक्त, जिसकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, वह है श्रीराम की करुणा। संसार में जिन्हें गुणवान् कहा जाता है, वे बहुधा करुणा-गुण से शून्य होते हैं। गुणहीन व्यक्ति के प्रति उनमें उपेक्षा होती है। उनकी दृष्टि में ऐसे लोगों के प्रति कृपा दुर्गुणों को प्रोत्साहन देना है। कोमल हृदय वाले व्यक्तियों में बहुधा कोई-न-कोई कमी होती है, जो उन्हें दूसरों के प्रति सहृदय बनने की प्रेरणा प्रदान करती है। उनकी क्षमाशीलता के पीछे स्वयं क्षमा पाने की वृत्ति ही कार्य करती है। वस्तुतः उनका यह औदार्य स्वयं के प्रति ही होता है, किन्तु गुण और करुणा का एकत्रीकरण केवल श्रीराम में है। विनयपत्रिका में तुलसी आकुल स्वर में प्रश्न करते हैं, "दीनबन्धु प्रभु! तुम्हें छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ? क्योंकि जिधर दृष्टि डालता हूँ, वहाँ एक कमी दिखाई देती है। जो सामर्थ्यवान्

हैं, उनमें कोमलता का अभाव है, और जिनमें कोमलता है, वे क्षमतारहित हैं। इन दोनों का एकत्रीकरण केवल तुममें है। अतः तुम्हीं तुलसी को अपना सकते हो। ऐसी कृपा कीजिए, जिससे आपके द्वार पर पड़ा हुआ गुण गाता रहूं।"

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिनु पर पीर पाइ है ? केहि दीनता सुनावों॥
प्रभु अकृपालु कृपालु, अलायक, जहँ-जहँ चितहि डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही, कहि भ्रम कहा गवावों॥
गोपद बुडिबे जोग करम करौं बातनि जलधि थहावों।
अति लालची, काम-किंकर मन, मुख रावरो कहावों॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब, अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै, जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों॥

किन्तु भक्त जिस करुणा की इतनी सराहना करते हैं, उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को क्यों नहीं होता ? ऐसा प्रश्न अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इसका उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। लेख के प्रारम्भ में उद्धृत पंक्ति में भी इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

सत्य तो यह है कि विरले ही व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्हें प्रभु की करुणा पर सच्चा विश्वास होता है। ग्रन्थों में ईश्वर की महिमा और करुणा का जो वर्णन किया है, उसे पढ़कर दुहरा देना और बात है, पर अनुभूति में उतार पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। समस्याएँ तो प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष आती हैं, पर उनका समाधान पाने के लिए या तो व्यक्ति को स्वयं की क्षमता का भरोसा होता है, या वह दीनता और आशा-भरी दृष्टि से उन लोगों का मुख निहारा करता है, जिन्हें समाज में सामर्थ्यशाली कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। अहंकार और दैन्य की यह वृत्ति व्यक्ति को ईश्वर की ओर अभिमुख नहीं होने देती। यदि व्यक्ति की दृष्टि ईश्वर के मुख की ओर नहीं होगी तो उसे ईश्वर की करुणा का साक्षात्कार हो भी कैसे सकता है। इसीलिए भगवान् राम उन व्यक्तियों पर आश्चर्य करते हैं, जो भक्त कहलाकर भी ईश्वर को छोड़कर किसी मनुष्य से आशा रखते हैं :

मोर दास कहाइ न आसा।
करइ तो कहहु कहाँ विस्वासा॥

जिन व्यक्तियों का स्वयं के पुरुषार्थ पर भरोसा है, उन्हें करुणा की आवश्यकता ही नहीं है। उनके लिए ईश्वर करुणामय न होकर काल-रूप है। काल समय का प्रतीक है। पृथ्वी में बीज डालने वाला किसान इस सत्य को जानता है कि

समय पाकर बीज अंकुरित होगा। वह पुरुषार्थ के द्वारा पृथ्वी को बीज-ग्रहण के उपयुक्त बनाता है। उपयुक्त समय पर डाला हुआ बीज अंकुरित होकर वृद्धिगत होता है। परिपक्व होने पर उसे काटकर अन्न के रूप में परिणत कर लिया जाता है। यह कृषक के कठिन पुरुषार्थ और श्रम का परिणाम होता है। पुरुषार्थपरायण व्यक्ति के लिए ईश्वर समय पर फलदाता मात्र है :

काल रूप तिन्ह कँह मैं भ्राता।
सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥

यद्यपि भूगर्भ के रहस्य को जानने वाला वैज्ञानिक इस सत्य से परिचित होता है कि पृथ्वी का रूप उतना ही नहीं है जिसे किसान जानता है। पृथ्वी वही नहीं देती, जो बीज के रूप में उसमें डाला जाता है। उसके गर्भ में अनगिनत मूल्यवान् पदार्थ हैं, जिन्हें पाने के लिए उसके अन्तरंग में प्रविष्ट होना ही यथेष्ट है। वहाँ देकर नहीं पाया जाता, अपितु जो है, उसे पाया जाता है। पुरुषार्थवादी का सत्य है देकर पाना और भक्त की मान्यता है, जो उसमें स्वतः है, उसे पाना। देकर पाने के लिए पृथ्वी के अन्तरंग में प्रविष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। वह तो सबसे बहिरंग सत्य है। पर जब व्यक्ति जल के स्रोत की खोज करता है, तब उसे धैर्यपूर्वक भीतर पैठने का प्रयास करना पड़ता है। ऊपर से पृथ्वी शुष्क प्रतीत होती है, यद्यपि उसके अन्तराल में अगाध जल-राशि के अनगिनत स्रोत हैं।

ईश्वर कर्म-फल दाता है। यह बहिरंग सत्य है। किन्तु उसके अन्तःकरण में करुणा के जो दिव्य स्रोत हैं, उन्हें पाने के लिए साधक में धैर्य चाहिए। अपनी प्यास मिटाने के लिए जल की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है। प्यासा व्यक्ति जल के लिए हाथ फैला देता है और दूसरे उदार व्यक्ति अपने पात्र से जल का थोड़ा भाग देकर उसकी प्यास कुछ समय के लिए बुझा देते हैं। किन्तु उनके पास भी जल की सीमा है। वे दूसरों को जल कैसे दे सकते हैं। अतः स्वयं ही उस अगाध जलराशि का स्रोत पाकर व्यक्ति धन्य हो सकता है। अपनी अमित प्यास को बुझाने के लिए शाश्वत स्रोत को पा लेना ही जीवन की पूर्णता है।

ईश्वर की करुणा का अनुभव भी उन्हीं को होता है जिनमें स्वयं के पुरुषार्थ के प्रति महत्त्व बुद्धि समाप्त हो चुकी है और जो जहाँ-तहाँ तृप्ति के लिए याचक बनकर हाथ नहीं फैलाते हैं। इन्हीं भक्तों का नामकरण भगवान् राम 'अनन्य गति' कहकर करते हैं। श्रीहनुमान जी से अपने स्वभाव का वर्णन करते हुए प्रभु स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं—"यद्यपि सभी लोग मेरा परिचय समदर्शी के रूप में देते हैं, पर मुझे सेवक प्रिय हैं और विशेष रूप से वह सेवक तो मेरा सर्वस्व ही है, जो अन्य आश्रयों से युक्त हो चुका है।"

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

प्रभु की ओर जाती हुई सुतीक्ष्ण की दृष्टि सर्व प्रथम अपनी ओर जाती है। उन्हें लगता है कि उनमें कोई ऐसी योग्यता नहीं है, जिसके द्वारा वे प्रभु को प्रसन्न कर सकें। वे सोचते हैं कि न तो उनमें दृढ़ विश्वास है और न भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को ही वे जीवन में पा सके हैं। सत्संग, योग, यज्ञ और जप का आश्रय भी उन्हें नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या वे ईश्वर के सन्निकट जाने के अधिकारी हैं?

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं।
भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा।
नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥

इस निराशा की मनःस्थिति में उनका ध्यान प्रभु की 'बानि' की ओर जाता हैं। 'जिसे कोई अन्य गति नहीं' है, वह श्रीराम को प्रिय है। तब मुझे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। उनके पास भले ही कोई उपहार लेकर जाने की सामर्थ्य मुझ में न हो, पर यह अभाव मुझ में है, जो उन्हें प्रिय है। मैं सर्वथा गति-शून्य हूँ। अतः आज उनके करुणामय स्वभाव का परिचय मुझे प्राप्त होगा :

एक बानि करुना निधान की।
सो प्रिय जाके गति न आन की॥

स्वभाव के लिए यहाँ 'बानि' शब्द का प्रयोग उसे और भी अनोखा बना देता है। स्वभाव में जब कोई अभ्यास इतनी गहराई से पैठ जाये कि चाहकर भी उसे न छोड़ सकें तब वह 'बानि' बन जाती है। अनन्याश्रय के प्रति करुणा ईश्वर की 'बानि' है। हो सकता है कि कुछ लोगों की दृष्टि में करुणा का सिद्धान्त व्यक्ति में निष्क्रियता की सृष्टि करता हो, पर ईश्वर उसे चाहकर भी छोड़ नहीं सकता, क्योंकि यह तो उसकी 'बानि' है।

सुतीक्ष्ण इसी 'बानि' का आश्रय पाकर धन्य हो जाते हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी ।
सबके हृदयँ निरन्तर वासी ॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी ।
बसतु मनसि मम काननचारी ॥

अर्थ—यद्यपि आप निर्मल, व्यापक और कभी नष्ट नहीं होने वाले हैं, समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में सर्वदा निवास करते हैं, फिर भी हे खरारि प्रभु आप मेरे हृदय रूपी वन में निवास करें ।

यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका प्रत्येक देश, काल और व्यक्ति में निवास मानना ही होगा । जो कभी था और अब नहीं है या आगे नहीं होगा, उसे अनित्य मानना पड़ेगा । जो कहीं है और कहीं उसका अभाव है वह ससीम होकर विनाशी सिद्ध होगा । जो किसी व्यक्ति के हृदय में है और किसी के हृदय में नहीं है वह राग-द्वेषयुक्त सिद्ध होने से समता से च्युत हो जायेगा ।

सुतीक्ष्ण इसे अस्वीकार नहीं करते किन्तु 'तदपि' लगाकर वे प्रभु से अपने हृदय में निवास करने की प्रार्थना करते हैं । इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि जिस रूप में ईश्वर का निवास सर्वत्र है उससे वे सन्तुष्ट नहीं हैं । इससे बढ़कर ईश्वर की उपस्थिति का परिहास क्या होगा कि वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहकर भी उसमें रञ्चमात्र परिवर्तन नहीं ला पाता । वह निर्मल है और हृदय मलग्रसित है । व्यापक के होते हुए भी हृदय में क्षुद्रता है । अविनाशी के होते हुए भी जीव का हृदय विनाश के भय से संत्रस्त है । भक्त को ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो उसके अन्तःकरण की समस्याओं का समाधान कर सके। उसके लिए वह ईश्वर

से विशेष रूप की उपस्थिति अपने हृदय में चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने प्रभु का जिन शब्दों में स्मरण किया वे बड़े ही सांकेतिक हैं।

सबसे पहले वह अकेले ईश्वर के स्थान पर श्रीलक्ष्मण और श्रीसहित प्रभु के निवास की प्रार्थना करते हैं। वैराग्यवान बहुधा एकान्त में अकेले रहना पसन्द करते हैं। ब्रह्म भी हृदय की गुफा में अकेले रहता है, अतः प्रकृतितः विरागी है। मानस के अन्य प्रसंगों में विरागी के रूप में उसका स्मरण किया गया है। "अग जग मय सब रहित विरागी" कहकर भगवान् शंकर ने इसी मत का समर्थन किया है। ऐसा विरागी उदासीन ईश्वर भक्त को नहीं चाहिए। अतः वह सपरिवार ईश्वर की आराधना करता है। यहाँ सुतीक्ष्ण ने प्रभु से बड़ा गहरा विनोद किया। अवतार-काल में प्रभु का परिवार बहुत बड़ा है। माता-पिता, भाई सभी तो थे किन्तु उन सबके साथ रहने का अनुरोध न करके केवल सीता और लक्ष्मण के साथ रहने का अनुरोध प्रभु के वनवासी रूप की ओर इङ्गित करता है। भक्त कहता है, इस समय आप उदासी के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, आप अयोध्या के विशाल वैभव, माता-पिता आदि सबका परित्याग करके ही वन में आये हुए हैं फिर भी आप श्री किशोरी जी और लक्ष्मण का परित्याग नहीं कर पाये। क्योंकि वे सर्वतो भावेन आप पर आश्रित हैं। हमें ऐसे ही ईश्वर की आवश्यकता है जो आश्रित जनों के प्रति उदासीन न हो। अकेला ब्रह्म आत्माराम है। किन्तु सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर चलने वाला ईश्वर प्रतिक्षण इन दोनों के सुख की चिन्ता करता है :

जेहि बिधि सीय लखन सुख लहहीं।
सोइ रघुनाथ करइ सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा पुनीता।
सनि सुख लहहिं लखन अरु सीता॥

आत्माराम ब्रह्म स्वयं में पूर्ण हो सकता है पर लोक-कल्याण के लिए उस ईश्वर की आवश्यकता है जो प्रतिक्षण भक्तों के सुख-दुःख की चिन्ता में निमग्न रहता है। अयोध्या के विशाल वैभव का परित्याग करने में भले ही उसका मुख अम्लान रहा हो किन्तु वन-पथ में श्रमित सीता के भोले प्रश्न को सुनते ही उसकी आँखें बरस पड़ती हैं। वन-पथ में अचानक पीछे से प्रश्न सुनाई पड़ा, प्रियतम वह स्थान अब कितनी दूर है जहाँ आप कुटी बनाकर निवास करने वाले हैं। रामभद्र की दृष्टि मुड़ी, माथे पर श्रम-बिन्दु, अधर पुट सूखे हुए, कोमलाङ्गी सीता का यह रूप देखते ही राम व्याकुल हो उठे। कवितावली में तुलसी ने भाव-भरे शब्दों में यह झाँकी प्रस्तुत की :

पुरतें निकसी रघुबीर बधू,
धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी,
पुट सूखि गए मधुराधर वै।
फिर बूझति हैं, चलनो अब केतिक
पर्न कुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

लोक-मङ्गल के लिए उस राम की आवश्यकता है जो हृदय में रहकर उदासीन न रहे। इस उदासीनता के कारण ही हृदय में जहाँ एक ओर राम का निवास है वहाँ दूसरी ओर दुर्गुण, दुर्विचार भी विद्यमान हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होकर भी निष्क्रिय है। दुर्गुण पूरी तरह से सक्रिय होकर जीव को अपनी इच्छा के अनुकूल संचालित कर रहे हैं। सर्वशक्तिमान् सक्रिय होकर इन्हें विनष्ट कर सकता है। सक्रियता की यह प्रेरणा उन्हें सीता और लक्ष्मण से प्राप्त होती है। कल्पना करें राम वन में अकेले आकर निवास करते और चौदह वर्ष चित्रकूट में व्यतीत कर अयोध्या लौट जाते। रावण के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा उन्हें कहाँ से प्राप्त होती। श्रीकिशोरी जी के अपहरण से क्रुद्ध राघवेन्द्र ही रावण का संहार करने को उद्यत होते हैं। श्रीलक्ष्मण राम को सर्वदा शौर्य प्रदर्शित करने के लिए उत्तेजित करते हैं :

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥

अथवा यों कह सकते हैं कि प्रभु की अनन्त शक्तियों में दो शक्तियों के अवतरण की आवश्यकता थी—अनुग्रह-शक्ति और संहार-शक्ति। भक्ति रूपा सीता जहाँ जीव के प्रति करुणा गुण को चैतन्य करती हैं वहाँ लक्ष्मण दुष्टों के संहार के लिए प्रेरित करते हुए संहार-शक्ति को चैतन्य करते हैं :

जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुणानिधान की॥

सुन गिरिजा क्रोधानल जासू।
जारइ भुवन चारिदस आसू॥

करुणा और क्रोध-रहित ईश्वर न तो प्रीति ही उत्पन्न कर सकता है, और न भय ही। ईश्वर की करुणा देखकर व्यक्ति द्रवित हो जाता है। उसके अन्तः-करण में भक्ति का सञ्चार होता है। प्रभु के स्वभाव की करुणा का दुरुपयोग न होने लगे इसके लिए भय की भी आवश्यकता है। भय से साधक निरन्तर सजग रहता है। वात्सल्यमयी सीता यदि अपने वात्सल्य से जीव में स्नेह का संचार करती हैं तो विस्मृत जीव में भय की सृष्टि करते हुए श्रीलक्ष्मण उसे पुनः प्रभु के पास ले आते हैं। भोग से विस्मृत सुग्रीव को लाने के लिए प्रभु श्रीलक्ष्मण को ही आदेश देते हैं :

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

सुतीक्ष्ण ने हृदय में निवास करने के लिए प्रार्थना करते हुए प्रभु के 'खरारि' नाम का स्मरण किया है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से सुतीक्ष्ण के द्वारा स्तुति में खरारि नाम का प्रयोग असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि प्रभु और खर की शत्रुता उस समय तक भविष्य की बात थी, किन्तु भावनात्मक स्तर पर यह नाम बड़े महत्त्व का है। प्रभु की प्राकट्य वेला में ही तुलसी उन्हें खरारि के रूप में स्मरण करते हैं :

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

श्रीरामभद्र के लिए मानस में जिन नामों का प्रयोग किया गया है उनमें 'खरारि' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। जन्म लेते ही तुलसी उनके खरारित्व का स्मरण करें यह अद्भुत-सा प्रतीत होता है। यदि अवतार के उद्देश्य की सूचना देना अभीष्ट हो तो खरारि की तुलना में रावणारि कहीं अधिक उपयुक्त होता। विचार करने पर तुलसी की अन्तर्दृष्टि सामने आ जाती है। अकेले 'खर' प्रसंग में प्रभु के जितने अद्भुत गुणों का प्राकट्य हुआ है वह मानस में अद्वितीय है।

श्रीलक्ष्मण प्रभु के आदेश पर शूर्पणखा को विरूप बना देते हैं। क्रुद्ध शूर्पणखा खर के पास जाती है। लंकेश्वर रावण का छोटा भाई खर उसके ही समान

बलवान माना जाता था। वह चौदह सहस्र सैनिकों के साथ श्रीराघवेन्द्र पर आक्रमण के लिए प्रस्तुत होता है। किन्तु राम के सन्निकट पहुँचकर सारी सेना स्तम्भित हो जाती है।

लोकलोचन सुखदाता राम के सौन्दर्य ने उन्हें अभिभूत कर लिया। खर और दूषण भी इस सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं। श्रीराम के सौन्दर्य के अनेक चित्र मानस में प्रस्तुत किये गए हैं पर उनमें यह चित्र अतुलनीय है। विश्व के किसी काव्य में ऐसा कोई प्रसंग प्रस्तुत किया गया हो ऐसा पढ़ने और सुनने को नहीं मिला।

खर और दूषण इन नामों का प्रतीकात्मक महत्त्व है। 'खर' ग्राम्य भाषा में कठोरता के लिए प्रयुक्त किया जाता है। दूषण का अर्थ दोष तो है ही। एक क्रूर व्यक्ति से कोमलता की आशा नहीं की जा सकती है। दोषदर्शी व्यक्ति दूसरे में गुण देखे यह तो सर्वथा असम्भव है। उसका कार्य तो गुण में भी दोष-दर्शन है। किन्तु श्रीराम के सौन्दर्य का जादू इन पर भी चल गया। खर-दूषण तो निरपराध व्यक्तियों का वध करने में भी संकोच नहीं करते हैं फिर व्यावहारिक दृष्टि से उनका अपराध इतना अक्षम्य था कि उनके प्रति करुणा की आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती थी। जब ऐसे दुष्ट हृदय राक्षस भी राघवेन्द्र के सौन्दर्य की सराहना करते हुए सन्धि का प्रस्ताव भेजते दिखाई दें तब "बैरिउ राम बड़ाई करहीं" का स्मरण आना स्वाभाविक है। वे मुक्त कण्ठ से रामभद्र के सौन्दर्य की सराहना करते हैं :

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।
थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर-दूषन।
यह कोउ नृप बालक नर-भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखी नहिं असि सुन्दरताई॥

कलुषित सन्धि-प्रस्ताव के उत्तर में श्रीरघुवीर की शौर्य-भरी वाणी गूँज उठती है। मैं क्षत्रिय हूँ। मृगया मेरा धर्म है। किन्तु मेरी मृगया के आखेट वन्य-पशु नहीं हैं। मैं तो खर-दूषण जैसे दुष्ट मृगों को मारने के लिए ही आया हुआ हूँ। यदि वे भयभीत हैं तो लौट जायें। युद्ध-विमुख पर मैं अस्त्र का प्रयोग नहीं करता। किन्तु युद्धक्षेत्र में कपटयुक्त करुणा के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है :

हम छली मृगया बन करहीं।
तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं।
एक बार कालहु सन लरहीं॥
जद्यपि मनुज दनुज कुल घालक।
मुनि पालक खल सालक बालक॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू।
समर बिमुख मैं हतउँ न काहू॥
रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा परम कदराई॥

युद्ध के प्रारम्भ में श्रीराम के शील-गुण का साक्षात्कार होता है जब वे श्री सीता को युद्धस्थल से दूर ले जाने का अनुरोध लक्ष्मण से करते हैं। युद्ध का क्रूर दृश्य जनकनन्दिनी को देखना पड़े यह शील-सिन्धु श्रीराम के लिए असह्य था। युद्ध के अन्त में शत्रुओं के प्रति उनका सौजन्य सामने आता है जब वे चौदह हजार राक्षसों को मुक्ति का दान देते हैं। इस तरह खरारि-प्रसंग में प्रभु के तीनों महद् गुणों की एक साथ अभिव्यक्ति होती है।

'खरारि' शब्द एक भिन्न रहस्य की ओर भी इंगित करता है। भक्त ईश्वर से हृदय में निवास करने की प्रार्थना करता है। व्यापक और निराकार के रूप में तो वह समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा में रह सकता है। किन्तु यहाँ तो सगुण साकार रूप में हृदय में निवास की प्रार्थना की जा रही है। साकार रूप में तो व्यक्ति एक काल में एक ही स्थान में निवास कर सकता है। अतः प्रभु ये पूछ सकते हैं कि तुम्हारे हृदय में निवास का तात्पर्य है दूसरों के हृदय में न रहूँ। 'खरारि' शब्द इस आशंका का निवारण करने में सक्षम है। इस प्रसंग में रामभद्र अपने अगणित रूपों की अनुभूति करा देते हैं। खर-दूषण की सेना का प्रत्येक व्यक्ति श्रीराम के रूप में परिणत हो जाता है। यह बात और है कि भक्ति के अभाव में वे राम के रूप में अपने ही बन्धुओं को देखकर उन्हें शत्रु मान लेते हैं। और इस तरह वे स्वयं को विनाश की स्थिति में डाल देते हैं। सुतीक्ष्ण मानों यह कहना चाहते हैं कि यदि आप खर-दूषण-जैसे दुष्ट प्रकृति के लोगों के कल्याण के लिए अगणित रूप धारण कर सकते हैं तब एक सेवक की प्रार्थना पर इसे स्वीकार करने में आपके लिए क्या कठिनाई हो सकती है।

'खरारि' शब्द इससे भी अधिक गम्भीर दृष्टि की ओर इंगित करता है। विरज, व्यापक और अविनाशी ब्रह्म के रूप में वह निष्क्रिय और अकर्त्ता है। ऐसी

स्थिति में जब वह नये रूप में भक्त के अन्तःकरण में निवास करेगा तब उसे अपने स्वरूप का त्याग करना होगा। क्योंकि उसे सक्रिय और कर्त्ता बनकर भक्त के हृदय के दुर्गुणों को विनष्ट करना होगा। भक्त इस समस्या के समाधान के रूप में 'खरारि' शब्द का प्रयोग करता है। पौराणिक कथा के अनुरूप खर-दूषण और उसके चौदह सहस्र बन्धुओं का विनाश किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा होना सम्भव नहीं था। क्योंकि उन्होंने सम्मिलित स्वर में यह याचना की थी कि उनकी मृत्यु किसी अन्य के द्वारा न होकर परस्पर स्वयं से ही हो। ब्रह्मा से वरदान माँगते हुए उनके अन्तःकरण में यह दृढ़ धारणा थी कि वे परस्पर युद्ध नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में मृत्यु का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा। मायानाथ प्रभु इस रहस्य से परिचित ही थे इसीलिए उन्होंने खर-दूषण के विरुद्ध संघर्ष करते हुए मायाशक्ति का ऐसा उपयोग किया कि वे परस्पर एक-दूसरे को रामरूप में देखते हुए लड़कर मारे गये :

सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्‌यो॥

भक्त 'खरारि' शब्द के प्रयोग के द्वारा मानों उनको यह संकेत देता है कि अन्तःकरण के दुर्गुण, दुर्विचारों को विनष्ट करने के लिए उन्हें स्वरूप-त्याग अथवा कर्तृत्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है, उनकी उपस्थिति-मात्र ही दुर्गुणों के विनाश के लिए यथेष्ट होगी। मानस के अन्य प्रसंगों में भी 'खरारि' शब्द का मिलते-जुलते अर्थों में प्रयोग किया गया है।

श्रीराम की प्राकट्य वेला में ही तुलसीदास इस नाम का स्मरण किये बिना नहीं रहते। कौशल्या अम्बा के समक्ष ब्रह्म के प्राकट्य क्षणों का उल्लेख करते हुए "शोभासिंधु खरारी" विशेषण का प्रयोग करते हैं। शोभासिंधु के साथ खरारि शब्द का प्रयोग विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। किन्तु इसका तात्पर्य प्रभु के सौन्दर्य की विलक्षणता की ओर इंगित करना है। प्रभु की शोभा जहाँ एक ओर भक्तों के अन्तःकरण में रस की सृष्टि करती है वहाँ राक्षसों के हृदय में द्वेष की वृत्ति के कारण उनके ही विनाश का हेतु बन जाती है।

इस प्रकार भक्त सुतीक्ष्ण की याचना "अरथ अमित अरु आखर थोरे" का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

अर्थ—ऐसा अभिमान भूलकर भी नष्ट न हो कि मैं प्रभु का सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं।

सुतीक्ष्ण मानस के उन पात्रों में से हैं जिनका चरित्र अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी पाठक के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। चित्रकूट से दण्डकारण्य की ओर जाते हुए श्रीराम का मिलन इस अनोखे मुनि से हुआ। मुनियों के प्रति राघवेन्द्र के मन में सर्वदा आदर का भाव रहा। मुनियों को दण्डवत्-प्रणाम करते हुए राम के अनेक शब्द-चित्र गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किये हैं। किन्तु सुतीक्ष्ण, मुनि होते हुए भी परम्परा से भिन्न राघव के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं। उन्हें आश्रम में ले जाकर उनकी पूजा करते हैं। स्तुति भी इतनी रसमयी कि राम उसमें भीग गये। याचक तो मानस-भर में उन जैसा कोई है ही नहीं। उपर्युक्त पंक्ति भी उनकी याचना का ही एक भाग है। सभी भक्त एकस्वर से ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—मुझे अभिमान से मुक्त करो, किन्तु इस अनोखे सन्त ने अभिमान के शाश्वत बने रहने की याचना की।

'मैं' एक ऐसी सत्ता है जिसके अभाव का अनुभव व्यक्ति को कभी नहीं होता। वेदान्त की सारी खोज ही 'अहं' की जिज्ञासा पर आधारित है। गुरुजन आदेश देते हैं कि प्रातःकाल उठते ही जिन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए वे हैं—

(१) मैं कौन हूँ ? (२) कहाँ से आया हुआ हूँ ? (३) शरीर के विनाश के वाद मुझे कहाँ जाना है ?

कोऽहं कुतस्तेन कुतः समागतो।
यास्यामि क्वेतः स्वशरीर संक्षये ।।

किसी व्यक्ति से पूछ दिया जाये कि तुम कौन हो ? वह कहेगा मैं ब्राह्मण हूँ अथवा किसी पद का नाम लेकर स्वयं को पदाधिकारी के रूप में प्रस्तुत करेगा। पर अभिमान का एक रूप और है जिसका प्रयोग व्यक्ति तभी करता है जब स्वयं में कोई विशेषता आरोपित नहीं कर पाता। ऐसे अवसर पर वह समाज में सम्मान्य किसी व्यक्ति से स्वयं को सम्बद्ध सिद्ध करना चाहता है। लगता है उसको स्वयं के बौनेपन का ज्ञान है, अतः किसी ऊँचे व्यक्ति के कन्धे पर बैठकर वह दूसरों की दृष्टि में ऊँचा उठना चाहता है। पर ऐसे व्यक्ति बहुधा उपहासास्पद तब वन जाते हैं जब तथाकथित सम्मान्य व्यक्ति उसे इस प्रकार कन्धे पर वैठाने के लिए प्रस्तुत नहीं होते या कभी औदार्य प्रदर्शन के लिए उठा भी लें तो अगले ही क्षण अधिक बोझ का वहाना बनाकर उतारने में संकोच का अनुभव नहीं करते। उन्हें लगता है, इस व्यक्ति को कन्धे पर बैठाकर मैं स्वयं क्षुद्र सिद्ध हो जाऊँगा। कैसा बेढंगा दृश्य लगता है जब एक व्यक्ति बोझ को उतार फेंकने के लिए व्यग्र हो और दूसरा है कि उतरना ही न चाहे। व्यवहार में ऐसे दृश्य नित्य सामने आते ही रहते हैं। एक ओर से सम्वन्ध का आग्रह तो दूसरी ओर से अस्वीकृति।

भक्त की वृत्ति बौने के समान न होकर नन्हे शिशु के समान होती है। वह पिता के वात्सल्य का अधिकारी है। पिता बालक को गोद या कन्धे पर उठाकर चलने में स्वयं आनन्दित होता है। बालक के सम्बन्ध से पिता को भी तो पितृत्व का गौरव प्राप्त होता है। बालक का अभिमान भी अनोखे ढंग का है। एक ओर वह स्वयं की असमर्थताओं और अयोग्यताओं को जानता है अतः उसमें अभिमान हो भी कैसे सकता है ! किन्तु वह पिता की योग्यता और सामर्थ्य से परिचित होने के कारण सम्बन्ध के आधार पर गर्वीला भी है। इस अर्थ में यह अभिमान सर्वथा अनोखेप्रकार का है क्योंकि इसके मूल में निरभिमानिता की वृत्ति है। सुतीक्ष्ण इसी अभिमान की याचना करते हैं। साधारणतः व्यक्ति स्वामित्व में ही अभिमान करता है। सेवा-कार्य को व्यक्ति वाध्यता से ही स्वीकार करता है। स्वतन्त्रता ही सवका अभीष्ट है। सेवक को सर्वदा पराधीन रहना पड़ता है और तब सेवक को बार-बार प्रतीत होता है "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"। ऐसी स्थिति में सेवक में कैसा अभिमान ! किन्तु भक्त भगवान् के सेवक होने का अभिमान चाहता है। क्योंकि यहाँ सेवक में

पारतन्त्र्य न होकर स्वामी ने ही स्वयं में उसे स्वीकार कर लिया है। प्रभु भक्त पराधीन हैं। भरत भुजा उठाकर प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं। संसार में श्रीराम को छोड़कर कोई ऐसा स्वामी नहीं है जो सेवक से सेवा लेने के स्थान पर स्वयं उसकी सेवा करता हो और सेवक की सेवा करते हुए उसे एक ही चिन्ता सताती हो कि कहीं सेवक सेवा लेने में संकोच न करे :

को साहिब सेवकहि नेवाजी।
आपु समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें।
सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहि दूसर कोपी।
भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥

ऐसे स्वामी का सेवक बनकर किसे अभिमान नहीं होगा। सेवक प्रभु से भले ही सेवा न लेना चाहे पर वचन-रचनानागर उसे निरुत्तर कर देते हैं। सेवक ने कहा "मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु आप ही बतायें कि सेवक का क्या कर्त्तव्य है ? उसे स्वामी की सेवा करनी चाहिए या सेवा लेनी चाहिए ?" प्रभु ने भक्त से ही उलटकर प्रश्न कर दिया, "सेवा का उद्देश्य क्या है ?" सेवक ने उत्तर दिया, "स्वामी को सुख पहुँचाना ही सेवा का उद्देश्य है।" प्रभु ने प्रश्न किया, "यदि स्वामी को सर्वाधिक सुख सेवा करने में ही आ रहा हो तब ऐसी परिस्थिति में सेवक का कर्त्तव्य स्वामी के सुख को बढ़ाना होना चाहिए। केवल परम्परा-पालन के लिए स्वामी को संकोच में डालकर वह सच्चे सेवक-धर्म से च्युत हो जायेगा।" सेवक निरुत्तर होकर सेवा लेने के लिए बाध्य हो जाता है।

राम के स्वामित्व का अभिमान साधक को विश्व की सारी पराधीनताओं से मुक्त कर देता है। व्यक्ति के जीवन में पग-पग पर पराधीनता है। शरीर, इन्द्रिय, मन व्यक्ति को पराधीन बनाकर अपनी इच्छा के अनुकूल चलाते रहते हैं। संसार में स्वामित्व का दावा करने वाले अनगिनत हैं। इनकी बेगार करते हुए व्यक्ति मरा जा रहा है। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी जीव की तुलना ऐसे यात्री से करते हैं जो विषम परिस्थितियों में जीवन के लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। इस यात्री को प्रारम्भ में ही गोस्वामीजी सावधान कर देते हैं। अरे भाई, राम कहते चलो, राम कहते चलो, नहीं तो भव बेगार में पड़ जाओगे। फिर छूटना कठिन हो जायेगा :

राम कहत चलु राम कहत्त चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहितु भव बेगार महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे॥

यात्री से प्रश्न किया गया, "तुम कौन हो ?" उसने कहा, "मैं शरीर"— इन्द्रियों ने रोक लिया, "पहले हमें तृप्त करो फिर आगे बढ़ना। यह तुम्हारा कर्त्तव्य है।" यात्री ने कहा, "मैं पुत्र हूँ अमुक का"। लोगों ने कहा वे तो मेरे सम्बन्धी थे, मेरी आज्ञा का पालन करो नहीं तो अधर्म होगा। इस तरह की बेगार से बचने का एकमात्र उपाय है राम से अपने सम्बन्ध का परिचय देना। इससे बेगार लेने वाले हतोत्साह हो जाते हैं। गोस्वामीजी के साधु जीवन में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो उनका परिचय पाना चाहते थे। गोस्वामीजी का एक ही उत्तर था—तुलसी राम का प्रसिद्ध सेवक है :

धूत कहौं अवधूत कहौं, रजपूत कहौं जुलहा कहौं कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहव काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम हौं राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खाइबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

तुलसी के इसी अभिमान ने उन्हें किसी सांसारिक व्यक्ति के समक्ष दीन नहीं बनने दिया। प्रतापी सम्राट् अकबर से भी उन्होंने परिचय की आवश्यकता का अनुभव कभी नहीं किया। उनका एक ही उत्तर था, जब मेरे समग्र स्वार्थ और परमार्थ की पूर्ति एक ही द्वार से हो रही है तब द्वार-द्वार भटकने से क्या लाभ :

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता तुलसी उचित न तोर॥

सुतीक्ष्ण के संक्षिप्त चरित्र में गोस्वामी तुलसीदास का मनोभाव जितना अधिक प्रतिबिम्बित होता है शायद ही मानस के किसी अन्य पात्र में इतने स्पष्ट रूप में देखा जा सके। सुतीक्ष्ण के परिचय के लिए प्रयुक्त पंक्ति गोस्वामीजी के लिए भी उद्धृत की जा सकती है :

मन क्रम बचन राम पद सेवक।
सपनेहु आन भरोस न देवक॥

इस चौपाई और दोहावली रामायण के इस दोहे में रञ्चमात्र अन्तर नहीं प्रतीत होता जिसमें वे अपनी निष्ठा का वर्णन करते हैं :

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

अभिमान की इस याचना के स्वर में तुलसी का स्वर भी मिला हुआ है।

॥ श्रीरामः शरणंमम ॥

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही ।
जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही ॥

अर्थ—हे प्रभु ! अब आप मुझे वही मन्त्र दीजिए, जिस प्रकार मैं मुनिद्रोही राक्षसों का संहार करूँ।

महर्षि अगस्त्य और भगवान् राम का मिलन ऐतिहासिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से बड़े महत्त्व का था। उत्तर भारत में जो स्थान महर्षि विश्वामित्र का था, वही या उससे अधिक गौरव महर्षि अगस्त्य को दक्षिण में प्राप्त था। दोनों ही अपनी तेजस्विता में अतुलनीय थे। भगवान् राम के चरित्र में इन दोनों महापुरुषों की भूमिका बड़े महत्त्व की सिद्ध हुई।

किशोरावस्था में जहाँ महर्षि विश्वामित्र स्वयं अयोध्या जाकर राक्षस-वध के लिए श्रीराम को माँगकर ले आते हैं, वहीं युवा राघवेन्द्र स्वयं चलकर महर्षि अगस्त्य के निकट जाते हैं, और उनसे राक्षस-वध का उपाय पूछते हैं। जहाँ महर्षि अगस्त्य का प्राकट्य घट से हुआ, ऐसा कहा जाता है, वहाँ महर्षि विश्वामित्र भी अभिमंत्रित घट के जल के परिवर्तन के कारण क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हुए भी ब्राह्मण-संस्कार से युक्त थे। महर्षि विश्वामित्र अपनी तपस्या और अलौकिकताओं के लिए विश्व में विख्यात थे। महर्षि अगस्त्य भी अपने दिव्य और अलौकिक कर्मों के लिए विश्ववन्दनीय थे। महर्षि विश्वामित्र ने जहाँ ताड़का, मारीच और सुबाहु के वध की प्रेरणा देकर भगवान् राम के कीर्ति-भवन की आधार-शिला

प्रस्तुत की, वहीं महर्षि कुम्भज ने रावण-वध के मंत्रदाता के रूप में यश:सौध के सर्वोच्च कलश की रचना का श्रेय प्राप्त किया।

भगवान् राम ने महर्षि अगस्त्य से रावण-वध के लिए जो उपाय पूछा, उसके पीछे कुछ ऐतिहासिक कारण विद्यमान थे। रावण अत्याचारी होते हुए भी महर्षि पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न हुआ था। क्षत्रिय कुलोद्भव श्रीराम इस संघर्ष को ब्राह्मण और क्षत्रिय के संघर्ष का रूप नहीं देना चाहते थे। अन्याय के विरुद्ध लड़ा जाने वाला युद्ध जातीय रूप ग्रहण करते ही अपना सारा गौरव और उद्देश्य खो बैठता है। जब दण्ड का आधार जाति होगी तब ऐसा दण्ड विवेक के स्थान पर द्वेष से ही प्रेरित होता है। न्याय का आधार जाति न होकर उसका कर्म होना चाहिए। पर बहुधा एक ही भूल बार-बार दोहराई गई है। पवित्र उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष अन्त में जातीय रूप ग्रहण कर लेता है। भगवान् परशु-राम का चरित्र इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। सहस्रार्जुन को उसके अन्याय और अत्याचार का दण्ड देकर उन्होंने एक महान् कार्य किया था, पर बाद में वे सारी क्षत्रिय जाति को ही विनष्ट करने पर तुल गये। "क्षत्रिय कुल द्रोही" के रूप में अपना परिचय देते हुए उन्हें गर्व का अनुभव होता है :

बालब्रह्मचारी अति क्रोही।
विश्वबिदित क्षत्रिय कुल द्रोही॥

सम्भवतः इसी जाति-जन्य दुर्बलता के कारण वे रावण को दण्डित करना आवश्यक नहीं मानते रहे होंगे। पूर्णावतार प्रभु राम का संघर्ष व्यक्ति या जाति के विरुद्ध न होकर अन्याय के विरुद्ध था। इसीलिए वे रावण का वध अयोध्या के क्षत्रिय राजकुल का प्रतिनिधित्व करते हुए नहीं करना चाहते थे। वे मुनि और उदासी वेष में वन-यात्रा करते हुए स्वयं को मुनि-मंडली में सम्मिलित कर लेते हैं। राक्षसों के विनाश की प्रतिज्ञा भी वे मुनियों की ही प्रेरणा से करते हैं :

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥

राक्षसराज रावण के वध का मंत्र भी वे महर्षि अगस्त्य से ही पाना चाहते हैं। यह प्रक्रिया गुरु वशिष्ठ के द्वारा की गई श्रीराम की प्रशंसा के अनुरूप है। 'नीति, प्रीति', 'परमार्थ और स्वार्थ' का यथार्थ स्वरूप श्रीराम के समान जानने वाला कोई है ही नहीं :

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥

महर्षि विश्वामित्र द्वारा छेड़े गये अभियान के पहले चरण में सुबाहु-वध और मारीच के समुद्र-तट तक फेंक दिये जाने के पश्चात् राक्षसराज ने अपना पग दक्षिण भारत की ओर पीछे हटा लिया। धनुर्भंग के पश्चात् उसे एक नवीन शक्ति के उदय का ज्ञान हो ही गया होगा। इसलिए वह विन्ध्य पर्वत से उत्तर की ओर जाने की योजना समाप्त कर देता है। पर वह पूरी तरह भारत से लौटने की कल्पना नहीं कर पाता है। युद्ध की विभीषिका से वह लंका को पूरी तरह सुरक्षित रखना चाहता है। इसलिए खर-दूषण और त्रिशिरा के सेनापतित्व में चौदह हज़ार सैनिकों को वह दण्डकारण्य में स्थापित कर देता है।

किन्तु श्रीराम के विवाह के पश्चात् अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर उसके सैनिक और सेनापति निश्चिन्त से हो जाते हैं। विशेष रूप से यह समाचार कि राम अयोध्या के राजकुल से वहिष्कृत कर दिये गए हैं, उन्हें सबसे अधिक सान्त्वना देने वाला सिद्ध हुआ होगा। उदासी राम से भयभीत होने की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव नहीं किया होगा। लंका-जैसे शक्तिशाली राष्ट्र के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने के लिए वे जिस उद्योग की कल्पना करते थे, श्रीराम की ओर से उसका कोई नन्हा-सा चिह्न भी उन्हें दिखाई नहीं दे रहा था। प्रचलित राजनैतिक प्रणाली से भगवान् राम सर्वथा उदासीन थे। उनके प्रेरक गुरु विश्वामित्र ने उन्हें ऐसी ही प्रेरणा प्रदान की थी। जब वे महाराज श्रीदशरथ के पास श्री राघवेन्द्र की याचना के लिए आये, तब वे उनके साथ-साथ अयोध्या की सेना भी माँग सकते थे। किन्तु इस संघर्ष को वे दो राजाओं के युद्ध का रूप नहीं देना चाहते थे। यह युद्ध दशरथ के पुत्रों के रूप में नहीं, वरन् विश्वामित्र के शिष्यों के रूप में लड़ा गया। इसमें संख्या-वल के स्थान पर मनोबल की प्रधानता थी। युद्ध का उद्देश्य पृथ्वी अथवा सम्पत्ति पर अधिकार न होकर यज्ञ-प्रक्रिया को संरक्षण प्रदान करना था। भगवान् राम रावण के विरुद्ध अपने संघर्ष को भी ठीक यही रूप देना चाहते थे। उनकी इस दूसरी यात्रा में भी सेनापति और सैनिकों का सर्वथा अभाव था। इस बार की यात्रा में महर्षि विश्वामित्र-जैसा कोई तेजस्वी ऋषि भी साथ में न था। जिससे यह कल्पना की जा सकती कि यह अभियान रावण के विरुद्ध होने वाला है। पत्नी और छोटे भाई के साथ निवास करने वाले वनवासी राम की ओर से ऐसी आशंका की भी कैसे जा सकती थी। पर भगवान् राम अपनी शैली से इसे क्रमशः सम्पन्न करने जा रहे थे। यदि प्रथम अभियान में वे मुनि-प्रेरित राजकुमार थे तो दूसरे में वे स्वतः राजसत्ता-विहीन मुनि थे। इस तरह उन्होंने संघर्ष के जातीय रूप ग्रहण करने की सारी सम्भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था।

यदि उनका उद्देश्य चौदह वर्ष वन में व्यतीत करना मात्र होता तो इसके

लिए चित्रकूट से अधिक उपयुक्त स्थान दूसरा नहीं था। चित्रकूट में आनन्द की अजस्र सरिता प्रवाहित हो रही थी। मुनि-मण्डली निश्चिन्त होकर भजन-साधन में संलग्न थी। किन्तु श्रीराम के अन्तर्मन में तो रावण के अन्याय को समाप्त करने का संकल्प विद्यमान था। उनके रहते हुए चित्रकूट में रावण की ओर से कोई ऐसी घटना नहीं हुई, जिसके आधार पर लंका के विरुद्ध संघर्ष करना सम्भव होता। इसीलिए वे महर्षि अगस्त्य से परामर्श करने तथा उनका आदेश पाने के लिए उनके आश्रम में जाते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से श्रीराम ब्रह्म हैं। समता ही उनका सहज स्वरूप है। वे पाप और पुण्य से सर्वथा उदासीन हैं :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू ।
गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू ।।

पाप को विनष्ट करने का संकल्प उनमें स्वतः उत्पन्न नहीं है। यह अभिलाषा उन साधकों के अन्तर्मन में उत्पन्न होती है, जो पाप से प्रदत्त पीड़ा से संत्रस्त हैं। सगुण साकार रूप में अवतरित होने वाला ईश्वर, देवता और मुनियों की सम्मिलित प्रार्थना का परिणाम है। जब भगवान् राम महर्षि अगस्त्य अथवा विभीषण से रावण की मृत्यु का उपाय पूछते हैं, तब वे यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि साधक का तीव्र संकल्प और उसके द्वारा की जाने वाली प्रार्थना ही दुर्गुणों के विनाश का मुख्य हेतु है। ईश्वर का कार्य तो भक्तों के संकल्प को पूर्ण करना मात्र है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

एक बार प्रभु सुख आसीना ।
लछिमन बचन कहे छलहीना ॥

अर्थ—एक बार प्रभु सुख से बैठे हुए थे। उस समय लक्ष्मणजी ने उनसे छलरहित वचन कहे ।

श्रीलक्ष्मण के वचन के साथ जोड़ा गया 'छलहीना' विशेषण पहली दृष्टि में अटपटा-सा प्रतीत होता है। उनका सारा व्यक्तित्व इतना निश्छल और सरल है कि उनमें कपट या छल की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में जोड़ा गया 'छलहीना' विशेषण कुछ ऐसी भ्रान्ति की सृष्टि करता जान पड़ता है । लक्ष्मण छलविहीन वचन बोले इसे पढ़कर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या उनकी वाणी में कभी छल भी होता था ?

वस्तुतः लक्ष्मण के द्वारा किया जाने वाला यह प्रश्नोत्तर उनके व्यक्तित्व से इतना बेमेल जान पड़ता है कि कवि इस प्रकार का विशेषण देने के लिए बाध्य हो जाता है । पूरे मानस में श्रीलक्ष्मण तेजस्विता के घनीभूत रूप में सामने आते हैं। वे बहुधा मौन रहते हैं, मौन रहकर प्रभु की सेवा में सतत संलग्न रहना उनका सहज स्वभाव है । वे तभी बोलते हैं जब उनके लिए स्वयं को रोक पाना सर्वथा असम्भव होता है । अनौचित्य और अन्याय को सहन कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है । ऐसे अवसरों पर लोक-दृष्टि से वंदनीय पुरुषों का खण्डन करने में भी वे संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। महाराज श्रीजनक, भगवान् परशुराम और

पिता दशरथ भी उनकी आलोचना से बच नहीं पाते हैं। उनकी वाणी की ओजस्विता से ब्रह्माण्ड काँप उठता है। मृत्युलोक की तो बात ही क्या देवता और दिक्पाल भी थर्रा उठते हैं। बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड दोनों में ही उनकी वाणी का यह प्रभाव परिलक्षित होता है :

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोक सब भूप डेराने।
सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने॥
× ×
जगु भय मगन गगन भइ बानी।
लखन बाहुबलु बिपुल बखानी॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा।
को कहि सकइ को जाननिहारा॥

ऐसा तेजस्वी व्यक्ति जब एक नम्र जिज्ञासु के रूप में सृष्टि और अध्यात्म के रहस्यों को सुनने के लिए अधीर होकर प्रश्न करने लगे तब यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक ही है कि वह कोई अभिनय तो नहीं कर रहा है ? क्या उसके प्रश्न सर्वथा बनावटी तो नहीं हैं ? लक्ष्मण-जैसे भक्त बहुधा दार्शनिक जिज्ञासाओं से दूर रहते हैं। उनका संचालन मस्तिष्क के स्थान पर हृदय से होता है। दार्शनिक जिज्ञासाएँ बहुधा व्यक्ति को विवाद में उलझा लेती हैं। देवर्षि नारद भक्तिसूत्र में भक्तों को विवाद से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं :

वादो नावलम्ब्यः
तर्कः अप्रतिष्ठानात्।

हेय उपादेय के निश्चय की आवश्यकता केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए है जो किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाये हैं। जहाँ जीवन में कुछ हेय है वहीं उसके त्याग का प्रश्न भी आता है किन्तु जिनका अन्तःकरण पूरी तरह से रस-परिप्लुत हो चुका है उनके लिए तर्क-वितर्क सर्वथा व्यर्थ हैं। अनन्यानुरागी सुतीक्ष्ण प्रभु के समक्ष कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हैं। यदि उनसे यह प्रश्न कर दिया जाये कि वे जिस राम से प्रेम करते हैं वह उनकी दृष्टि में सगुण है अथवा निर्गुण, तो उनका उत्तर स्पष्ट रूप से यही है कि जो सगुण निर्गुण के रूप में उन्हें जानना चाहते हों वे तर्क-वितर्क में उलझें, उनके लिए तो इतना ही जानना यथेष्ट है कि उनके राघवेन्द्र कौशलपति हैं :

जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी।
सगुन अगुन उर अन्तरजामी॥
जो कोसलपति राजिव नयना।
करउ सो राम हृदय मम अयना॥

किसी भक्त से प्रश्न किया गया कि सृष्टि मिथ्या है अथवा सत्य ? उसने विश्वास-भरे स्वर में कहा, सृष्टि की सत्यता अथवा असत्यता के विषय में मैं कुछ नहीं जानता किन्तु प्रभु के श्रीचरण सत्य हैं यह मैं भली प्रकार जानता हूँ :

जगद्सत्यम् सत्यम् वा नेति रेति मतिर्मम।
वासुदेव पदाम्भोज सत्यम् सत्यम् विजानताम्॥

किन्तु श्रीलक्ष्मण ने प्रभु से जो प्रश्न किये वे भावुक भक्तों की इस प्रवृत्ति से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसमें दर्शन के समस्त प्रश्न ही उठा लिये गए हैं। ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, ईश्वर और जीव के पश्चात् पूछने के लिए बचा ही क्या ?

अस्वाभाविक प्रतीत होने पर भी उनके प्रश्न वास्तविक जिज्ञासा से प्रेरित हैं यह स्पष्ट करने के लिए ही गोस्वामीजी ने उनकी वाणी के लिए 'छलहीना' विशेषण का प्रयोग किया है। इस विरोधाभास के द्वारा यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि भक्तों में जिज्ञासा के अभाव का कारण बुद्धिहीनता नहीं है। अज्ञानता और जड़ता से ग्रस्त व्यक्ति ही जिज्ञासा से शून्य होता है। यदि एक सांसारिक व्यक्ति की भाँति भक्त भी जिज्ञासा-शून्य हो तो उसमें और संसारी व्यक्ति में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? देवर्षि नारद ने भी भक्तिसूत्र में इसी मत का समर्थन किया है। वह यह स्पष्ट कर देते हैं कि उत्कृष्ट प्रेम माहात्म्य-ज्ञान से शून्य नहीं होता क्योंकि उसके अभाव में वह जार प्रेमी की श्रेणी में आ जायेगा :

"तदविहीनं तु जाराणाम इव"

गोपियों के सन्दर्भ में इसे और भी स्पष्टता से समझ लेने की आवश्यकता है। गोपियों की दृष्टि में श्रीकृष्ण क्या हैं ? वे उद्धव द्वारा भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में दिये गए उपदेश को जिस तरह अस्वीकार करती हुई दिखाई देती हैं उससे यही भ्रान्ति होती है कि वे श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करती हैं। किन्तु यदि यह यथार्थ होता तो गोपियों को परम प्रेमियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था। उपपति या जार के प्रति अनुराग कोई ऐसी विरल वस्तु नहीं है कि जिसकी प्रशंसा के लिए शुकदेव-जैसे विरागी मुखर हो उठें। वस्तुतः श्रीकृष्ण

के ईश्वरत्व के प्रति गोपियों में प्रगाढ़ आस्था है। रासमण्डल में श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान होने पर वे स्वयं भी व्याकुल स्वर में कह उठती हैं—आप केवल गोपिकानन्दन नहीं हैं, आप समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा हैं :

न खलु गोपिका नंदनो भवा-
नखिलदेहिना मन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये,
सखउ देयिवान् सात्वतां कुले॥

यदि वे उद्धव के ज्ञानोपदेश का विरोध करती हैं तो उसका एकमात्र कारण यह है कि उद्धव अपने उपदेश के द्वारा गोपियों की उस व्याकुलता को दूर करना चाहते हैं जो श्रीकृष्ण के वियोग में उन्हें व्यथित बनाये रखती है। प्रियतम की स्मृति भक्तों का परम धन है। जो ज्ञान उन्हें इस धन से वंचित करता हुआ रस-शून्य बनाने की प्रेरणा देता है उनकी दृष्टि में वह सर्वथा घातक है। उनके हृदय की तुलना उस विशाल सरोवर से की जा सकती है जो अगाध जलराशि से पूर्ण है। जलराशि के आधार के रूप में पृथ्वी का होना अवश्यम्भावी है किन्तु पृथ्वी की महिमा सिद्ध करने के लिए यदि कोई जलराशि को सुखा देने का आग्रह करे तो इससे बढ़कर ज्ञान का दुरुपयोग और क्या हो सकता है ?

भक्त के हृदय की तुलना उस विशाल सरोवर से की जा सकती है जिसमें प्रेम की अगाध जलराशि लहराती रहती है। विवेक निश्चित रूप से उसकी आधार-भूमि है, किन्तु विवेक का तात्पर्य हृदय का रस-शून्य हो जाना नहीं है। विवेक का अतिरेक बहुधा हृदय को रस-शून्य बना देता है। इसलिए भक्त उससे विरत-सा प्रतीत होता है।

श्रीलक्ष्मण का जीवन प्रभु की सेवा के लिए समर्पित है। विवेक का अतिरेक भक्त को सेवा से विमुख बना सकता है। यदि श्रीलक्ष्मण निरन्तर यही विचार करते रहें कि श्रीराम साक्षात् ब्रह्म हैं, पूर्णब्रह्म को सेवा की कोई अपेक्षा नहीं है, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सुरक्षा के लिए निरन्तर जाग्रत रहकर पहरा देने की आवश्यकता नहीं है तो यह मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत होने पर भी प्रेम-रस को सर्वथा समाप्त करने वाली होगी। इसलिए वे तात्त्विक जिज्ञासा के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि प्रभु उन्हें ऐसा उपदेश दें कि जिसे सुनकर वे शोक, मोह, भ्रम से दूर होकर प्रभु की सेवा में पूरी तरह संलग्न हो सकें। जिज्ञासा के प्रारम्भ और अन्त में वे उसे पूरी तरह भली-भाँति स्पष्ट कर देते हैं :

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

लक्ष्मण सर्वत्यागी हैं, लोक अथवा परलोक की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका वे प्रभु के लिए परित्याग न कर चुके हों। किन्तु फिर भी यदि वे स्वयं में अभाव का अनुभव करते हैं तो यह भक्ति-साधना के सर्वथा अनुरूप है। उच्च-से-उच्च कोटि का भक्त भी स्वयं में सर्वदा अभाव का अनुभव करता रहता है। इसीलिए वह सेवा-पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। सेवा और साधना में पूर्णता का अनुभव होते ही साधक नीचे की ओर उतरना प्रारम्भ कर देता है। किसी पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करने वाला व्यक्ति तभी तक पूर्ण उत्साह के साथ आगे बढ़ता है जब तक वह अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच जाता। सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के पश्चात् उसका नीचे लौटना अवश्यम्भावी है। भाव का सर्वोच्च शिखर क्या है इसे बता पाना सम्भव नहीं। भक्त ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है त्यों-त्यों शिखर भी ऊपर उठता जाता है। इस ऊँचाई से उसका उत्साह भंग नहीं होता अपितु वह अनवरत ऊपर उठता जाता है।

सेवक एक ऐसे लोभी की भाँति है जिसे बड़ी-से-बड़ी धनराशि प्राप्त होने पर भी तृप्ति का अनुभव नहीं होता। श्रीलक्ष्मण की जिज्ञासा के पीछे भी यही वृत्ति विद्यमान है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक-मोह-भ्रम जाइ॥

× ×

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥

अर्थ—प्रभु ! आप ईश्वर और जीव का सारा भेद भली-भाँति समझाकर बताइए, जिससे आपके चरणों में रति हो तथा शोक, मोह, भ्रम, नष्ट हो जायें।

धर्म से वैराग्य तथा योग से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान को वेदों ने मोक्ष-दायक बताया है। जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति भक्तों को सुख देने वाली है।

धर्म शब्द की व्याख्या विविध रूपों में की गयी है। कुछ लोगों की दृष्टि में शास्त्रानुमोदित कर्म ही धर्म है, तो कुछ लोगों की दृष्टि में समाज को धारण करने वाली प्रक्रिया का नाम धर्म है। अन्यों की दृष्टि में जिसे धारण किया जाये वह धर्म है। व्याख्या की प्रक्रिया में भेद होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से इनके तात्पर्य में कोई भिन्नता नहीं है।

धर्म को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है—'सहज' और 'विशिष्ट' सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में कुछ सहज गुण विद्यमान हैं, वही उनका सहज धर्म है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सबमें सहज धर्म विद्यमान है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ इसका अनुगमन करता है। समुद्र-तट पर श्रीराम के अनशन करने पर भी समुद्र उन्हें मार्ग देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। क्रुद्ध स्वर में प्रभु लक्ष्मण को धनुष-बाण लाने का आदेश देते हैं :

लछिमन बान सरासन आनू।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥

भयभीत समुद्र सामने आकर खड़ा हो जाता है। किन्तु वह प्रभु को स्मरण कराना नहीं भूलता कि वह तो अपने सहज धर्म का ही पालन कर रहा था। आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी का निर्माण जड़ रूप में किया गया है। वे उसी नियम के अनुकूल चलने के लिए बाध्य हैं। यदि अग्नि से अँगुली जल जाये तो इसके लिए उसे दण्डित नहीं किया जा सकता। वह स्वेच्छा से किसी को कष्ट देने का संकल्प नहीं करता है। उष्णता उसका सहज धर्म है। यह ईश्वरीय संविधान है:

गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित मायाँ उपजाए।
सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई।
सो तेहि भाँति रहें सुख लहई॥

किसी की याचना से प्रसन्न होकर उसे मार्ग देना यह समुद्र का सहज धर्म नहीं है। प्रभु समुद्र के इस तर्क को अस्वीकार नहीं करते। क्या मनुष्य भी जड़ प्रकृति की ही भाँति सहज धर्म से संचालित होता है? एक सीमा तक व्यक्ति भी सहज धर्म से प्रेरित होकर कार्य करता है क्योंकि मानव-देह का निर्माण जड़ पंचतत्त्वों के द्वारा ही होता है:

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंचरचित अति अधम शरीरा॥

व्यक्ति यदि देह-मात्र ही होता तो वह भी सहज धर्म से ही संचालित होता। किन्तु जड़ से भिन्न चैतन्य तत्त्व भी उसमें विद्यमान हैं। जड़ तत्त्व जहाँ उसमें पारतन्त्र्य की सृष्टि करता है वहाँ चैतन्य की उपस्थिति उसकी स्वतन्त्रता का उद्घोष करती है। इस तरह मनुष्य स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के विरोधाभास का मिला-जुला रूप है। इसीलिए सहज धर्म के साथ-साथ वह विशिष्ट धर्म के द्वारा सञ्चालित होकर सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में सामने आता है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य के बीच में संतुलन स्थापित कर लेना ही मानव-जीवन की सच्ची सार्थकता है।

धर्म के द्वारा व्यक्ति जड़ और पाशविक वृत्तियों को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। धर्म के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों को एक ऐसा आधार प्रदान किया जाता है जिससे व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं में सन्तुलन बना रहे। किन्तु धर्म का उद्देश्य मात्र इतने से ही समाप्त नहीं हो जाता। वह व्यक्ति को परिवार, ग्राम, देश और विश्व से सम्बद्ध करता हुआ अन्त में विराट् की ओर उन्मुख करता है। धर्म प्रारम्भ में जिस पारतन्त्र्य की सृष्टि करता है उसका उद्देश्य अन्त में व्यक्ति को मुक्त बनाना है। धर्म का उद्देश्य व्यत्रित को शाश्वत कारागार का बन्दी बनाकर रखना नहीं है। वह तो एक चिकित्सक की भाँति रुग्ण व्यक्ति और समाज की चिकित्सा के लिए उसे नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। पर उसका वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति और समाज को स्वस्थ बनाकर स्वातन्त्र्य देना ही है। किन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता है। अनगिनत व्यक्ति छूटने के स्थान पर अधिकाधिक परतन्त्र हो जाते हैं। मानस के उत्तरकाण्ड में इसी यथार्थ की ओर इङ्गित किया गया है :

श्रुति पुराण बहु कहइ उपाई।
छूट न अधिक अधिक बिरुझाई॥

दृष्टान्त के रूप में विवाह की धार्मिक प्रक्रिया को लिया जा सकता है। मानव जाति की सारी सामाजिक व्यवस्था स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर आधारित है। स्त्री-पुरुष में मिलन की आकांक्षा सहज धर्म के रूप में विद्यमान है। पशु और पक्षियों में भी यह सहज रूप में पाई जाती है। प्रकृति के सहज नियमों के अनुकूल उनमें भी परस्पर मिलन होता है। किन्तु मनुष्य के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है। इसलिए विवाह के माध्यम से वह उसे एक नियन्त्रित रूप प्रदान करता है। उसके लिए सभी स्त्रियाँ समान नहीं हैं। भावना के द्वारा वह सम्बन्धानुकूल व्यवहार का निर्धारण करता है। इस तरह व्यक्ति समाज में सृजन और सुव्यवस्था को मूर्तरूप प्रदान करता है। विवाह की माङ्गलिक वेला में वैदिक मन्त्रों के माध्यम से पति-पत्नी को एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों की स्मृति दिलाई जाती है। सही अर्थ में पति-पत्नी का यह सम्मिलन सृजन और आनन्द की सृष्टि करता है। पर क्या विवाह का उद्देश्य केवल इतना ही है ? गृहस्थ-आश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की व्यवस्था इसका स्पष्ट निषेध करती है। स्त्री और पुरुष के मिलन की आकांक्षा की अन्तिम परिणति जीव और ब्रह्म के मिलन की ओर उन्मुख हो जाने में ही है। रति की परिणति यदि विरति में नहीं होती तो इसका तात्पर्य है कि सहज शरीर-धर्म ही चैतन्य को अपनी इच्छा के अनुकूल सञ्चालित करने का प्रयास कर रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म की कोई सार्थ-

कता सिद्ध नहीं होती। इसलिए धर्म का परिणाम वैराग्य है, इस तथ्य का उल्लेख मानस में अनेक बार किया गया है :

प्रथमहिं बिप्र चरण अति प्रीती।
निज-निज धरम निरत श्रुति रीती॥
तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

भारतीय वाङ्‌मय में योग शब्द बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वेदों में जिस मार्गत्रयी का संकेत प्राप्त होता है उनमें से प्रत्येक के साथ योग शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'कर्मयोग', 'भक्तियोग' और 'ज्ञानयोग' के रूप में इनका उल्लेख बार-बार किया जाता है। योग शब्द का सरल अर्थ है जोड़ना। वह प्रक्रिया जो जीव को ईश्वर से मिलाती है 'योग' है। कर्म, ज्ञान और भक्ति इन सबका उद्देश्य यही है इसलिए इनके साथ योग शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है। योग शब्द का प्रयोग स्वतंत्र रीति से किये जाने पर बहुधा पतञ्जलि द्वारा वर्णित योग की ओर ध्यान जाता है। प्राणायाम से लेकर समाधि तक की उसकी प्रक्रिया व्यावहारिक विज्ञान पर आधारित है। भौतिक विज्ञान की प्रत्येक शाखा के प्रशिक्षण में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। एक ओर विद्यार्थी जहाँ पुस्तकों के द्वारा सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करता है वहीं प्रयोगशाला में क्रियात्मक रूप में परिणत करके उस सिद्धान्त की वास्तविकता को आँखों से प्रत्यक्ष देख लेता है। आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए योग की प्रक्रिया प्रयोगशाला के ही समान है। इसलिए यह योग किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक साधना-परम्परा के साथ जुड़ा रहा है। कर्मयोगियों की त्रिकाल सन्ध्या में यह प्राणायाम के रूप में विद्यमान है। भक्ति योगी जिस ध्यान की प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं वह भी योग-मार्ग की परम्परा के अनुकूल है। ज्ञानयोग में आत्म-साक्षात्कार के लिए जिस समाधि की आवश्यकता है वह योग का मुख्य प्रतिपाद्य है। कर्मयोग और भक्तियोग में जहाँ इसकी उपस्थिति गौण रूप में है वहाँ ज्ञानयोग में इसका सर्वोत्कृष्ट स्थान है। ज्ञान-दीपक प्रसंग में इसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। ज्ञान-दीप के लिए जिस घृत की आवश्यकता है वह अनेक प्रक्रियाओं से होता हुआ जब वैराग्य के नवनीत के रूप में परिणत होता है तब उसे शुद्ध घी के रूप में परिणत करने के लिए जिस योग की आवश्यकता है वह योगाग्नि ही है। यह योगाग्नि जहाँ वैराग्य के नवनीत में मिश्रित ममता के मल का विनष्ट करती है वहीं 'सोहमस्मि' की प्रचण्ड दीपशिखा भी इसके द्वारा ही प्रज्ज्वलित होती है :

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥
तब बिग्यान-रूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ ॥
तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि ॥
एहि बिधि लेसै दीप, तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब ॥
सोहमस्मि इति बृत्ति अखण्डा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचण्डा ॥

वेदान्त का बौद्धिक विश्लेषण युक्तिसंगत होते हुए भी उस पर अवस्थिति अत्यन्त कठिन है। व्यक्ति के प्रचलित संस्कारों से वह इतनी भिन्न है कि उसे निःसंशय मान पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सृष्टि का मिथ्यात्व हृदयंगम कर पाना सरल नहीं है। प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला यह विशाल विश्व प्रतीति-मात्र है, इसे स्वीकार कर सकना अधिकांश व्यक्तियों के लिए सर्वथा असम्भव है।

बौद्धिक दृष्टि से इसे स्वीकार करने का दावा करने वाले भी व्यवहार की कसौटी पर खरे सिद्ध नहीं होते हैं। तथाकथित वेदान्तियों के जीवन में भोग्य पदार्थों के प्रति जो प्रबल आसक्ति देखी जाती है वह मिथ्यात्व का परिहास-सा करती हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता को स्वीकार कर पाना तो और भी कठिन है। व्यक्ति प्रतिक्षण स्वयं को जिन असमर्थताओं से घिरा हुआ देखता है उसमें ब्रह्म और जीव की एकता उसे प्रलाप-जैसी ही प्रतीत होती है। इसलिए सुनने-सुनाने के पश्चात् भी व्यक्ति का अन्तर्मन प्रश्नों से घिरा ही रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण विनयपत्रिका में बड़े मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है :

माधव ! असि तुम्हार यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दशा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित भव दारुन बिपति सतावै ॥

ब्रह्म-पियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै।
तो कत मृग जल रूप विषय कारन निसि बासर धावै॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥

ध्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधि के क्रमिक साधन से जब साधक निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट होता है तब संस्कारों से ऊपर उठकर इस सत्य का साक्षात्कार कर पाना सहज हो जाता है। 'जोग ते ज्ञाना' कहकर इसी तथ्य को प्रकट किया गया है।

ज्ञान के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि होती है यह कहना ही बन्धन के मिथ्यात्व की सूचना देता है। यदि बन्धन वास्तविक होता तो ज्ञान-मात्र से उसका उच्छेद असम्भव था। ज्ञान का कार्य भ्रान्ति का निवारण करना मात्र है। ज्ञान-दीपक प्रसंग में बन्धन की इस विलक्षणता के कारण ही उसे अकथ कहानी कहकर प्रस्तुत किया गया है :

सुनहु तात यह अकथ कहानी।
समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

बन्धन के मिथ्यात्व के कारण ही ज्ञान को मोक्षप्रद बताया गया है। इस तरह धर्म से वैराग्य, योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष की परम्परा का वर्णन करने के पश्चात् प्रभु सबसे अन्त में भक्तियोग की सराहना करते हैं। वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि भक्तियोग से मैं शीघ्र द्रवित होता हूँ। कर्म, योग और ज्ञान का मार्ग जहाँ पुरुषार्थ प्रधान है वहाँ भक्तियोग भगवत्कृपा पर आश्रित है।

मनु-जैसा महापुरुष जो धर्म का साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करता है स्वयं में वैराग्य का अभाव पाता है :

तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला।
प्रभु आयसु बहुबिधि प्रतिपाला॥

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदय अधिक दुखु लाग जनम गयउ हरि भगत बिनु॥

यदि धर्मशास्त्र का निर्माता ही उस परिणाम की उपलब्धि नहीं कर पाता, जिसका वर्णन शास्त्रों में किया गया है, तब अन्य लोग उसकी आशा कैसे कर सकते हैं। योग-साधना के लिए युक्ताहार-विहार से युक्त जीवन की आवश्यकता है। क्षण-भर का असंयम और प्रमाद भी योग को रोग का हेतु बना सकता है। ज्ञान की अकथ कहानी आरम्भ से लेकर अन्त तक इतनी जटिल है कि उसे घुणाक्षर-न्याय से ही हृदयंगम किया जा सकता है :

कहत कठिन, समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ऐसी स्थिति में भक्त कर्मयोग और ज्ञान-साधना के स्थान पर प्रभु का आश्रय लेता है। धर्म क्या है, इसके निर्णय का भार वह प्रभु पर छोड़ देता है। योग की जटिल साधना के स्थान पर वह एक नन्हे बालक की भाँति पूरी तरह ईश्वर पर निर्भर हो जाता है। माया के बन्धन से मुक्त होने के सारे प्रयास उसे व्यर्थ जान पड़ते हैं। वह कह उठता है, "यद्यपि श्रुतियों ने मुक्ति के लिए अनेक उपाय बताये हैं किन्तु सबसे सरल यही है कि जिसने इस माया के बन्धन का निर्माण किया है वही इससे मुक्त भी कर दे।"

हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन धाम बिबुध दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौ दीजै परम उदार॥
बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुण जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुखु कौतुक राम तिहारो।
है श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै॥

श्रीलक्ष्मण को उपदेश देते हुए प्रभु स्वयं यह स्वीकार कर लेते हैं कि वे भक्ति के द्वारा शीघ्र ही द्रवित हो जाते हैं। द्रवित होने का तात्पर्य पिघल जाना है। द्रवताहीन वस्तु अपने सहज रूप में विद्यमान रहती है। वस्तु के पिघल जाने पर

उसे अपनी इच्छानुकूल आकृति प्रदान की जा सकती है। योग और ज्ञान के द्वारा ईश्वर के सहज स्वरूप का ज्ञान होता है, किन्तु भक्ति के द्वारा न केवल ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान ही प्राप्त होता है अपितु प्रेम के द्वारा द्रवित ब्रह्म को भक्त अपेक्षित आकृति प्रदान करता है। इसीलिए मनु यह कह उठते हैं कि यद्यपि श्रुतियों ने आपके 'अगुण, अखंड और अनादि' रूप का प्रतिपादन किया है किन्तु भक्तों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए आप लीलास्वरूप ग्रहण करते हैं। इसी मान्यता के आधार पर मैं यह आशा करता हूँ कि मेरी अभिलाषा पूर्ण होगी :

अगुण अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहि परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
शंभु बिरंचि विष्णु भगवाना।
उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

इस तरह भक्त न केवल मुक्त हो जाता है अपितु वह ईश्वर को भी प्रेम-पराधीन बनाकर अपनी इच्छा के अनुकूल संचालित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। जिस भक्ति के द्वारा ऐसी अद्भुत उपलब्धि होती है वह भक्तों को सुखदायी हो यह स्वाभाविक ही है।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

सूपनखा रावन कै बहिनी ।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।।

अर्थ—शूर्पणखा नामक रावण की एक बहन थी, जो नागिन के समान भयानक और दुष्ट हृदय की थी।

ऐतिहासिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से शूर्पणखा का चरित्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् राम और रावण के संघर्ष की मुख्य प्रेरिका के रूप में शूर्पणखा का व्यक्तित्व ही सामने आता है। निशाचरों के वध की प्रतिज्ञा करने पर भी लंकेश्वर के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने का कोई उचित कारण उपलब्ध नहीं हो रहा था। शूर्पणखा के स्वेच्छाचारी चरित्र ने इस कार्य को सरल बना दिया। गोस्वामी जी ने इस विलक्षण नारी का परिचय देने के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया, वह गम्भीर संकेतों से भरी हुई है।

सर्वप्रथम उसका परिचय रावण की 'बहिनी' के रूप में दिया गया। यह परिचय परम्परा से हटकर ही दिया गया था। परम्परया किसी भी स्त्री का परिचय जिन सम्बन्धों के आधार पर दिया जाता है, उनके केन्द्र हैं पिता, पति और पुत्र। कन्या के रूप में उसका स्मरण व्यक्ति विशेष की पुत्री के रूप में किया जाता है। युवती, पति के नाम से सम्बद्ध करके पुकारी जाती है। पुत्रवती होते ही उसका मातृरूप मुख्य हो जाता है और वह शिशु के सम्बन्ध से गौरव प्राप्त करती है। किन्तु शूर्पणखा के परिचय में इन तीनों ही सम्बन्धों की उपेक्षा की गई है। वह

पुत्र, पत्नी और माता के स्थान पर रावण की बहन के रूप में पुकारी जाती है। पहले जिन तीनों सम्बन्धों की चर्चा की गई है उनके साथ एक श्लोक जुड़ा हुआ है जिसमें यह कहा गया है कि कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा पिता करता है। युवावस्था में वह पति के द्वारा रक्षिता होती है। प्रौढ़ावस्था में पुत्र उसकी सुरक्षा का भार ग्रहण करता है। किसी भी अवस्था में स्त्री को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जाना चाहिए :

बाल्ये पितुर्वशं तिष्ठेत्पाणि ग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

शूर्पणखा ऐसे किसी भी सम्बन्ध को जिसमें परतन्त्रता की अनुभूति हो, महत्त्व देने की मनःस्थिति में नहीं थी। वह पूर्ण नारी-स्वातन्त्र्य की प्रवर्तिका थी। परतन्त्रता एक ऐसा शब्द है जिसके प्रति किसी के मन में आकर्षण नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता की अभिलाषा व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियों में से एक है। किन्तु सही सन्दर्भ के अभाव में दोनों ही शब्द भिन्न अर्थ की अनुभूति कराने लगते हैं।

संस्कृत साहित्य में बहुधा नारी-स्वातंत्र्य का विरोध किया गया है। मानस में भी उसी परम्परा का पालन करते हुए "जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी" का उद्घोष किया गया है। वस्तुतः प्रथम दृष्टि में यह नारी-विरोधी स्वर प्रतीत होता है, किन्तु सारे सन्दर्भ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका तात्पर्य नारी को उत्पीड़ित करना नहीं है। प्रत्येक वस्तु को जिसे मूल्यवान माना जाता है सुरक्षित रखने की चेष्टा की जाती है। एक काँच को किसी मञ्जूषा में बन्द करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु रत्न सर्वदा मञ्जूषा में ही सुरक्षा प्रवन्धों के बीच रखा जाता है। रत्न की इस पराधीनता की तुलना में काँच की स्वतन्त्रता वस्तुतः उसकी मूल्यहीनता का ही प्रमाण है। यह स्वतन्त्रता काँच के प्रति उपेक्षा की ही सूचक है।

प्राचीन काल में नारी को सौन्दर्य और सुकुमारता के प्रतीक के रूप में देखा जाता रहा है। पौरुष और शौर्य-प्रधान पुरुष पर ही उसकी रक्षा का भार था। उसकी परतन्त्रता से तात्पर्य कारागार की परतन्त्रता से नहीं है। यहाँ परतन्त्रता सुरक्षा का पर्याय है। इसलिए उपर्युक्त श्लोक में भी बार-बार 'रक्षति' शब्द का प्रयोग किया गया है। जब किसी को कारागार में बन्दी बनाया जाता है तब उसमें सुरक्षा के स्थान पर दंड देने का ही उद्देश्य सामने रहता है। किन्तु जब घर में किवाड़, ताले और प्रहरी की व्यवस्था की जाती है तब उसमें सुरक्षा की भावना ही कार्य करती है। स्त्री का पारतंत्र्य भी दंडमूलक न होकर सुरक्षामूलक ही है।

किन्तु शूर्पणखा भूलकर भी किसी ऐसे सम्बन्ध को स्वीकार करने की मुद्रा में

न थी जिसमें पारतन्त्य की थोड़ी भी झलक विद्यमान हो। लक्ष्मण ने उसके विवाह के प्रस्ताव के उत्तर में जिस शब्दावली का प्रयोग किया था उसका उद्देश्य शूर्पणखा की मनोवृत्ति पर कटाक्ष करना ही था। राघवेन्द्र के व्यंग्य को सही रूप में हृदयङ्गम न कर पाने के कारण शूर्पणखा लक्ष्मण के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर जाती है। तब उन्होंने इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया, "सुंदरी मैं उनका दास हूँ, मैं स्वतः पराधीन हूँ, इसलिए तुम्हारे लिए यहाँ सुपास नहीं हो सकता। प्रभु समर्थ कौशलपुर के राजा हैं वे जो भी करेंगे उन्हें सब कुछ-शोभा देगा।"

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा॥
प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।
जो कछु करहिं उनहि सब छाजा॥

श्रीलक्ष्मण का तात्पर्य यह था कि क्या तुम जैसी स्वातंत्र्य-प्रिय नारी के लिए यह उपयुक्त होगा कि वह परतन्त्रता के दोहरे बन्धन को स्वीकार करे? एक तो विवाह स्वयं पारतंत्र्य का परिचायक है, और फिर जब वह एक परतन्त्र दास से किया जाए तब उसकी भीषणता का कहना ही क्या? श्रीलक्ष्मण के तर्क शूर्पणखा के मनोभावों के अनुरूप थे इसीलिए वह उनसे प्रभावित होकर पुनः श्रीराम के पास लौट जाती है। शूर्पणखा उच्छृंखलता को ही स्वतन्त्रता का पर्याय मानती है, सम्बन्ध और निष्ठा उसके लिए पारतन्त्र्य-सूचक हैं इसलिए वह स्वयं इनसे दूर रहती है। शूर्पणखा विधवा थी। उसके पति विद्युज्जिह्व का वध स्वयं रावण ने अपने हाथों से किया था। किन्तु क्षणिक दुःख के बाद उसके लिए यह दुर्घटना वरदान बन गई। उसकी यथेच्छाचारिता का मार्ग खुल गया। पुराने सम्बन्ध की स्मृति वह भूलकर भी नहीं करना चाहती। झूठे कुमारित्व का ढिंढोरा पीटती हुई श्रीराम से कहती है, "मेरे योग्य कोई पुरुष सारे ब्रह्माण्ड में उपलब्ध नहीं हुआ इसलिए अब तक मैं कुमारी हूँ। तुम्हें देखकर मुझे यत्किञ्चित् सन्तोष प्राप्त हुआ है।"

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।
देखेउँ खोजि लोक तिहु नाहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी।
मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

वस्तुतः विद्युज्जिह्व का वध कर रावण ने शूर्पणखा के स्वेच्छाचार का मार्ग

प्रशस्त कर दिया। इसलिए वह रावण की बहन कहलाने में ही गौरव का अनुभव करती है। रावण की बहन होते हुए भी वह समुद्र से घिरी हुई लंका में रहना पसन्द नहीं करती। वह नगर के स्थान पर वन का चुनाव करती है। लगता है परतन्त्रता के प्रत्येक प्रतीक से वह घृणा करती है। समुद्र और भवन के प्राचीर उसे परतन्त्रता के प्रतीक जान पड़ते होंगे। दण्डकारण्य का वन उसकी उन्मुक्त प्रवृत्ति के अनुरूप था। शूर्पणखा के परिचय में दूसरे जिस शब्द का प्रयोग किया गया है वह है 'दुष्ट हृदय' और इसके स्पष्टीकरण के लिए उसकी तुलना सर्पिणी से की गई है।

श्रेष्ठ लोगों को भी कभी-कभी नीति-वाक्य के अनुकूल शठ के प्रति शठता का आचरण करना पड़ता है। "शठे शाठ्यं समाचरेत्" का नीति-वाक्य प्रसिद्ध ही है। किन्तु शूर्पणखा के जीवन में वह नीति-वाक्य न होकर उसके स्वभाव का अंग बन चुका है। सर्पिणी निर्दयता की पराकाष्ठा के रूप में स्मरण की जाती है। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" के सिद्धान्त को उसने झुठला दिया है। वह स्वयं अपने ही पुत्रों को खा जाती है। सम्भवतः अपने बहुसंख्यक पुत्रों की उपस्थिति को वह स्वयं के प्रति चुनौती के रूप में लेती होगी। अविश्वास की पराकाष्ठा के कारण उसे यह भय सताता होगा कि कहीं उसके पुत्र बड़े होकर उसे ही न डस लें। दूसरों को मारने वाले बहुधा अपनी मृत्यु के प्रति बहुत सशंक होते हैं। सर्पिणी में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान है अथवा सर्पिणी के लिए अपनी क्षुधा की पूर्ति ही सब-कुछ है। संसार में माताएँ स्वयं भूखी रहकर भी पुत्रों को भोजन कराती हैं किन्तु सर्पिणी अपने ही पुत्रों द्वारा अपनी क्षुधा शान्त करती है। इसका तात्पर्य यह है कि सकाम व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति के लिए अपने प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति को भी विनष्ट करने में संकोच का अनुभव नहीं करता। शूर्पणखा के द्वारा भी यही भूमिका सम्पन्न की गई है। अपनी वासना की पूर्ति के लिए वह अपने समस्त बन्धु-बान्धवों को विनष्ट करा देती है।

आध्यात्मिक अर्थों में शूर्पणखा अविद्या-माया की प्रतीक है। शूर्पणखा के आगमन से कुछ दिन पूर्व प्रभु ने लक्ष्मण को अविद्या-माया का परिचय देते हुए उसके लिए भी मिलती-जुलती शब्दावली का प्रयोग किया था। प्रभु ने बताया कि माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। विद्या प्रभु का बल और प्रेरणा पाकर सृष्टि का निर्माण करती है। अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःख देने वाली है। इसी के कारण जीव भवकूप में गिर पड़ता है :

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा॥

एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

अविद्या का कार्य भेद की सृष्टि करना है। जीव उस पथिक की भाँति है जो प्यास के मारे भटक रहा है, अविद्या तृप्ति का आश्वासन देकर उसे भवकूप तक ले जाती है। पथिक को कुएँ में झाँकने की प्रेरणा देती है। वह उससे कहती है, जरा झाँककर देखो तो कितना अगाध जल इस कूप में भरा हुआ है। पथिक ने उसके वाग्जाल से प्रभावित होकर कुएँ में झाँका कि वह माया के द्वारा पीछे से धकेल दिया जाता है। बेचारा तृप्ति के स्थान पर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। "जा बस जीव परा भवकूपा" का तात्पर्य यही है। शूर्पणखा का कार्य भी जीव को नीचे की ओर धकेलना है। यह बात और थी कि वह मात खा गई। श्रीराम और लक्ष्मण पर उसका कोई जादू नहीं चला। यह दोनों ज्ञान और वैराग्य के प्रतीक हैं। भक्ति-संयुक्त ज्ञान और वैराग्य ही अविद्या के प्रलोभन से अपने को बचा पाते हैं। वैराग्य के समक्ष अविद्या की आंतरिक कुरूपता प्रकट हो जाती है। माया की वास्तविकता को समझ लेने पर उसके विशाल परिवार को विनष्ट करना सरल हो जाता है। उत्तरकाण्ड में अविद्या-माया के विशाल परिवार का वर्णन किया गया है :

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही॥
× ×
यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमित को बरनै पारा॥

शूर्पणखा के विरूपीकरण के पश्चात् लंका के राक्षसों का विनाश करना सरल हो गया।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सूपनखहिं समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भाँति।
गयउ भवन अति सोचबस नींद परइ नहिं राति॥

× ×

खर-दूषण मोहि सम बलवन्ता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता॥

अर्थ—शूर्पणखा को समझाकर रावण ने अनेक प्रकार अपने बल का वर्णन किया। वह अपने भवन में गया किन्तु सोच के कारण उसे रात्रि-भर नींद नहीं आई। खर-दूषण तो मेरे समान बलवान थे, उन्हें बिना भगवान् के कौन मार सकता है।

प्रारम्भ से ही यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद रहा है कि क्या रावण श्रीराम के ईश्वरत्व को पूरी तरह समझ चुका था। कुछ विद्वानों की यह सुदृढ़ मान्यता रही है कि रावण जान-बूझकर ईश्वर से शत्रुता का अभिनय कर रहा था। वह निश्चित रूप से श्रीराम को पहचान चुका था। अपने मत की पुष्टि के लिए वे मानस की उपर्युक्त पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। दूसरी ओर कुछ लोगों की भावनाएँ उतनी ही उग्र हैं। वे यह प्रश्न बार-बार उठाते हैं कि क्या जगज्जननी का अप-हरण करने के बाद उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए शृंगारिक भाषा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति भक्त हो सकता है ? अनेक अवसरों पर इस प्रश्न को लेकर मानस-वक्ताओं में बड़े कटु विवाद हो चुके हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इस प्रश्न पर विचार करने की चेष्टा की जायेगी।

रावण का व्यक्तित्व विरोधाभासों का पुञ्ज है। किसी एक प्रसंग अथवा कुछ पंक्तियों के माध्यम से उसके चरित्र को सही अर्थों में समझ पाना सर्वथा

असम्भव है। उपर्युक्त जिन पंक्तियों के माध्यम से उसे भक्त सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है क्या वे वस्तुतः भक्त-परम्परा के अनुकूल हैं ? खर-दूषण और त्रिशिरा की मृत्यु से आतंकित रावण के अन्तःकरण में एक क्षण के लिए जो विचार उदित होते हैं, उसे ज्ञान न कहकर ज्ञानाभास कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। सघन अंधकार में जब एक व्यक्ति दीपक प्रज्ज्वलित करता है, तब उसका उद्देश्य प्रकाश में उन वस्तुओं को सही रूप में देखना होता है, जिन्हें वह सघन तम के कारण नहीं देख पाता। इसके प्रतिकूल एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें, जो वर्षा ऋतु की घनी अँधेरी रात में चोरी करने के लिए जा रहा हो; अचानक आकाश में बिजली चमक उठे। दीपक की तुलना में बिजली का प्रकाश न जाने कितना अधिक होगा, पर प्रश्न तो यह है कि क्या प्रकाश की यह क्षणिक चमक चोर को आनन्दित कर सकती है ? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं होगा। उसका अन्तःकरण प्रकाश की उपस्थिति में और भी अधिक आतंकित हो उठता है। क्षणिक प्रकाश में उसका मार्ग भले ही प्रकाशित हो उठे, पर यह प्रकाश उसे फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। बिजली के प्रकाश में स्वयं देख लिये जाने की कल्पना उसे भयभीत कर देती है। अंधेरे में दीपक प्रज्ज्वलित करने वाले की तुलना उस साधक से की जा सकती है जो ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित कर सत्य के शोध में संलग्न है। किन्तु रावण के अन्तर्मन में कौंधने वाला प्रकाश अंधकार-प्रिय चोर की भाँति आतंक की ही सृष्टि करता है। यह प्रकाश उसके लिए सर्वथा अनपेक्षित है। ईश्वर को जानने की जिज्ञासा रावण के अन्तःकरण में कभी जाग्रत नहीं हुई। उसका तमोमय जीवन इस दिशा में सोचने की प्रेरणा ही नहीं देता है। खर-दूषण और त्रिशिरा की मृत्यु उसे क्षण-भर के लिए झकझोरकर रख देती है। ब्रह्मा और शंकर से वरदान प्राप्त कर वह मृत्यु की ओर से सर्वथा निश्चिन्त हो चुका था। खर आदि के बारे में भी उसकी ऐसी ही धारणा थी, क्योंकि उन्होंने भी तपस्या के द्वारा कुछ ऐसे ही अद्भुत वरदान प्राप्त किये थे। इस समाचार को सुनते ही उसके अन्तर्मन में हठात् ईश्वर की बात उठ खड़ी होती है। वस्तुतः यह उसके अन्तर्मन में छिपे हुए ईश्वर-सम्बन्धी संस्कार की परिचायक थी। बुद्धि-पूर्वक स्वयं को नास्तिक मानने वाले के मुख से ईश्वर का नाम सुनकर सामने वाला व्यक्ति कभी-कभी चौंक पड़ता है। आश्चर्यचकित-सा पूछ बैठता है—"आप और ईश्वर !" शायद क्षण-भर के लिए आस्तिक व्यक्ति का मन इस शुभ-कामना से आनन्दित हो उठता है कि यह व्यक्ति भी सम्भवतः ईश्वर को मानने लगा है। किन्तु निरीश्वरवादी का उत्तर उसे पुनः निराश कर देता है। वस्तुतः कोई व्यक्ति जन्मजात निरीश्वरवादी नहीं होता। सभी व्यक्तियों की भाँति बाल और किशोरावस्था में उसे ईश्वर के सम्बन्ध में सुनने को मिलता ही रहता है।

भले ही वह बड़ा होकर ईश्वर की सत्ता को अप्रामाणिक मानने लगे। किन्तु पुराने अभ्यास के कारण उसके मुख से निकलने वाला ईश्वर का नाम आस्तिकता के स्थान पर संस्कार-मात्र का परिचायक है। रावण की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की थी। जिसे वह असम्भव समझता था उसे सम्भव होता देख, उसे उन शास्त्र-वचनों की स्मृति हो आई होगी, जिनमें ईश्वर का लक्षण ही असम्भव को सम्भव बना देना बताया गया होगा :

कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ ईश्वरः।

इस तरह ईश्वरीय प्रकाश उसके मन में किसी प्रसन्नता की सृष्टि नहीं करता है और न यह विचार उसके मन में अधिक देर टिक ही पाता है। उसे लगता है कि यदि वह ईश्वर भी हों तो उनकी भक्ति कर पाना उसके लिए कदापि सम्भव नहीं है। रावण की मान्यता थी कि तमोगुणी शरीर के द्वारा ईश्वर का भजन सम्भव नहीं है :

होइ भजन नहिं तामस देहा।
मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा॥

मृत्युलोक में जन्म लेकर भी मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा के लिए घोर पुरुषार्थ करने वाला व्यक्ति कितना आत्मप्रवंचक हो सकता है, उपर्युक्त पंक्ति इसका ज्वलन्त दृष्टांत है। ईश्वर के अवतार की कल्पना करते हुए जहाँ वह क्षण-भर के लिए बुद्धि की भूमि में स्थित होता है, वहीं अगले क्षण मन की भूमि पर उतर आता है। वह मन के एक दास की भाँति बोल उठता है, "होइ भजन नहिं तामस देहा।" और उसके अगले ही क्षण उसका अहंकार चैतन्य हो जाता है और तब वह अहंकार-भरे अन्तःकरण से सोचता है—"सम्भव है वह एक शक्तिशाली राजकुमार-मात्र हो और तब उससे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। शूर्पणखा के अपमान के बदले में मैं उसकी पत्नी का अपहरण करूँगा। युद्धक्षेत्र में दोनों राजकुमारों को परास्त करूँगा।"

जौं नर रूप भूप सुत कोऊ।
हरिहउँ नारि जीति रण दोऊ॥

इस तरह प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले व्यक्ति को भक्त घोषित करना भक्ति-सिद्धान्त का अनादर है। ईश्वर के स्वरूप को पहचानने के लिए जिन साधना-पद्धतियों का मानस में संकेत किया गया है, क्या उनमें से रावण के जीवन में किसी एक का भी साक्षात्कार होता है? मानस के प्रारम्भ में भगवती उमा

और भगवान् शंकर की वंदना श्रद्धा और विश्वास के रूप में की गई है। क्योंकि श्रद्धा और विश्वास के अभाव में सिद्धजन भी अन्तःस्थ ईश्वर को देखने में समर्थ नहीं हो सकते हैं :

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

दूसरे प्रसंग में "पस्यन्ति यं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा" कह कर ईश्वर के साक्षात्कार के लिए मन और इन्द्रियों के संयम की बात कही गई है। महर्षि वाल्मीकि तो ईश्वर के रहस्य को जानने का एकमात्र उपाय उनकी कृपा ही मानते हैं। उनकी कृपा से उनको जान लेने वाला व्यक्ति तद्रूप हो जाता है :

जगु पेखन तुम्ह देखनि हारे।
विधि हरि सम्भु नचाव निहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

रावण का श्रद्धा और विश्वास से दूर का भी नाता नहीं है। असंयम का तो वह घनीभूत रूप ही है। प्रभु लीला की सुरक्षा के लिए स्वयं को जना ही कैसे सकते हैं। फिर किस पद्धति के द्वारा वह तथाकथित तत्त्वज्ञ ईश्वर को पहचान पाने में समर्थ होता ?

उसके अन्तःकरण में उठने वाले संकल्प-विकल्प की पृष्ठभूमि क्या है ? शूर्पणखा के मुख से खर-दूषण और त्रिशिरा की मृत्यु का समाचार सुनकर वह सभा से उठकर शयनागार में आता है। चिन्ता के मारे उसे निद्रा नहीं आती। पलंग पर पड़ा हुआ वह जो चिन्तन करता है, वही उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। ऐसी मनःस्थिति में ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की बात कहना धृष्टता है। यह तो एक अन्तर्मन का प्रलाप है। सन्निपातग्रस्त रोगी की भाँति उसके वाक्यों में परस्पर कोई संगति नहीं है। पहले वह सोचता है— "दोनों भाइयों को जीतकर सीता का हरण करूँगा।" किन्तु बाद में उसका यह विचार भी परिवर्तित हो जाता है और वह अपहरण की योजना को क्रियान्वित करने के लिए मारीच की सहायता प्राप्त करने का निर्णय करता है।

एक क्षण के लिए श्रीराम के ईश्वरत्व को लेकर उठने वाला संकल्प रावण

के जीवन में पुनः कभी जाग्रत नहीं हुआ। यहाँ मारीच के चरित्र से उसकी तुलना की जा सकती है। मारीच का वर्णन गोस्वामीजी ने एक ऐसे पात्र के रूप में किया है, जो अन्तर्मन में श्रीराम के ईश्वरत्व से पूरी तरह परिचित हो चुका है। किन्तु उसे बाहर प्रकट करने की परिस्थिति में वह नहीं है। बाहर उसे कपट-मृग का वेष बनाकर राम के समक्ष जाना पड़ता है किन्तु निश्चित मृत्यु का ज्ञान प्राप्त होने पर भी वह अन्तर्मन में पूरी तरह प्रसन्न है। वह अपने आनन्द को बाहर प्रकट नहीं होने देता :

अस जियँ जानि दसानन संगा।
चला राम पद प्रेम अभंगा॥
मन अति हरष जनाव न तेही।
आजु देखिहउँ परम सनेही॥
निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं॥
निर्बानदायक, क्रोध जाकर भगति अवसहि बस करी।
निज पानि सर सन्धानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी॥
मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि-फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

यदि वस्तुतः रावण के जीवन में भी इस प्रकार का अन्तर्प्रेम होता तो पूरे युद्ध-प्रसंग में गोस्वामीजी इसका चित्रण करना न भूलते। परन्तु उसका चित्र एक ऐसे व्यक्ति के रूप में आता है, जो अन्तर्मन से भयभीत और व्याकुल होता हुआ भी बाहर से स्वयं को निर्भय प्रदर्शित करने का प्रयास करता है :

क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगनपथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ॥

× ×

सुनत समय मन मुखु मुसकाई।
कहत दसानन सबहि सुनाई॥

× ×

सुनत श्रवन बारिधि बन्धाना।
दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥

उपर्युक्त सारी पंक्तियाँ यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट हैं कि उसके जीवन का ज्ञानाभास कभी भी स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। मानस का रावण भक्त नहीं है, यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा ।
जौ लगि करौं निसाचर नासा ॥
जबहिं राम सब कहा बखानी ।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी ॥

अर्थ—जब तक मैं राक्षसों का विनाश करूँ, तब तक तुम अग्नि में निवास करो । श्रीराघवेन्द्र ने ज्यों ही सब समझाकर कहा, त्यों ही श्रीसीता जी प्रभु के चरणों को हृदय में धरकर अग्नि में समा गईं ।

महामानव के रूप में श्रीराम के चरित्र को प्रस्तुत करना जितना सरल है, ईश्वर के रूप में उनके चरित्र का विश्लेषण और वर्णन अनेक जटिलताओं से पूर्ण है। इस कठिनाई को दृष्टिगत रखकर ही गोस्वामीजी यह कहते हैं कि सगुण को जानना अत्यन्त कठिन है । सगुण ब्रह्म के चरित्रों को देखकर मुनियों का मन भी भ्रमित हो जाता है :

निगुण रूप सुलभ अति सगुण न जानइ कोइ ।
सगुण, अगुण नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

गोस्वामीजी का श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति तीव्र आग्रह है। महर्षि वाल्मीकि की तुलना में उनका कार्य अत्यधिक जटिल है। वे पाठक को श्रीराम के ईश्वरत्व का स्मरण बहुधा कराते रहते हैं। श्रीसीता के अपहरण के पूर्व उपर्युक्त प्रसंग का प्रस्तुतीकरण इसी उद्देश्य से किया गया है। रावण के द्वारा श्रीसीता का अपहरण अनेक प्रश्नों को जन्म देता है। जनकनन्दिनी की अग्नि-

परीक्षा और उनका परित्याग ऐसी घटनाएँ हैं जो प्रबुद्ध पाठक को विचलित किये विना नहीं रहतीं। यद्यपि रामचरितमानस में मैथिली के परित्याग का प्रसंग नहीं आता, किन्तु वन्दना-प्रसंग में इसका संकेत उपलब्ध होता ही है, जहाँ गोस्वामी जी अयोध्या के नागरिकों के प्रति प्रभु की ममता का उल्लेख करते हुए पुरवासियों का स्मरण 'सिय निन्दक' के रूप में करते हैं। वन्दना-प्रसंग में अन्य पात्रों के प्रति नमन में उनके अनेक गुणों का स्मरण किया गया है, वहाँ वे अयोध्या के नागरिकों में कोई गुण नहीं ढूँढ़ पाते, केवल इसके कि उनके प्रति प्रभु की अपार ममता है। इसीलिए श्रीसीता की निन्दा-जैसे अपराध को भुलाकर प्रभु उन्हें अपने धाम में निवास देते हैं :

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी।
ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥
सिय निंदक अघ ओघ नसाए।
लोक बिसाक बनाइ बसाए॥

मैथिली की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग को भी वे संक्षेप में ही प्रस्तुत करते हैं। विशेष रूप से श्रीराघवेन्द्र के द्वारा श्रीसीता के प्रति कहे गये वाक्यों को वे अपने काव्य में स्थान नहीं देते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी को ये दोनों प्रसंग थोड़े भी प्रिय नहीं हैं। जिन लोगों ने मानव के रूप में श्रीराम का चित्रण किया है, वे मानवीय स्वभाव की दुर्बलता के रूप में अथवा अमर्यादित पुरुष के रूप में इसका समाधान दे सकते हैं। किन्तु ईश्वर राम के उपर्युक्त कार्य इस दृष्टि से समाधान नहीं दे सकते। यद्यपि तुलसी भी भगवान् राम के चरित्र को 'ललित नर लीला' के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, और इस दृष्टि से उपर्युक्त समाधान एक सीमा तक यहाँ भी लागू हो सकता है। किन्तु ऐसी लीला प्रस्तुत करने का उद्देश्य क्या है, जो मानव-मन में किसी सद्भाव की सृष्टि न करे। इसलिए तुलसी के लिए यह परमावश्यक था कि भगवान् राम की लीला को वे दार्शनिक और भावनात्मक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करें। प्रस्तुत प्रसंग इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चित्रित किया गया है।

लक्ष्मण वन में कंद, मूल, फल लेने के लिए जाते हैं। एकान्त क्षणों में सुअवसर देखकर प्रभु ने आद्याशक्ति से ये वाक्य कहे, "शीलमयी, प्रिय मिथिलेश-नन्दिनी ! मैं कुछ ललित नर लीला करना चाहता हूँ; इसलिए तुम तब तक अग्नि में निवास करो, जब तक मैं निशाचरों का विनाश न कर डालूँ।" श्रीराम का आदेश पाते ही वैदेही अग्नि में समा जाती हैं। अपने स्थान पर वे अपना प्रतिविम्ब स्थापित कर देती हैं। जो रूप-शील और नम्रता में उन्हीं के समान था। लक्ष्मण भी इस

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।
जौ लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी॥

अर्थ—जब तक मैं राक्षसों का विनाश करूँ, तब तक तुम अग्नि में निवास करो। श्रीराघवेन्द्र ने ज्यों ही सब समझाकर कहा, त्यों ही श्रीसीता जी प्रभु के चरणों को हृदय में धरकर अग्नि में समा गईं।

महामानव के रूप में श्रीराम के चरित्र को प्रस्तुत करना जितना सरल है, ईश्वर के रूप में उनके चरित्र का विश्लेषण और वर्णन अनेक जटिलताओं से पूर्ण है। इस कठिनाई को दृष्टिगत रखकर ही गोस्वामीजी यह कहते हैं कि सगुण को जानना अत्यन्त कठिन है। सगुण ब्रह्म के चरित्रों को देखकर मुनियों का मन भी भ्रमित हो जाता है :

निगुण रूप सुलभ अति सगुण न जानइ कोइ।
सगुण, अगुण नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

गोस्वामीजी का श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति तीव्र आग्रह है। महर्षि वाल्मीकि की तुलना में उनका कार्य अत्यधिक जटिल है। वे पाठक को श्रीराम के ईश्वरत्व का स्मरण बहुधा कराते रहते हैं। श्रीसीता के अपहरण के पूर्व उपर्युक्त प्रसंग का प्रस्तुतीकरण इसी उद्देश्य से किया गया है। रावण के द्वारा श्रीसीता का अपहरण अनेक प्रश्नों को जन्म देता है। जनकनन्दिनी की अग्नि-

परीक्षा और उनका परित्याग ऐसी घटनाएँ हैं जो प्रबुद्ध पाठक को विचलित किये बिना नहीं रहतीं। यद्यपि रामचरितमानस में मैथिली के परित्याग का प्रसंग नहीं आता, किन्तु वन्दना-प्रसंग में इसका संकेत उपलब्ध होता ही है, जहाँ गोस्वामी जी अयोध्या के नागरिकों के प्रति प्रभु की ममता का उल्लेख करते हुए पुरवासियों का स्मरण 'सिय निन्दक' के रूप में करते हैं। वन्दना-प्रसंग में अन्य पात्रों के प्रति नमन में उनके अनेक गुणों का स्मरण किया गया है, वहाँ वे अयोध्या के नागरिकों में कोई गुण नहीं ढूँढ़ पाते, केवल इसके कि उनके प्रति प्रभु की अपार ममता है। इसीलिए श्रीसीता की निन्दा-जैसे अपराध को भुलाकर प्रभु उन्हें अपने धाम में निवास देते हैं :

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी।
ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥
सिय निंदक अघ ओघ नसाए।
लोक बिसाक बनाइ बसाए॥

मैथिली की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग को भी वे संक्षेप में ही प्रस्तुत करते हैं। विशेष रूप से श्रीराघवेन्द्र के द्वारा श्रीसीता के प्रति कहे गये वाक्यों को वे अपने काव्य में स्थान नहीं देते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी को ये दोनों प्रसंग थोड़े भी प्रिय नहीं हैं। जिन लोगों ने मानव के रूप में श्रीराम का चित्रण किया है, वे मानवीय स्वभाव की दुर्बलता के रूप में अथवा अमर्यादित पुरुष के रूप में इसका समाधान दे सकते हैं। किन्तु ईश्वर राम के उपर्युक्त कार्य इस दृष्टि से समाधान नहीं दे सकते। यद्यपि तुलसी भी भगवान् राम के चरित्र को 'ललित नर लीला' के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, और इस दृष्टि से उपर्युक्त समाधान एक सीमा तक यहाँ भी लागू हो सकता है। किन्तु ऐसी लीला प्रस्तुत करने का उद्देश्य क्या है, जो मानव-मन में किसी सद्भाव की सृष्टि न करे। इसलिए तुलसी के लिए यह परमावश्यक था कि भगवान् राम की लीला को वे दार्शनिक और भावनात्मक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करें। प्रस्तुत प्रसंग इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चित्रित किया गया है।

लक्ष्मण वन में कंद, मूल, फल लेने के लिए जाते हैं। एकान्त क्षणों में सुअवसर देखकर प्रभु ने आद्याशक्ति से ये वाक्य कहे, "शीलमयी, प्रिय मिथिलेश-नन्दिनी! मैं कुछ ललित नर लीला करना चाहता हूँ; इसलिए तुम तब तक अग्नि में निवास करो, जब तक मैं निशाचरों का विनाश न कर डालूँ।" श्रीराम का आदेश पाते ही वैदेही अग्नि में समा जाती हैं। अपने स्थान पर वे अपना प्रतिबिम्ब स्थापित कर देती हैं। जो रूप-शील और नम्रता में उन्हीं के समान था। लक्ष्मण भी इस

रहस्य से परिचित नहीं थे :

लछिमन गए बनहिं जब लेन मूल फल कंद।
जनकसुता सन बोले बिहसि कृपा सुख बृंद॥
सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।
जौ लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तँह सीता।
तैसइ सील रूप सुबिनीता॥
लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।
जो कछु चरित रचा भगवाना॥

तत्त्वतः श्रीसीता एवं श्रीराम सर्वथा अभिन्न हैं। गिरा और अर्थ, जल और वीचि की भाँति उनमें कोई भिन्नता है ही नहीं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

जैसे प्रभा को सूर्य से और चन्द्रिका को चन्द्र से पृथक् करना असम्भव है, उसी तरह श्रीसीता और राम को भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। वन-यात्रा के प्रसंग में जब श्रीराघवेन्द्र ने मैथिली से घर में रहने का अनुरोध किया, तब उन्होंने इन्हीं दृष्टान्तों के माध्यम से प्रभु से प्रश्न किया कि क्या उनके लिए प्रभु से पृथक् हो पाना सम्भव है ?

प्रभा जाइ कँह भानु बिहाई।
कह चन्द्रिका चंद तजि जाई॥

शूर्पणखा और रावण दोनों ही देहवादी हैं। श्रीसीता और राम की देह उन्हें पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं। इसलिए इन दोनों में वे अभिन्नता की कल्पना भी नहीं कर सकते। शूर्पणखा और रावण दोनों की यह कल्पना थी कि सीता और राम को एक-दूसरे से अलग कर उन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल संचालित किया जा सकता है। शूर्पणखा से वार्तालाप करते हुए भी श्रीराम की दृष्टि जिस तरह श्रीसीता में आबद्ध थी, उससे शूर्पणखा यह निष्कर्ष निकालती है कि इस

राजकुमारी के रहते हुए श्रीराम पर अधिकार पाना कठिन है। इसी तरह रावण की भी मान्यता यही है कि राजकुमार के सन्निकट रहने पर वह सीता की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न शैली में इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं।

तात्त्विक दृष्टि में इन दोनों का वियोग असम्भव है। किन्तु रावण के विनाश के लिए जिस क्रोध की आवश्यकता थी, उसका कोई-न-कोई निमित्त तो बनना ही चाहिए। आद्याशक्ति का वियोग ही इसका उचित माध्यम बन सकता था। इसलिए विश्व के रंगमंच पर वियोग की लीला प्रस्तुत की गई। शक्ति सर्वव्यापिनी है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में प्रभु ने उनसे अग्नि में निवास करने का अनुरोध किया। वैसे श्रीसीता स्वयं को पृथ्वी के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं, किन्तु पृथ्वी के स्थान पर अग्नि में निवास करने की आज्ञा प्रतीकात्मक अर्थों में बड़े महत्त्व की है। शक्ति स्वयं को जिन माध्यमों से प्रकट करती है, उसके ही अनुरूप गुण का अभिव्यक्तीकरण भी उसके चरित्र के माध्यम से होता है। पृथ्वी सर्वसहा और क्षमामयी है। पृथ्वी की पुत्री के रूप में जन्म लेकर बाल्यावस्था से दण्डकारण्य-निवास की लीला तक उनके धैर्य और क्षमा-शीलता का परिचय ही प्राप्त होता है। रावण के विनाश के लिए क्षमा और सहिष्णुता अपेक्षित गुण नहीं हैं। अग्नि का प्रसिद्ध गुण दाहकता और प्रकाश है। विश्व-कल्याण के लिए इस समय इन्हीं दोनों गुणों की अपेक्षा थी। निशाचरों के द्वारा फैलाया गया अंधकार मिटाकर विश्व को अभिशाप से पूरी तरह मुक्त करने के लिए अग्नि-गुण ही पूरी तरह समर्थ था। "तुम्ह पावक मँहु करहु निवासा" का अभिप्राय यही है।

राक्षसों के विनष्ट होते ही मैथिली की यह भूमिका समाप्त हो जाती है और तब वे अग्नि-परीक्षा के माध्यम से सीता को पुनः अभिव्यक्त करते हैं :

सीता प्रथम अनल महुँ राखी।
प्रगट कीन्ह चह अन्तरसाखी॥
तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानीं सब लागीं करै बिषाद॥

रामराज्य की स्थापना में लक्ष्मी-गुण की अपेक्षा थी। इसलिए इसके बाद वैदेही का स्वरूप लक्ष्मी के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। पुष्पकारूढ़ श्रीराम की झाँकी से लेकर रामराज्य की स्थापना तक अनेक पंक्तियों में श्रीसीता जी को इसी रूप में चित्रित किया गया है :

सिंहासन अति उच्च मनोहर।
श्री समेत प्रभु बैठे तापर॥

राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि।।

× ×

श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई।।

× ×

मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे।।

× ×

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितवन सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ।।

मानस के प्रारम्भ में जगज्जननी सीता की वन्दना गोस्वामीजी सृजन, पालन और संहारकारिणी शक्ति के रूप में करते हैं :

उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।

सृजन, पालन और संहार का वर्णन बहुधा इसी क्रम से किया जाता है, किन्तु लीला में वे पहले उद्भव, मध्य में संहार और अन्त में पालनकर्त्री के रूप में आती हैं। पृथ्वी की पुत्री के रूप में धरणी की सृजनशक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। अग्नि में निवास करती हुई वे संहार-शक्ति के रूप में दिखाई देती हैं और अन्त में वे लक्ष्मी के रूप में विश्व का पोषण करती हुई प्रतीत होती हैं। इस क्रम-परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि संहार कभी साध्य नहीं हो सकता। जीवन को पोषण प्रदान करना ही उनका चरम लक्ष्य है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

उभय भाँति देखा निज मरना।
तब ताकिसि रघुनायक सरना॥
× ×
अस जियँ जानि दसानन संगा।
चला राम पद प्रेम अभंगा॥

अर्थ—उसने दोनों प्रकार से अपनी मृत्यु निश्चित समझकर श्रीरघुनायक की शरण ली।

ऐसा हृदय में समझकर वह रावण के साथ चला। श्रीराम के चरणों में उसका अखण्ड प्रेम है।

मानस में प्रभु के अनेक उत्कृष्ट प्रेमियों के चित्र चित्रित किये गए हैं। भिन्नता होते हुए भी उनमें परस्पर साम्य ही अधिक दिखाई देता है। किन्तु मारीच इन सबसे सर्वथा भिन्न है यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। वह एक ऐसा प्रेमी है जिसके प्रेम का श्रीगणेश शत्रुता से हुआ। जीवन के मध्य में विश्व के प्रत्येक पदार्थ में प्रियतम का साक्षात्कार करते हुए भी उनसे बोलने का सुअवसर प्राप्त नहीं कर सका और जिसके जीवन का अन्त अपने आराध्य के बाणों से हुआ। मानस ही नहीं, विश्व के इतिहास में ऐसी प्रेम-गाथा उपलब्ध नहीं हो सकती, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। गोस्वामीजी बड़ी सरलता से उसका चित्रण एक कपटी राक्षस के रूप में कर सकते थे, जैसा अन्य लेखकों ने किया है। पर वे उसे एक महान् प्रेमी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। और उसके प्रेम की विलक्षणता को प्रकट करने के लिए प्रेम के साथ 'अभंगा' विशेषण का प्रयोग करते हैं। अभंगा का तात्पर्य है जो किसी प्रकार भी विनष्ट न हो सके। सत्य तो यह है

कि विश्व को अपने संकल्प से विनष्ट करने वाला ईश्वर बाण चलाकर भी उसके प्रेम को नष्ट करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए अभंगा शब्द का प्रयोग मारीच से अधिक अन्य किसी के लिए सार्थक नहीं हो सकता है।

मारीच बड़ी ही विलक्षण परिस्थितियों में प्रथम बार प्रभु के समक्ष आता है। राक्षस जाति में वह पहला व्यक्ति था जो श्रीराम के समक्ष किशोरावस्था में जाकर मृत्यु के मुख से अछूता लौट आया। मारीच और सुबाहु दोनों ही ताड़का के पुत्र थे। मुनियों के यज्ञ को विध्वंस करना इनके जीवन का व्रत था। महर्षि विश्वामित्र इनके अत्याचार से मुक्त होने के लिए ही अयोध्या जाकर यज्ञ-रक्षा के लिए श्रीराम और लक्ष्मण को माँग लाते हैं। इस यात्रा के प्रारम्भ में ही ताड़का का वध श्रीराघवेन्द्र के द्वारा कर दिया जाता है। स्वभावत: इससे मारीच और सुबाहु अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं। वे पूरी सेना और शक्ति के साथ महर्षि के यज्ञ पर आक्रमण करते हैं। श्रीलक्ष्मण और भगवान् राम के द्वारा सुबाहु सहित सारी सेना विनष्ट कर दी जाती है। किन्तु न जाने क्या समझकर राघव ने मारीच का परित्याग कर दिया ! बिना फलके बाण द्वारा उसे समुद्र-तट पर फेंक देते हैं। बिना फलके इस बाण ने मारीच की मन:स्थिति को ही परिवर्तित कर दिया। स्वयं मारीच ने रावण के समक्ष अपने संस्मरण सुनाते हुए यह बताया कि समुद्र-तट पर आते ही मेरी मन:स्थिति ऐसी हो गई कि सर्वत्र मुझे राम का साक्षात्कार होने लगा :

मुनि-मख राखन गयउ कुमारा।
बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं।
तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं॥
भइ मम कीट भृंग की नाई।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥

नाम-वन्दना के प्रसंग में मारीच को दोष के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

रिषि हित राम सुकेतु सुता की।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥

दोष के प्रतीक के रूप में मारीच का उल्लेख किये जाने पर भी यह स्पष्ट

नहीं किया गया है कि वह किस दोष का प्रतीक है। पर उसकी समस्त मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने पर जान पड़ता है कि वह चिन्तन का ही घनीभूत रूप है। समस्त दोषों का श्रीगणेश चिन्तन से ही होता है। विषयों का चिन्तन करते-करते मनुष्य में उसको पाने की कामना उत्पन्न होती है। कामना के पश्चात् क्रोध का अथवा लोभ का उदय होता है। क्रोध से सम्मोह, बुद्धिनाश और अन्त में सर्व-नाश की स्थिति आ जाती है। गीता में इसी क्रम का उल्लेख प्राप्त होता है :

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

मारीच चिन्तन की कला में निपुण था इसलिए वह कोई भी रूप सरलता से ग्रहण कर सकता था। रावण को भी इसलिए उसका आश्रय लेना पड़ा। विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के प्रसंग में प्रभु के समक्ष यह प्रश्न रहा होगा कि क्या दुराशा और दुःख के साथ चिन्तन को भी विनष्ट कर दिया जाना चाहिए ? यदि विषयों का चिन्तन करने से व्यक्ति में दोषों का उदय होता है तो भगवद्चिन्तन से प्रेम का प्रादुर्भाव भी तो सम्भव है। चिन्तन को विनष्ट करने के स्थान पर उसे सही दिशा में मोड़ दिया जाना चाहिए। प्रभु के बाण के द्वारा यही प्रक्रिया सम्पन्न की गई। चिन्तन को वर्त्तमान केन्द्र से दूर कर दिया गया और तब वह "जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई" के रूप में परिणत हो गया।

नन्हे बालक को प्रारंभ में जब किसी वस्तु का स्वाद चखाने की चेष्टा की जाती है तब वह बहुधा मुँह बिचकाता है पर बाद में स्वाद की अनुभूति होते ही उसी वस्तु की चाह बार-बार करने लगता है। किसी वस्तु का चिन्तन व्यक्ति सुख और रस की अभिलाषा से ही करता है। भगवद्-रस का अनुभव न होने से ही वह विषय में रस ढूँढ़ने और पाने की चेष्टा करता है। मारीच की मनःस्थिति ठीक इसी प्रकार की थी। बाण के द्वारा उसे भगवच्चिन्तन का जो "जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई" के रूप में रस प्राप्त हुआ उसने द्वेष के स्थान पर उसके अन्तः-करण में राग की सृष्टि की। उसके अन्तःकरण में प्रेम के एक नवीन अर्थ का उदय हुआ। सामीप्य और मिलन की आकांक्षा का उदय प्रेम में होता है इसे तो सभी जानते हैं, किन्तु मारीच ने प्रहार और दूरीकरण में जिस रस का अनुभव किया उससे उसे यह ज्ञात हो गया कि प्रहार में भी प्यार हो सकता है और प्रत्यक्ष रूप से दूरीकरण प्रतीत होने पर भी प्रतिक्षण प्रियतम के सामीप्य का अनुभव किया जा सकता है। इसलिए उसका प्रेम इच्छा-पूर्ति की किसी कल्पित धारणा पर

आधारित न होकर समग्र समर्पण की भावना पर आधारित हो गया। जहाँ सम्मान और कुछ पाने की आशा लेकर प्रेम किया जाता है वहाँ प्रतिकूल परिस्थिति में उसका विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। इसलिए देवर्षि नारद प्रेम को गुण और कामना से शून्य बताते हैं :

गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्

मारीच का जीवन इस समग्र सूत्र का ज्वलन्त उदाहरण है :

'गुणरहितम्' : वह यह कल्पना नहीं करता है कि प्रभु में कोमलता, क्षमा आदि गुण हैं, इसलिए वह प्रेम करने योग्य हैं। क्रोध और संहार की कल्पना उसे विचलित नहीं करती। उसे इन दोषयुक्त प्रतीत होने वाली क्रियाओं में भी प्रेम की ही अनुभूति होती है।

'कामनारहितम्' : प्रभु से वह किसी प्रकार की कामना नहीं करता है। भोग या मुक्ति इनमें से उसे कोई भी अभीष्ट नहीं था। उच्च-से-उच्च कोटि के भक्तों ने प्रभु से मुक्ति की याचना तो की ही है। मारीच इस विषय में भी सर्वथा मौन है।

'प्रतिक्षण वर्धमानम्' : रावण के आदेश से जब वह स्वर्णमृग के रूप में प्रभु के समक्ष चलता है तब उसे यह भली प्रकार ज्ञात था कि वह मृत्यु की दिशा में बढ़ रहा है। पर उसका प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है :

मन अति हरष जनाव न तेही।
आज देखिहउँ परम सनेही।।
निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्री सहित अनुज-समेत-कृपा-निकेत पद मन लाइहौं।।
निर्बान-दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी।।
मम पाछें धर धावत, धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन।।

'अविच्छिन्नम्' : प्रभु के बाण के द्वारा भी उसका प्रेम छिन्न-भिन्न नहीं हुआ। बाण लगने पर भी वह प्रभु का स्मरण प्रेम-भरे हृदय से ही करता है :

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।
सुमिरेसि रामु समेत सनेहा।।

'सूक्ष्मतरम्' : मारीच की किसी बाह्य क्रिया के द्वारा यह समझ पाना सर्वथा

असम्भव था कि वह एक भक्त अथवा उत्कृष्ट प्रेमी है।

'अनुभवरूपम्' : उसके दिव्य स्नेह की अनुभूति एकमात्र प्रभु को छोड़कर किसी को भी नहीं होती :

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

अपने बलिदान के द्वारा उसने प्रभु की लीला का पथ प्रशस्त कर दिया। लोकदृष्टि से वह रावण के आज्ञाकारी सेवक के रूप में कपट-मृग का वेश बनाकर प्रभु से छल करता है। वह कहावतों में कपट और छल का प्रतीक बन चुका है। आज भी कपटी व्यक्ति को लोग मारीच की संज्ञा देते हैं पर स्वदृष्टि से वह प्रभु का शरणागत था। शरणागति की समग्रता के कारण ही वह यह समझ गया कि प्रभु की लीला की पूर्ति के लिए उसके प्राणों के बलिदान की आवश्यकता है। प्रभु के संकल्प का ज्ञान होने से पहले उसके मन में एक हिचकिचाहट थी और वह रावण को भी इस प्रयास से विरत करना चाहता था। किन्तु प्रभु की ओर जाते हुए उसकी सारी दुविधा समाप्त हो जाती है। वह हर्ष-भरे अन्तःकरण से प्रभु की ओर प्रस्थान करता है। प्रारम्भ में उसकी मनःस्थिति बाध्यता से प्रेरित जान पड़ती है। वह सोचता है कि नौ प्रकार के व्यक्तियों से विरोध करने में कल्याण नहीं होता है। उत्तर देते ही यह अभागा मेरा वध कर देगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं होगा कि मेरी मृत्यु प्रभु के बाण से हो :

तब मारीच हृदयँ अनुमाना।
नवहि विरोधें नहिं कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी।
बैद बंदि कबि भानस-गुनी॥
उभय भाँति देखा निज मरना।
तब ताकिसि रघुनायक सरना॥
उतरु देत मोहि बधब अभागें।
कस न मरौं रघुपति सर लागें॥

पर शरणागति की समग्रता में अचानक वह अत्यन्त हर्षित हो उठता है। क्योंकि उसके अन्तर्यामी ने मानों उसे यह बता दिया कि तुम्हारा यह कार्य मेरी "ललित नर लीला" की पूर्ति के लिए है। अपने प्राणों की आहुति देकर वह प्रेम-यज्ञ को पूर्ण कर देता है। उसके प्रेम के लिए अभंग शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जाहु बेगि संकट अति भ्राता।
लछिमन बिहसि कहा सुनु माता॥
× ×
मरम बचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥

अर्थ—तुम जल्दी जाओ, तुम्हारे भाई पर अत्यन्त संकट पड़ा है। यह सुनकर लक्ष्मण बहुत हँसे और कहा माता सुनिए।

जब श्रीसीता जी के द्वारा 'मरम बचन' बोला गया तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीलक्ष्मण जी का मन डोल गया।

विश्व के साहित्य में लक्ष्मण-जैसे अप्रतिम अनुरागी और सर्वत्यागी पात्र की सृष्टि की गई हो, मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता है। लक्ष्मण से रहित राम के व्यक्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। लक्ष्मण के लिए राम को छोड़कर विश्व में और कुछ प्राप्तव्य नहीं है। गुरु, पिता, माता, पत्नी, परिवार, समृद्धि, कीर्ति आदि सभी वस्तुओं को वे प्रभु की सेवा के लिए निछावर कर चुके हैं। इनकी अस्वीकृति में वे एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करते हैं। वे प्रभु से स्पष्ट शब्दों में बता देते हैं कि उनके लिए गुरु, पिता, माता का कोई महत्त्व नहीं है :

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
× ×
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी॥
दीनबंधु उर अंतरजामी॥

धरम-नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

ऐसा अनोखा प्रेमी जब संशय का पात्र बन जाये और वह संशय भी ऐसे पात्र के मन में जाग्रत हो जिनकी सेवा के लिए लक्ष्मण ने सर्वत्याग कर दिया हो तब इसे दैव की विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? सुमित्रा अम्बा ने वन-यात्रा के लिए उद्यत लक्ष्मण को प्रोत्साहित करते हुए स्मरण दिलाया था कि वे वन जाकर किसी त्याग का परिचय नहीं दे रहे हैं। उस बालक को वन में क्या चिन्ता हो सकती है जिसे सीता और राम-जैसे वात्सल्यमय माता-पिता प्राप्त हों?

तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू।
सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥

वह वात्सल्यमयी माँ अपने पुत्र के प्रति जिन कटु उक्तियों का प्रयोग करती है उनकी कल्पना भी असह्य है। इसलिए तुलसी-जैसा अनन्य रामानुरागी सीता की कटु उक्तियों को अपने काव्य में लिखने के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। वह केवल इतना ही लिखना यथेष्ट मानता है कि उनके द्वारा जिन मर्मान्तिक वचनों का प्रयोग किया गया उनसे लक्ष्मण-जैसा धैर्यशाली सेवक भी विचलित हो उठा। वैदेही के अन्तःकरण को यह बात जीवन-भर सालती रही कि उन्होंने लक्ष्मण के प्रति ऐसी वाक्यावली का प्रयोग किया जिसके वे कदापि पात्र नहीं थे। और सम्भवतः लंका के रणाङ्गण में प्रभु द्वारा उनके प्रति कही गई कटु उक्तियों को उन्होंने मौन भाव से सह लिया, उन क्षणों में उन्हें अवश्य अपने उस संशय की स्मृति हो आई होगी जो उनके मन में लक्ष्मण के प्रति जाग्रत हो गया था। इसे उन्होंने लक्ष्मण के प्रति किये गए अपने अपराध का सार्वजनिक दण्ड माना हो यह स्वाभाविक प्रतीत होता है। वे लक्ष्मण से परीक्षा के समय अग्नि लाने का अनुरोध करते समय मानों मन-ही-मन स्वीकार करती हैं कि तुम्हारा चरित्र इतना निष्कलुष है कि उसे सिद्ध करने के लिए किसी प्रकार की अग्नि-परीक्षा की आवश्यकता नहीं है पर तुम्हारे हाथ से लाई गई अग्नि मेरी शुद्धता को प्रमाणित करेगी। वस्तुतः यह कभी न मिट सकने वाली कसक थी। पर यह कैसे सम्भव हुआ कि मिथिलेश-नन्दिनी ने लक्ष्मण के प्रति ऐसी अनौचित्यपूर्ण भाषा का प्रयोग किया?

कवि द्वारा उपर्युक्त पंक्ति में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है वह भी अपना विशेष अर्थ रखती है। "मरम बचन जब सीता बोला" का 'बोला' शब्द पाठक को चौंकाता है। एक महान् कवि व्याकरण की ऐसी भद्दी भूल कैसे

कर सकते हैं ? इस शब्द ने विद्वानों को न केवल चौंकाया है अपितु संशोधन की प्रेरणा प्रदान की है। अनेक विद्वानों ने 'बोला' को 'बोली' बनाकर कवि की भूल को परिमार्जित करने का प्रयास किया है। अनेक प्रतियों में यह पाठ इस प्रकार है :

मरम बचन जब सीता बोली।
हरि प्रेरित लछिमन मति डोली॥

'बोला' शब्द के पीछे तुलसी की भावुकता को न समझ पाने के कारण ही ऐसी चेष्टा की गई है। वस्तुतः कवि यहाँ कर्त्ता-प्रधान वाक्य के स्थान पर कर्म-प्रधान वाक्य की सृष्टि करता है। "जब सीताजी के द्वारा मर्म वचन बोला गया" इस प्रकार अर्थ करने में व्याकरण की कोई असंगति नहीं रह जाती। यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस प्रकार का अर्थ करने के लिए द्राविड़ प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या है ? वस्तुतः इस वाक्य का प्रयोग कर कवि सीताजी के दोष को परिमार्जित करना चाहता है। 'बोली' में जहाँ सीताजी की प्रधानता है वहाँ 'बोला गया' में वे मुख्य नहीं रह जातीं। मानों इस प्रकार की वाणी का प्रयोग उनके मुख से किये जाने पर वे किसी अन्य के द्वारा प्रेरित होकर इस वाक्यावली का प्रयोग कर रही हैं। श्रीसीता स्वयं भी कुछ ऐसा ही अनुभव करती हैं। इसलिए वे त्रिजटा के समक्ष अपने वचनों की व्याख्या इस रूप में करती हैं जैसे किसी ने बलात् उनके मुख से ऐसे वाक्य कहला दिये हों। मैथिली को ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने उन्हें दुःख देने के लिए उनसे ऐसी भूलें करा दीं :

जेहि कृत कपट कनक मृग झूठा।
अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए।
लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥
रघुपति बिरह सबिष सर भारी।
तकि तकि मार बार बहु मारी।
ऐसेहुँ दुख जो राख मम प्राना।
सोइ बिधि ताहि जिआव न आना॥

सत्य तो यह है कि लक्ष्मण को विचलित कर पाना इतना असम्भव था कि इस प्रकार की वाक्यावली को छोड़कर किसी भी अन्य उपाय से उन्हें वहाँ से दूर कर पाना सम्भव नहीं था। श्रीसीता के साथ मिलकर राघवेन्द्र ने एकान्त में जिस 'ललित नर लीला' की योजना बनाई थी उसका सबसे अधिक कठिन

भाग यही था। रावण-वध के लिए प्रतिबिम्ब-रूपा सीता का हरण परमावश्यक था। किन्तु मृग के पीछे जाते-जाते राम लक्ष्मण को एक आदेश देकर जाते हैं। वन में अनेक राक्षस विचरण कर रहे हैं ऐसी परिस्थिति में समय के अनुकूल बल-बुद्धि और विवेक का प्रयोग करते हुए श्रीसीता के रक्षण का भार तुम पर है :

प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई।
फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥
सीता केरि करेहु रखवारी।
बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥

लक्ष्मण सन्नद्ध होकर संरक्षण में संलग्न थे। कोई भी भय अथवा प्रलोभन उन्हें विचलित नहीं कर सकता। मारीच के द्वारा उच्चरित अपना नाम सुनकर भी वे सर्वथा अडिग रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन्हें अपने स्थान से हटाने का क्या उपाय हो सकता था ? सीताजी ने आदेश के स्वर में उनसे कहा—तुम्हारे भाई पर बहुत बड़ा संकट पड़ा हुआ है तुम्हें शीघ्र उनकी सहायता के लिए जाना चाहिए :

आरत-गिरा सुनी जब सीता।
कह लछिमन सन परम सभीता॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता।
लछिमन बिहसि कहा सुनु माता॥

किन्तु आदेश का प्रभाव तो दूर इसे सुनकर लक्ष्मण हँस पड़ते हैं। प्रभु के ऊपर संकट आने की बात उन्हें इतनी उपहासास्पद प्रतीत होती है कि वे अपनी हँसी नहीं रोक पाते। ऐसी स्थिति में लीला की पूर्णता के लिए उस भीषण वाक्य-बाण का प्रयोग करना पड़ा जिसका कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। अनेक कटु वचनों के साथ-साथ वैदेही प्राण के परित्याग की धमकी भी दे देती हैं, ऐसा अन्य रामायणों से ज्ञात होता है। ऐसी परिस्थिति में सुरक्षा के लिए नियुक्त लक्ष्मण के समक्ष कोई विकल्प ही शेष नहीं रह जाता कि वे उनसे दूर चले जायें।

आध्यात्मिक अर्थों में मिथिलेश-नन्दिनी को भविष्य में जो दुःख प्राप्त होने वाला था उसकी यह पूर्व भूमिका थी। इसका श्रीगणेश स्वर्ण-मृग की कामना से होता है। स्वर्ण-मृग को लाने के लिए प्रभु को भेज देना साध्य को साधक का पद दे देना है। मारीच के स्वर को प्रभु का स्वर समझ लेना यह दूसरी भ्रान्ति थी। सर्वशक्तिमान् ईश्वर पर संकट की कल्पना ईश्वर के बल के प्रति अविश्वास प्रकट करता है। ईश्वर के दूर चले जाने पर भी सन्त का सामीप्य सुरक्षा का सबसे

बड़ा साधन था। किन्तु उस सन्त के चरित्र में अविश्वास का उदय समग्र बुद्धि-व्यामोह को प्रकट करने वाला है। वास्तविक सन्त के प्रति अविश्वास का परिणाम तत्काल सामने आ जाता है। सन्त-वेशधारी रावण स्वयं में विश्वास उत्पन्न कर उन्हें लक्ष्मण द्वारा खींची गई रेखा को लाँघने के लिए प्रेरित करने में सफल हो जाता है। और अन्त में वैदेही को मोहनगर में बंदी होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। विश्वास के अभाव में भक्ति देवी सुरक्षित नहीं रहती हैं। यह इस लीला का उद्देश्य है :

बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम॥

श्रीलक्ष्मण को जो महान् पीड़ा झेलनी पड़ी उसके पीछे 'विहँसने' का अनौचित्य भी एक कारण माना जा सकता है। प्रेम में अनिष्ट की आशंका शीघ्र होती है इसका ज्ञान श्रीलक्ष्मण से अधिक किसी को भी नहीं था। सेना सहित श्रीभरत के आगमन का समाचार सुनकर जिस प्रकार वे उत्तेजित हो उठे थे वह स्वयं ही इसका एक दृष्टान्त है। प्रभु पर संकट की कल्पना से श्रीसीता का व्याकुल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में उन्हें गम्भीर सान्त्वना की आवश्यकता थी। ऐसे अवसर पर जोर से हँस पड़ना समय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। मैथिली को सबसे तीव्र आघात इसी हँसी से लगा होगा। सम्भवतः उत्तेजना की पराकाष्ठा में विदेहजा की वाणी से जो कठोर वाक्य निकले वह इस हँसी की ही अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या के रूप में थे। श्रीलक्ष्मण की हँसी में प्रभु के पौरुष के प्रति प्रगाढ़ विश्वास प्रतिध्वनित हो रहा था। लक्ष्मण को इस हँसी के कारण कम संताप नहीं भोगना पड़ा, न जाने कितने समय के लिए उनके होठों से हँसी गायब हो गई। प्रभु का आँसुओं से भरा मुखमण्डल उन्हें व्यथित बनाता रहा। लक्ष्मण प्रभु के समक्ष उनके ऐश्वर्य की स्मृति दिलाते हुए नहीं दिखाई देते हैं। यह एक अनोखी बात है कि प्रभु पर संकट की बात सुनकर हँस पड़ने वाला महान् भक्त प्रभु के रुदन को अस्वाभाविक मानकर हँसी में नहीं टाल सका। सम्भवतः लीला-रस की अनुभूति में बाधक विवेक को वे दूर से ही नमस्कार कर लेते हैं।

वाणी और हँसी जैसी साधारण प्रतीत होने वाली वस्तुएँ कभी-कभी कैसे परिणामों की सृष्टि कर देती हैं इस प्रसंग से यह भी सीखा जा सकता है।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

सुनत बचन दससीस रिसाना।
मन महुँ चरन बंदि सुख माना ।।

अर्थ—वचन सुनते ही रावण को क्रोध आ गया । परन्तु मन में उसने सीता-जी के चरणों की वन्दना करके सुख माना ।

रावण को भक्त सिद्ध करने के लिए मानस की जो पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं उनमें उपर्युक्त पंक्ति अन्यतम है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे रावण वाणी के द्वारा जो-कुछ कह रहा था उससे भिन्न भावना उसके मन में विद्यमान थी । यद्यपि इससे पूर्व और बाद के प्रसंग से रावण के सद्भाव की पुष्टि नहीं होती है । प्रस्तुत पंक्ति के पीछे गोस्वामीजी की भावना को हृदयंगम करने के लिए सारे प्रसंग के विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है । पूर्व प्रसंगों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि खर-दूषण और त्रिशिरा की मृत्यु के समाचार ने रावण को कुछ समय के लिए अस्त-व्यस्त कर दिया था । इन्हीं क्षणों में उसके अन्तःकरण में एक भय कौंध उठा था—"क्या ईश्वर ही राम के रूप में अवतरित होकर आ गया है ?" किन्तु रावण का अहंकार इतनी सरलता से इसे स्वीकार कर लेने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ । सीता के अपहरण की योजना वह राम को राजकुमार के रूप में मानकर ही बनाता है :

जौं नररूप भूपसुत कोऊ।
हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥

अपने संशय की प्रामाणिकता को परखने के लिए ही वह मायामृग के प्रयोग का निर्णय करता है। खर-दूषण की मृत्यु ने उसके मन में राम की सर्व-शक्ति-मत्ता का भ्रम उत्पन्न कर दिया था। शास्त्रों के महान् पंडित रावण को स्वभावतः यह स्मरण आया होगा कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् ही नहीं सर्वज्ञ भी है। मायामृग के द्वारा वह उनकी सर्वज्ञता की परीक्षा ही लेना चाहता था। उसने युक्तिसंगत ढंग से यह निर्णय किया कि यदि वे मृग की वास्तविकता को पहचान लेते हैं तो इसका तात्पर्य है कि वे सर्वज्ञ ईश्वर हैं। ऐसी स्थिति में वह उस विचार को क्रियान्वित करता जो उसने शयनागार में किये थे। उसका निर्णय था कि "यदि वे ईश्वर होंगे तो मैं उन्हें बलपूर्वक चुनौती देकर लड़ूँगा और उनके बाण के द्वारा मृत होकर मुक्ति का भागी बनूँगा।"

तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥

किन्तु ईश्वर उसकी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। स्वर्ण-मृग के पीछे भागने वाला व्यक्ति ईश्वर हो सकता है अब इसे वह स्वप्न में भी स्वीकार करने की मनःस्थिति में नहीं रहा। स्वभावतः उसका सारा ध्यान सीता को अपहृत करने की योजना में केन्द्रित हो गया। उसे यह पूरी तरह विश्वास हो गया कि मारीच का स्वर सुनकर वैदेही लक्ष्मण को अवश्य श्रीराम के पास भेजेंगी। हुआ भी यही। रावण की दृष्टि में उसका संकल्प साकार हो रहा था। लक्ष्मण के जाते ही वह आश्रम में प्रविष्ट होकर वैदेही से वार्तालाप करता है। कुछ क्षणों में ही मैथिली उसकी वाणी से सशंक हो जाती हैं। वे उसे फटकारते हुए कहती हैं— "यती ! तुम दुष्टों की भाँति वाणी का प्रयोग कर रहे हो।"

कह सीता सुनु जती गोसाईं।
बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥

रावण तत्काल परिचय देता हुआ अपना रूप प्रकट कर देता है। विदेहजा भयभीत होते हुए भी रावण की भर्त्सना करने लगती हैं। "दुष्ट ठहर जा, प्रभु आने ही वाले हैं। जैसे एक क्षुद्र खरगोश सिंह-वधू को पाने की इच्छा करे, तेरा लालच उसी प्रकार का है। लगता है तेरी मृत्यु निकट आ गई है।"

कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा।
आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा॥

जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा।
भएसि काल-बस निसिचर नाहा॥

जगज्जननी के वाक्यों को सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठता है। साथ ही मन में चरण-वंदना करता हुआ सुख भी मानता है। प्रश्न यह है कि रावण के जिस क्रोध की चर्चा की गई है वह केवल अभिनय था अथवा यथार्थ ? गोस्वामीजी उसके क्रोध को अभिनय के रूप में प्रस्तुत नहीं करते हैं। यहाँ बालि-प्रसंग से तुलना की जा सकती है। बालि पर बाण-प्रहार करने के पश्चात् प्रभु जब उसके समक्ष आ कर खड़े होते हैं तब गोस्वामीजी के शब्दों में बालि के मुख पर कठोर शब्द होते हुए भी उसके हृदय में प्रीति थी :

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।
बोला चितइ राम की ओरा॥

किन्तु रावण की स्थिति ठीक इसी प्रकार की नहीं है। उसका क्रोध यथार्थ था, सत्य तो यह है कि क्रोध उसके अन्तःकरण में स्थायी भाव के रूप में विद्यमान था। इसके बाद भी जब वह मैथिली को रथ पर बैठाता है तब क्रोध और भय की भावनाओं से अभिभूत था :

क्रोधवंत तब रावन, लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन-पथ आतुर, भयँ रथ हाँकि न जाइ॥

"मन महुँ चरन बंदि सुख माना" का क्षणिक सद्भाव उसकी भक्ति-भावना का सूचक नहीं है। यह ज्ञान के स्थिर प्रकाश के स्थान पर सीता की तेजस्विता-भरी वाणी का ही प्रभाव था जो रावण के अन्तःकरण में चरण-वंदना की प्रेरणा प्रदान करता है। पतिव्रताओं की तेजस्विता से रावण अपरिचित नहीं था। वस्तुतः इस चरण-वन्दना का प्रयोग वह रक्षा-कवच के रूप में करना चाहता है। पतिव्रता सीता कहीं उसे अपनी तेजस्विता से भस्म न कर दें इस आशंका से प्रेरित होकर ही वह कुछ क्षणों के लिए वन्दनीयता की भावना को सामने कर लेता है। अपहरण से लेकर अशोक वाटिका के प्रसंग तक उसकी यह चेष्टा बार-बार सामने आती है।

रावण के क्षणिक सद्भाव की तुलना सन्निपात-ग्रस्त व्यक्ति के व्यवहार से की जा सकती है। एक उन्मत्त व्यक्ति यदि किसी के चरणों में नमन करे तो क्या उसकी यह कहकर प्रशंसा की जा सकती है कि वह नम्र और विवेकी हो गया है ? पागल जितनी सरलता से चरणों में नमन करता है उतनी ही शीघ्रता से

प्रहार के लिए भी प्रस्तुत हो जाता है। विनयपत्रिका में इसी को गोस्वामीजी मन के पागलपन के रूप में चित्रित करते हैं। वे कह उठते हैं, हे दीनबन्धु कारुणिक प्रभु मेरा मन त्रिविध ज्वाला से युक्त होकर पागल के समान भटक रहा है। कभी वह क्षण-भर के लिए योगरत हो जाता है तो अगले ही क्षण भोगों में डूब जाता है। तीसरे क्षण वह वियोगी बनकर व्याकुल हो उठता है। कभी मोह के वशीभूत होकर लोगों को कष्ट पहुँचाता है तो कभी दयालुता का प्रदर्शन करने लगता है। कभी स्वयं को दरिद्र के रूप में देखता है तो कभी अभिमान में उन्मत्त हो जाता है। कभी पंडित तो कभी पाखंडी, कभी अधर्म तो कभी धर्म, कभी इसकी दृष्टि में सारा विश्व धनमय तो कभी शत्रुमय प्रतीत होने लगता है। कभी सारे विश्व में इसे नारी-सौन्दर्य का ही अनुभव होने लग जाता है। इस तरह सन्निपातजन्य भीषण दुःख का बिना आपकी कृपा के विनाश नहीं हो सकता। यद्यपि शास्त्रों ने संयम, जप, तप, नेम, धर्म और व्रत के रूप में अनेक ओषधियों का वर्णन किया है किन्तु प्रभु के चरणों में प्रेम के बिना रोग का पूरी तरह विनाश नहीं हो सकता है :

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध जुर, करत फिरत बौराई॥
कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ हठ वियोगबस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ज्ञानी॥
कबहुँ देव ! जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-संनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै॥
संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज-समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

रावण के व्यक्तित्व में इसकी प्रत्येक पंक्ति सार्थक सिद्ध होती है। कभी वह तपस्या और योग में संलग्न हो जाता है :

कीन्ह बिबिध तप तीनिउ भाई।
परम उग्र नहिं बरनि सो जाई॥

तो कभी विश्व से सुन्दरियों के संग्रह में संलग्न हो जाता है :

देव जच्छ गंधर्ब नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बर सुंदर बहु नारि॥

कभी विश्वद्रोह में संलग्न होकर लोगों से अनावश्यक संघर्ष में जुट जाता है :

किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा।
हठि सबहि के पंथहि लागा॥

तो कभी हनुमानजी के द्वारा सेना का भीषण संहार किये जाने पर भी दयालुता का प्रदर्शन करते हुए मेघनाद को उन्हें केवल बाँधकर लाने का आदेश देता है :

मारेसि जनि सुत बाँधेसि ताही।
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥

कभी नम्रता की प्रतिमूर्ति बनकर मारीच को प्रणाम करता है तो अगले ही क्षण उसे मूर्ख कहकर मारने के लिए प्रस्तुत हो जाता है :

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा।
नाइ माथ स्वारथ रत नीचा॥
× ×
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।
कहु जग मोहि समान को जोधा॥

कभी दरिद्र की भाँति चोरी के लिए चल पड़ता है :

जाके डर सुर असुर डेराहीं।
निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥

कभी अभिमानी भूप के रूप में गर्व का प्रदर्शन करता हुआ दिखाई देता है :

सेन बिलोकि सहज अभिमानी।
बोला बचन क्रोध जनु सानी॥

कभी मंदोदरी के समक्ष उसकी बतकही की गूढ़ व्याख्या करता हुआ अपनी मूढ़ता का परिचय देता है :

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि।
समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥

जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई।
एहि बिधि कहेहु मोरि प्रभुताई ॥

तो कभी मेघनाद की मृत्यु पर ज्ञानी पंडित के समान उपदेश देने लग जाता है :

तब दसकंध बिबिध बिधि समुझाईं सब नारि।
नस्वर रूप जगत यह देखहु हृदय बिचारि ॥

धन के प्रति उसकी आसक्ति उसे यक्षों से लंका छीनने की प्रेरणा देती है :

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी।
बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी ॥
× ×
दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई।
सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लै गए पराई ॥
× ×
सुंदर सहज अगम अनुमानी।
कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥

कभी उसका अन्तःकरण शत्रु भावापन्न हो जाता है। और तब उन्हें पराजित करने और पीड़ा पहुँचाने के लिए योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने में संलग्न हो जाता है। वह अपने सैनिकों को यज्ञ नष्ट करने का आदेश देता है जिससे भूख से व्याकुल देवता उसकी शरण में आने के लिए बाध्य हो जायें :

सुनहु सकल रजनीचर जूथा।
हमरे बैरी बिबुध बरूथा ॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई।
देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥
तेन्ह कर मरन एक बिधि होई।
कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥
द्विज भोजन मख होम सराधा।
सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥

छुधा छीन बलहीन सुर सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ भली भाँति अपनाइ॥

मानस रोगों की दृष्टि से वह एक सन्निपात-ग्रस्त रोगी है। काम, क्रोध और लोभ तीनों का मन में उदय सन्निपात-ग्रस्त होने का लक्षण है :

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्निपात दुखदाई॥

रावण के जीवन में तीनों विकार चरम पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए हैं। उसकी सारी चेष्टाएँ सन्निपात-ग्रस्त पागलपन की परिचायक हैं। 'रिसाना' और 'चरन बंदि सुख माना' में भी उसकी इसी वृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। यदि उसके अन्तःकरण में बालि और मारीच की भाँति प्रेम होता तो गोस्वामीजी कम-से-कम रावण की मृत्यु के क्षण में उसकी स्मृति उसी प्रकार करा देते जैसा कि उन्होंने मारीच और बालि के प्रसङ्ग में किया है :

मारीच : **प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।**
सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥

× ×

बालि : **राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।**
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥

अर्थ—जिस प्रकार कपट-मृग के साथ श्रीराम जी दौड़ चले थे सीताजी उसी छवि को हृदय में रखकर हरिनाम रटती रहती हैं।

अशोक वाटिका में बंदिनी विदेहजा की व्यथा को शब्दों में चित्रित कर पाना असम्भव है। मिथिलेश्वर की लाड़ली दुहिता चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ की वह पुत्रवधू जिसे नेत्रों की पुतली बनाकर रखा गया हो, प्रियजनों से दूर, अयोध्या और मिथिला से दूर, शिंशपा वृक्ष के नीचे बैठकर आँसू बहा रही हो यह चित्र किसे व्याकुल नहीं बना देता। परमधीर रामभद्र जिस प्रियतमा के अधरों को सूखा देखकर रो पड़े हों वह मिथिलेश-नन्दिनी क्रूर राक्षसियों से बीच में कैसी व्याकुलता का अनुभव करती होंगी इसे सोचते ही आँखें बरबस बरस पड़ती हैं। किन्तु इन विपरीत परिस्थितियों में वे जीवित रहीं, प्रतिकूलताओं के बीच में भी उनकी तेजस्विता यदि अमंद रही तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कौन-सी वस्तु थी जिसने इन विभीपिकाओं के बीच भी उन्हें जीवित रखा। गोस्वामी-जी उपर्युक्त दोहे में उस अमृत-शक्ति का उल्लेख करते हैं जो समस्त प्रतिकूलताओं के बीच में मैथिली का आश्रय बनी।

उनके भावराज्य में प्रतिक्षण प्रियतम की वह छबि सक्रिय थी जिसे उन्होंने वियोग की पूर्व वेला में देखा था। कपट-कुरंग के पीछे भागते हुए प्रियतम ही प्रति-

क्षण उनकी आँखों में समाये रहे। सोचता हूँ विदेहजा ने ध्यान के लिए इसी झाँकी का चुनाव क्यों किया ?

मैथिली ने अगणित बार प्रभु के सौन्दर्य को निहारा होगा। छवि के न जाने कितने चित्र उनके हृदय-पटल पर अंकित होंगे। सब एक-से-एक बढ़कर मधुर। मिथिलेश की वाटिका का वह अविस्मरणीय क्षण जब व्याकुलता से भरी हुई उनकी आँखें चारों ओर राजकुमार का अन्वेषण कर रही थीं, अचानक सखियों ने लता-कुञ्ज की ओट में छिपे हुए राघव की झाँकी का दर्शन कराया और वह छबि हृदय में समा गई :

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता॥
× ×
लता ओट तब सखिन्ह लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
× ×
लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

कुछ ही क्षणों में सखियों के अनुरोध पर मूँदे हुए नेत्र खुले और एक नई झाँकी सामने थी। लता का आवरण दूर हो चुका था। लगा बादलों के बीच चन्द्रमा निकल आया। पुष्प की कलियों और मोरपंख से सुसज्जित श्रृङ्गार एक अनुपम रस की सृष्टि कर रहा था। यह मयूर-पिच्छ मिथिलेशनन्दिनी द्वारा पालित मयूर का ही था। मानों अपने प्रगाढ़ अनुराग का संकेत देने के लिए ही राघवेन्द्र ने इसे मस्तक पर धारण कर लिया था। इस रूप-माधुरी को देखकर वैदेही की सुध-बुध जाती रही :

लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥
सोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा।
नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए।
श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥

बिकट भृकुटि कच घूघरवारे।
नव सरोज लोचन रतनारे॥

× ×

धरि धीरजु एक आलि सयानी।
सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
भूपकिसोर देखि किन लेहू॥
सकुचि सीयँ तब नयन उघारे।
सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे॥

पर सखियों का आग्रह राजमहल में लौटने के लिए बाध्य करता है। पर कैसी बेबसी थी जब शरीर कहीं और मन कहीं, चरण आगे दृष्टि पीछे :

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

व्याकुलता-भरी प्रतीक्षा के बाद दूसरे दिन धनुषयज्ञ के मण्डप में पुनः साक्षात्कार। गुरुजनों की इस विशाल भीड़ में दर्शन सरल नहीं था। फिर भी नेत्र वहाँ पहुँच ही गये जहाँ महर्षि विश्वामित्र के सन्निकट रामभद्र बैंठे हुए थे। गम्भीरता की प्रतिमूर्ति प्रभु आज कुछ भिन्न से प्रतीत हो रहे थे। गुरुजनों के निकट बैठने की उनकी अपनी एक मर्यादा थी और वही इस झाँकी में परिलक्षित हो रही थी। जनक-किशोरी भी दृष्टि को वहाँ से हटाकर सखियों की ओर लगा देती हैं, पर मन में तो वही अनुपम सौन्दर्य समाया हुआ था :

मुनि समीप देखे दोउ भाई।
लगे ललकि लोचन निधि पाई॥
गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥

मत्त गयन्द की चाल से धनुष की ओर बढ़ते हुए राघव को देखकर विदेहजा के अन्तःकरण में एक साथ परस्पर दो विपरीत भावनाओं का उदय हुआ। एक ओर तो लग रहा था कि प्रियतम की प्राप्ति का पथ प्रशस्त होने जा रहा है तो दूसरी ओर उनकी सुकुमारता पर दृष्टि जाते ही आशंकाओं का ज्वार उमड़कर धैर्य को बहाये दे रहा था। व्याकुलता-भरे वे क्षण, जब प्रत्येक निमेष कल्प के समान व्यतीत हो रहा था, मन में प्रार्थनाओं का प्रवाह चल रहा था। अन्त में सारी आशं-

काएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं। प्रभु की प्रेम-भरी दृष्टि किशोरीजी की व्याकुलता-भरी उन आँखों की ओर चली गयी जिनमें आँसू छलककर बाहर नहीं निकल पा रहे थे। अगले ही क्षण प्रभु की उपेक्षा-भरी दृष्टि धनुष पर पड़ी, बिजली-सी कौंध गयी। लोगों की दृष्टि खुली, टूटे हुए धनुष के पास प्रशान्त रामभद्र खड़े थे। हर्ष-विषाद की कोई रेखा वहाँ न थी। कैसी अनिर्वचनीय स्थिति हो गई थी। सीता चातकी ने स्वाति जल पा लिया :

सहजहिं चले सकल जग स्वामी।
मत्त मंजु बर कुंजर गामी॥
× ×
तब रामहि बिलोकि बैदेही।
सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही॥
मनहीं मन मनाव अकुलानी।
होहु प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सफल आपनि सेवकाई।
करि हितु हरहु चाप गरुआई॥
गननायक बरदायक देवा।
आजु लगें कीन्हिउँ तुअ सेवा॥
× ×
लोचन जलु रह लोचन कोना।
जैसें परम कृपन कर सोना॥
× ×
जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥
× ×
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसें।
चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसें॥
× ×
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें॥
× ×
सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती।
जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥

और तब वह सुअवसर आया जब प्रियतम के कण्ठ में जयमाल पहनाने के लिए उनके सन्निकट जाना पड़ा। जयमाल पहनाने के लिए हाथ उठे ही थे कि दृष्टि सौन्दर्य पर अटक गई। प्रियतम सिर झुकाये खड़े थे किन्तु जयमाल पहनाने का ध्यान ही न रहा। सखियों ने संगीत के माध्यम से संकेत दिया और जयमाल प्रभु के कण्ठ में सुशोभित हुई :

सतानंद तब आयसु दीन्हा।
सीताँ गमनु राम पहिं कीन्हा॥

× ×

जाइ समीप राम छबि देखी।
रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥

× ×

सुनत जुगल कर माल उठाई।
प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥

× ×

गावहिं छबि अवलोकि सहेली।
सियँ जयमाल राम उर मेली॥

उसके बाद के आनन्द का तो कहना ही क्या। अश्व पर आसीन दूलह-वेश में राघवेन्द्र को जानकी ने किसी गवाक्ष से न देखा हो ऐसा कैसे हो सकता था। पाणि-ग्रहण, भाँवरी, सिंदूरदान के वे दिव्य-चित्र कैसे भुलाये जा सकते थे जिन्हें देखकर विह्वल दर्शक भी स्वयं को भूल गये। वधू के रूप में अयोध्या आने के पश्चात् प्राणेश्वर को उन्होंने नित नये रूपों में देखा, सराहा, सौन्दर्यामृत का पान किया किन्तु मछली के समान आँखें प्यासी ही रहीं।

फिर वनवास की वह घड़ी आई जो लोगों के लिए पीड़ा और विह्वलता का सन्देश लेकर आई थी किन्तु मैथिली के लिए वे सुख के अनुपम क्षण थे। कोई अव-रोध नहीं, मर्यादा भंग की आशंका का भी कोई प्रश्न वहाँ नहीं था। प्रतिक्षण प्रियतम के रूप और स्नेह का साक्षात्कार। अयोध्या और मिथिला का सारा सुख विस्मृत हो गया :

राम संग सिय रहति सुखारी।
पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी।
प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥

नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।
हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय मनु राम चरन अनुरागा।
अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥

किन्तु अशोक वाटिका में बंदिनी विदेहजा इन सब मनोरम झाँकियों के स्थान पर कपट-कुरंग के पीछे भागते हुए श्रीराम का ध्यान ही निरन्तर करती रहीं। लगता है इसमें कुछ ऐसा था जो किसी अन्य झाँकी में उपलब्ध न था। कपट-कुरंग के पीछे प्रभु का भागना वैदेही के प्रति उनके प्रगाढ़तम प्रेम का परिचायक था। पूर्णकाम कभी किसी वस्तु को पाने के लिए व्यग्र नहीं दिखाई पड़ता, अयोध्या का विशाल वैभव उन्हें नहीं बाँध पाया। किन्तु मायामृग को पाने के लिए उन्होंने जितना श्रम किया सारे मानस में वह अद्वितीय है। इसके पीछे एकमात्र कारण था मैथिली की आकांक्षा को पूर्ण करने का प्रयास। प्रियतमा के प्रेम में ईश्वर अपनी सर्वज्ञता को ही भुला बैठा। उन्हें केवल इतना स्मरण रहा कि सीता ने मृग के सौन्दर्य की सराहना करते हुए उसका चर्म लाने का अनुरोध उनसे किया :

सीता परम रुचिर मृग देखा।
अंग अंग सुमनोहर बेषा॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥
सत्यसंध प्रभु बधि करि एही।
आनहु चर्म कहति बैदेही॥

यह राघवेन्द्र के राग की पराकाष्ठा थी। भगवान् व्यास रामभद्र के राग और विराग की पूर्णता के लिए जो पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं उनमें मारीच-प्रसङ्ग का स्मरण करना नहीं भूलते—"देवताओं के लिए दुस्त्यज अयोध्या की राज-लक्ष्मी का परित्याग करने में आपको क्षण-भर भी विलम्ब नहीं लगता है किन्तु दूसरी ओर प्रियां की आकांक्षा पूर्ण करने के लिए आप मायामृग के पीछे भागते हैं। हे महापुरुष, मैं आपके चरणों की वन्दना करता हूँ।"

त्यक्तवा सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज्यलक्ष्मीं,
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयित येप्सित मन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

विदेहजा प्रभु के प्रेम का स्मरण करती हुई बार-बार सोचती हैं जब मेरी इच्छा को पूर्ण करने के लिए वे मायामृग के पीछे दौड़ते हुए जाने में संकोच का अनुभव नहीं करते तब क्या वे मेरी रक्षा के लिए लंका में दौड़ते हुए नहीं आ जायेंगे। दौड़ते हुए रामभद्र की यह झाँकी अप्रतिम है। वे सहज गति से चलने के अभ्यस्त हैं, किन्तु इस संकट की वेला में वह गति मन को आश्वस्त नहीं करती है। अथवा भक्त-परम्परा के अनुकूल प्रभु का ध्यान सर्वथा अकेले नहीं किया जाता है। उनके साथ किसी-न-किसी भक्त का ध्यान किया जाता है। भक्त बहुधा श्रीकिशोरी जी के साथ ही प्रभु का चिन्तन करते हैं। किन्तु विदेहजा को लगा कि मेरी अपेक्षा मारीच ही अधिक सौभाग्यशाली है जिसके पीछे स्वयं प्रभु भाग रहे हैं। अतः प्रभु के साथ ध्यान का सर्वोत्कृष्ट माध्यम मारीच ही हो सकता है।

सत्य तो यह है कि मारीच के पीछे भागते हुए प्रभु ने भक्त-धर्म को ही स्वीकार कर लिया है। मैथिली का अनुसरण करते हुए गोस्वामीजी ने भी इसी झाँकी को मन में बसा लिया। विशेष रूप से 'धावनि' 'नवनि' 'बिलोकनि' 'बिथकनि' उनके मन में समा जाती है। गीतावली रामायण में वे इस झाँकी का बड़ा ही सजीव शब्द-चित्र अंकित करते हैं:

बैठे हैं राम लषन अरु सीता।
पंचवटी बर परनकुटी तर, कहैं कछु कथा पुनीता॥
कपट-कुरंग कनक मनिमय लखि प्रियसों कहति हँसि बाला।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला॥
प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गवहिं चाप-सर लीन्हें।
चल्यो भाजि, फिरि-फिरि चितवत मुनिमख-रखवारे चीन्हें॥
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसी उर आछे॥

बहुधा भक्त ही प्रभु को पाने के लिए 'धावनि' का आश्रय लेते हैं। सुतीक्ष्ण प्रभु के आगमन का समाचार सुनते ही विह्वल होकर दौड़ पड़ते हैं:

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा।
करत मनोरथ आतुर धावा॥

'नवनि' भी भक्त का ही स्वभाव है। प्रभु को देखते ही वह झुक जाता है:

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी॥

'विलोकनि' भी भक्त का ही धर्म है :

अस कहि भले भूप अनुरागे।
रूप अनूप बिलोकन लागे॥

प्रभु के सौन्दर्य को देखकर 'विथकित' हो जाना भी प्रेमियों के लिए स्वाभाविक है :

थके नयन रघुपति छबि देखे।
पलकन्हिहूं परिहरी निमेषे॥

मारीच के प्रसंग में प्रभु की करुणा की पराकाष्ठा का परिचय प्राप्त होता है। भक्त तो भगवान् को पाने का प्रयास करते ही हैं किन्तु यहाँ भगवान् ने ही कपट-मृग को पाने का प्रयास करते हुए भक्त-धर्म को स्वीकार कर लिया। बन्दिनी विदेहजा को लगा कि मैं तो यहाँ प्रभु को पाने का क्या प्रयास कर सकती हूँ, यहाँ तो मारीच को पाने के प्रयास में संलग्न प्रभु के करुणा-गुण की ही अपेक्षा है। वे स्वयं ही मुझे पाने का प्रयास करें तभी इस विपत्ति से त्राण पाना मेरे लिए सम्भव है।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

राम कहा तनु राखहु ताता।
मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जाकर नाम मरत मुख आवा।
अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें।
राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥

अर्थ—श्रीराम ने कहा कि शरीर रखिए। जटायु ने मुस्कराकर कहा कि जिसका नाम मृत्यु के समय लेने से पापी भी मुक्त हो जाता है ऐसा वेद गाते हैं। वही मेरे नेत्रों का विषय होकर सामने खड़ा है। हे नाथ ! अब मैं किस कमी के लिए देह को रखूं ?

मृत्यु की विभीषिका ने सारे संसार के प्राणियों को संत्रस्त कर रखा है। अमरता की आकांक्षा से प्रेरित होकर न जाने कितने लोगों ने अगणित उपायों का आश्रय लिया। कभी-कभी लगा कि व्यक्ति ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है, किन्तु अन्तिम संघर्ष में सदैव मृत्यु की विजय हुई। विश्व के इतिहास में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अवसर होते हुए भी अमरता को अस्वीकार कर मृत्यु का स्वागत किया है। इस प्रकार के लोगों में गीधराज जटायु भी एक हैं।

उनका संघर्ष एक ऐसे व्यक्ति से हुआ जो विश्व का अप्रतिम योद्धा था। अमरता को पाना ही जिसका चरम लक्ष्य था। तपस्या, उपासना और बलिदान के द्वारा वह केवल एक ही वरदान चाहता रहा—"हम काहू के मरहिं न मारे।" सिर कटने पर भी नये सिर निकलने का वरदान उसे प्राप्त हुआ और उसे यह निश्चय हो गया कि उसकी मृत्यु कभी नहीं होगी। इसीलिए सीता का अपहरण करके ले जाते हुए जब उसे चुनौती का स्वर सुनाई दिया तब वह आश्चर्यचकित

हो गया। विशेष रूप से जब उसे यह ज्ञात हुआ कि चुनौती देने वाले बूढ़े गीधराज जटायु हैं तब उसे ऐसा लगा कि यह बूढ़ा पक्षी जर्जर शरीर के बोझ को ढोते हुए थक चुका है। शरीर के परित्याग के लिए यह किसी तीर्थ की खोज में होगा और इसने मेरी भुजा के पावन तीर्थ में ही प्राण के परित्याग का निश्चय किया है :

जाना जरठ जटायू एहा।
मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा॥

गीधराज अतुलनीय पौरुष का प्रदर्शन करते हुए भी रावण के समक्ष पराजित हुए। दुर्दान्त दैत्य के हाथों उनके पंख काट दिये गए। उनका क्षत-विक्षत शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। पीड़ा के कठिन क्षणों में भी उनकी एकमात्र अभिलाषा थी कि वे श्रीसीता का समाचार प्रभु को सुना सकें। उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। प्रभु ने गीधराज को गोद में उठा लिया। गीधराज के अनुपम त्याग पर उनकी आँखें बरस पड़ीं। अपने कर-कमलों के स्पर्श से उन्होंने गीधराज की पीड़ा को विनष्ट कर दिया :

आगें परा गीधपति देखा।
सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥
कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

इतना ही नहीं प्रभु उनसे जीवित रहने का आग्रह करते हैं, जिससे वे उनकी कुछ सेवा कर सकें पर गीधराज इस प्रस्ताव को पूरी तरह अस्वीकार कर देते हैं। सर्वशक्तिमान् ईश्वर से उन्हें अमरता का वरदान बिना माँगे ही प्राप्त हो रहा था पर उन्होंने मृत्यु का ही वरण किया। अमरता की तुलना में उन्हें मृत्यु क्यों आकर्षक प्रतीत हुई इस प्रश्न पर उन्होंने अपना दृष्टिकोण जिन शब्दों में प्रकट किया लेख के प्रारम्भ में उन्हीं पंक्तियों को उद्धृत किया गया है।

सर्वप्रथम उनके वाक्यों का तात्पर्य हृदयंगम करने के लिए मृत्यु और मुक्ति शब्द पर ध्यान देना होगा। विश्व में अधिकांश व्यक्ति शरीर के परित्याग का अर्थ मृत्यु मानते हैं, किन्तु कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में मृत्यु विभीषिका न होकर मुक्ति का साधन है। जिन लोगों की दृष्टि में शरीर ही सब-कुछ है, अथवा शरीर और जीवात्मा को जो अभिन्न मान बैठे हैं उनके लिए मृत्यु की कल्पना भी पीड़ादायक हो यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि उनके लिए मृत्यु का अर्थ अस्तित्व का अभाव है। किन्तु देह को आत्मा से भिन्न समझने वाला विवेकी इसे सर्वथा भिन्न

दृष्टि से देखता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर एक दीवार की तरह है जो हमें विराट् का विस्तार देखने से रोकती है। सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही व्यक्ति भवन का निर्माण करता है, पर पूर्ण उन्मुक्तता का अनुभव करने के लिए उसे बाहर निकलना पड़ता है। घर के घुटे-घुटे वातावरण से निकलकर जब वह उन्मुक्त वायु में साँस लेता है तब उसे जिस स्वस्थता का अनुभव होता है उसकी अनुभूति घर के घेराव में सम्भव नहीं है। शरीर एक घर की भाँति है, जिसका निर्माण जीव अपने कर्मों के द्वारा करता है। घर की सुविधाओं की भाँति वह विविध विषयों का उपभोग करता है। पर यदि किसी व्यक्ति को उपभोग की सारी सामग्री देकर यह आदेश दे दिया जाये कि वह प्राचीर के बाहर न जाये तो वह गृह व्यक्ति के लिए कारागार बन जायेगा। व्यक्ति का शरीर कारागार न बन जाये इसीलिए ईश्वर ने उसमें मृत्यु का द्वार बना दिया है। यदि ईश्वर ने इस द्वार का निर्माण न किया होता तो जीव सर्वदा के लिए कारागार का बन्दी बन जाता। उस समय उसकी क्या दशा होती इसकी कुछ कल्पना अश्वत्थामा के जीवन के विषय में विचार करने से होती है। पौराणिक मान्यता के अनुसार अष्ट चिरजीवियों के जो नाम गिनाये गए हैं, अश्वत्थामा भी उनमें से एक है। पर यह अमरता उसके लिए कितना बड़ा अभिशाप है इसे उसकी जीवनी को पढ़कर समझा जा सकता है।

अश्वत्थामा महाभारत का एक ऐसा पात्र है जिसने जीवन के अनेकानेक रूपों को देखा। बाल्यावस्था में पीने के लिए दूध भी न पा सकने वाला यह बालक युवावस्था में भोग और वैभव के बीच रहा। अस्त्र विद्या के महान् पंडित द्रोणाचार्य का यह पुत्र उनका अत्यन्त लाड़ला था। इस अकेले पुत्र पर ही उनकी सारी आशाएँ केन्द्रित थीं। अपने पराक्रम के प्रदर्शन से वह पिता की आशाओं को पूर्ण करता हुआ प्रतीत हुआ पर बाद में उसका दुःखान्त जीवन एक करुण कहानी बन गया। वह अमर था किन्तु उसके पिता को उसकी मृत्यु का भय सताता रहता था। उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनते ही वे शस्त्र का परित्याग कर देंगे। अन्त में पुत्र की मृत्यु का मिथ्या समाचार ही उनकी मृत्यु का कारण बना। धृष्टद्युम्न ने उसके पिता का अन्यायपूर्ण ढंग से वध किया, यह समाचार उसके हृदय को सालता रहा और अन्त में उसने इतना भीषण बदला लिया कि वह क्रूरता का प्रतीक बन बैठा। पाण्डवों की बची हुई एक अक्षौहिणी सेना को वह उनकी सुषुप्त स्थिति में विनष्ट कर देता है। धृष्टद्युम्न की मृत्यु के पश्चात् उसकी सद्गति न हो इस उद्देश्य से वह उस पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता है। वह धृष्टद्युम्न को गला घोटकर मार देता है। क्रुद्ध अर्जुन द्वारा पीछा किये जाने पर वह उस पर ब्रह्मशिरास्त्र का प्रयोग करता है जिसे उसके पिता ने

अन्य शिष्यों से छिपाकर बताया था। वह पाण्डव-कुल को विनष्ट करने के लिए उत्तरा के गर्भ में स्थित परीक्षित को नष्ट करना चाहता था। उसकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि वह ब्रह्मास्त्र चलाना जानता था किन्तु लौटाना नहीं। अन्त में वह अर्जुन के हाथों परास्त होकर बन्दी बना लिया गया। उसका सिर काटा जाना था किन्तु द्रौपदी ने करुणा से द्रवित होकर उसे मुक्त करने का आदेश दिया। उसके सिर से मणि निकालकर उसे मुक्त कर दिया गया। द्रौपदी की यह करुणा उसके लिए कितनी महँगी पड़ी, इसे उसे छोड़कर और कौन जान सकता है ? कहा जाता है कि वह अकेला पिशाच-जैसा धरती पर भटकता रहता है। उसके सिर में कभी न भरने वाला घाव है। अकेला अभिशप्त यह व्यक्ति अमरता को किस दृष्टि से देखता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। न जाने कितने व्यक्ति पीड़ा से मुक्त होने के लिए आत्मघात कर लेते हैं पर अश्वत्थामा के लिए यह भी सम्भव नहीं है। व्यक्ति ने मृत्यु को विभीषिका मानकर स्वयं को उससे भयभीत कर लिया है, किन्तु अमरता की इस विभीषिका के आगे मृत्यु वरदान-जैसी प्रतीत होती है। इस प्रसंग में तुलसी का वह दोहा स्मरण आता है जिसमें उन्होंने अवसर पर उपलब्ध मौत को अमृत से भी मीठा बताया है :

तुलसी मीठी अमिअ ते माँगी मिलै जो मीच।
सुधा सुधाकर समय बिनु कालकूट तें नीच॥

गीधराज शरीर परित्याग को विभीषिका के रूप में नहीं देखते। वे प्रभु से प्रश्न करते हैं—"मृत्यु के समय जिसका नाम मुख पर आते ही व्यक्ति मुक्त हो जाता है आप वही तो हैं"। भक्तों की यह मान्यता रही है कि मृत्यु-क्षण में भगवान् का नाम निकलते ही अधम-से-अधम व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है। अनेक लोग इस मान्यता को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। पहली पक्ति में भले ही यह सिद्धान्त तर्क के विरुद्ध प्रतीत होता हो परन्तु इस मान्यता का आधार अवश्य है। पुनर्जन्मवादी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए। एक व्यक्ति जिसे हम उत्कृष्ट अथवा अधम कहते हैं उसका एक ही जीवन हमारे समक्ष होता है और उसके तत्कालीन क्रिया-कलापों के आधार पर ही उसे श्रेष्ठता और निकृष्टता की उपाधि मिल जाती है। किन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर यह यथार्थ सिद्ध नहीं होता। अगणित संस्कारों में कुछ का ही प्राकट्य एक जीवन में होता है। आज अधम प्रतीत होने वाला व्यक्ति सम्भव है स्वयं में सद्गुणों के अनेक संस्कार सँजोये हुए हो। मृत्यु के क्षणों में व्यक्ति अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाता है। उस समय उसके व्यवहार का आधार बाह्य चेतना नहीं होती है। ऐसी स्थिति में ईश्वर के नाम का निकलना यही सिद्ध करता है कि अन्तः-

करण की अथाह गहराई में उसकी आसक्ति का केन्द्र ईश्वर और उसका नाम है। आसक्तियों से ऊपर उठ जाना ही मुक्ति है। अतः अन्तिम क्षणों में बाह्य आसक्तियों से दूर स्वयं को ईश्वर से सम्बद्ध कर लेना ही जीवन की चरम सार्थकता है। गीधराज ने साथ ही यह भी प्रश्न उठाया कि वह कौन-सा उद्देश्य शेष है जिसकी पूर्ति के लिए प्राणों की रक्षा की जानी चाहिए। एक यात्री किसी दूसरे नगर में व्यापारिक कार्य से गया। वहाँ जाकर वह एक धर्मशाला में रुक गया। कार्य पूरा होते ही वह अपने घर की ओर लौटना चाहता है। यदि उस समय कोई उससे रुकने का आग्रह करे तो यह यात्री को कैसे प्रिय लग सकता है।

गीधराज को ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवन का लक्ष्य पूर्ण हो चुका है। सत्य तो यह है कि वे उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते थे जो उन्हें उपलब्ध हो चुकी थी। एक ऐसा शरीर जो तमोगुण से पूर्ण था, पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति में अर्पित हुआ। साक्षात् ईश्वर उनके समक्ष खड़ा था। ऐसा सुअवसर मिलने के बाद जीवित रहने की आकांक्षा अविवेकपूर्ण ही तो सिद्ध होगी। इसलिए उन्होंने अपनी मृत्यु की तुलना में चारों फलों को भी हीन सिद्ध कर दिया। उन्होंने प्रभु से प्रश्न किया—मुझे तो अपनी मृत्यु के समक्ष चारों फल तुच्छ प्रतीत हो रहे हैं। यदि आपको मेरी बात उपयुक्त न लग रही हो तो आप स्पष्ट शब्दों में कहिए :

मेरे मरिबे सम न चारि फल होंहि तो क्यों न कहीजै।

अर्थ : अर्थ संग्रह करने वाला व्यापारी थोड़ी लागत में अधिक लाभ पाना चाहता है। गीधराज को तमोगुणी और वृद्ध शरीर के बदले में जो-कुछ प्राप्त हो रहा था उससे बड़े लाभ की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

धर्म : परहित को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

उनका शरीर परहित के लिए विनष्ट हुआ इससे बढ़कर शरीर की सार्थकता क्या हो सकती थी?

काम : सौंदर्य के द्वारा रस और तृप्ति की अभिलाषा काम की प्रकृति है। काम के अनित्य सौन्दर्य के स्थान पर सौन्दर्यसिंधु राम उनके समक्ष खड़े थे, और वे अपलक रूप-सुधा का पान कर रहे थे।

मोक्ष : देह की प्राचीरों से छूटकर वे प्रभु के मंगलमय धाम में प्रविष्ट हो

रहे थे। ऐसी स्थिति में वे जीवित रहकर घाटे का सौदा कैसे स्वीकार करते। प्रभु भी अन्त में मौन के द्वारा उनकी विजय स्वीकार कर लेते हैं :

तुलसिदास प्रभु रहे मौन ह्वै परिजनु प्रेम सहीजै।

जन्म और मृत्यु जीवन-नदी के दो कगार हैं। बहुधा व्यक्ति निरुपाय-सा प्रवाह में बहता रहता है। चतुर तैराक वह है कि जो दोनों कगारों को तैरकर पार कर लेता है। संजोग से जीना और निरुद्देश्य मर जाना जीवन की सार्थकता नहीं है। जो हमें उपलब्ध हुआ है उसे सही दिशा में अर्पित करने की कला विरले लोग ही जानते हैं। अधिकांश लोग जो है उसका सदुपयोग नहीं करते और जो नहीं है उसके लिए रुदन किया करते हैं। गीधराज के शरीर से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो है उसका सही उपयोग करने मात्र से जीवन सार्थक हो सकता है। पुलस्त्य कुलोद्भव रावण "होइ भजन नहिं तामस देहा" कहकर स्वयं अपने को ही ठगता है। अधम खग योनि में जन्म लेने वाले गीधराज अपने शरीर को सार्थक बनाकर रावण के मिथ्या तर्क का खण्डन कर देते हैं। यदि एक गीध प्रभु के काम आ सकता है तो यह रावण के लिए और भी सरल सिद्ध होता, पर वह तो स्वयं को ही ठगता रहा। रावण अमरता के लिए जीवन-भर व्यग्र रहा किन्तु वह अमर रहकर दूसरों को उत्पीड़ित ही तो करना चाहता था ! मरणधर्मा गीधराज मृत्यु को ऐसा गौरव प्रदान करते हैं कि उस पर अमरता को निछावर किया जा सकता है। इसीलिए दोहावली रामायण में गोस्वामीजी घोषित करते हैं— अनगिनत व्यक्ति मरते रहे हैं, मर रहे हैं और भविष्य में भी मरेंगे, किन्तु गीधराज-जैसी मृत्यु किसी को प्राप्त नहीं हुई :

मुए मरहि मरिअहिं सकल आजु कालि के बीच।
तुलसी काहू नहिं लई गीधराज की मीच॥

वे महाराज श्रीदशरथ की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली सिद्ध हुए। महाराज श्री जीवन के अन्तिम क्षण में राम के दर्शन के लिए तरसते ही रह गये। नाम का बार-बार उच्चारण करते हुए भी वे राम को सामने न पा सके। गीधराज राम की रूप-माधुरी देखते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

दुरबासा मोहि दीन्ही सापा।
प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥

× ×

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रबीना॥

अर्थ—दुर्वासा ने मुझे शाप दिया, आपके चरण-दर्शन से वह पाप मिट गया। शील और गुणों से हीन ब्राह्मण भी पूजनीय है। गुणों से युक्त और ज्ञान में निपुण शूद्र पूजनीय नहीं है।

उपर्युक्त पंक्ति मानस की सर्वाधिक विवादास्पद पंक्तियों में से एक है। उदारतावादी इसे पढ़कर तिलमिला उठता है। प्रथम दृष्टि में यह पंक्ति अत्यन्त अनुदार और ब्राह्मणवादी प्रतीत होती है। इसे इसी रूप में उद्धृत भी किया जाता है। कट्टरता के समर्थन के लिए "पूजिअ बिप्र सील गुन हीना" ही यथेष्ट है; किन्तु "सूद्र न गुन-गन-ज्ञान प्रवीना" कहकर तो मानों अन्याय को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया है।

यदि पूरे रामचरितमानस में गोस्वामीजी का दृष्टिकोण इसी प्रकार कट्टर और अनुदारतावादी प्रतीत होता तो सम्भवतः इस प्रसंग पर बहुत गहराई से विचार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत न होती। किन्तु कई प्रश्न ऐसे हैं जो इस सन्दर्भ में गम्भीरता से किये जा सकते हैं। रामचरितमानस के नायक भगवान् राम का चरित्र मानस से पहले अगणित रूपों में गाया जा चुका है। उनके चरित्र की बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हैं जिनका उल्लेख सभी रामायणों में समान रूप से पाया जाता है। पर जहाँ तक संक्षेप और विस्तार का सम्बन्ध है उसमें मात्रा-भेद

स्वाभाविक है। लेखक स्वयं को प्रिय लगने वाली घटनाओं का विस्तार करता है तो कुछ के प्रति उसकी उदासीनता संक्षेप से ही स्पष्ट हो जाती है। पर कुछ घटनाएँ ऐसी भी हैं जिनका संक्षेप तो क्या उल्लेख करना भी कवि सर्वथा अनावश्यक मानता है। यह कवि की अप्रियता की पराकाष्ठा का परिचायक है। रामचरितमानस भी इस भावना का अपवाद नहीं है। कवि स्वयं को प्रिय न लगने वाले प्रसंगों का संकेत-मात्र दे देता है। सीता-परित्याग इसका एक दृष्टान्त है जिसका संकेत वन्दना-प्रसंग की एक पंक्ति-मात्र से ही मिलता है।

किन्तु शम्बूक-वध का प्रसंग जहाँ अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है वहाँ रामचरितमानस में उसका सांकेतिक वर्णन भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। वर्णाश्रम-व्यवस्था के कट्टर और अनुदार समर्थक के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं हो सकता जिसमें यह बताया गया है कि एक ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु हो जाने पर श्रीराम यह पता लगाते हैं कि इसका क्या कारण है? उन्हें बताया जाता है कि एक शूद्र के द्वारा तप किये जाने से यह अनर्थ घटित हुआ है। इसके निवारण के लिए वे वनस्थली में जाते हैं। वहाँ घोर तपस्या में संलग्न शूद्र का वध कर देते हैं और मृत बालक जीवित हो उठता है। "सूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रवीना" कहकर कट्टरता का समर्थन करने वाला कवि इस कठोर घटना की उपेक्षा क्यों करता है? फिर निषाद और श्रीराम की मैत्री का वर्णन क्या वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल है? क्या निषाद का परिचय सुनने के पश्चात् प्रेममूर्ति भरत का रथ परित्याग कर उनकी ओर दौड़ना स्मृति-व्यवस्था का समर्थक प्रतीत होता है? चित्रकूट में गुरु वशिष्ठ का निषाद को बलात् हृदय से लगाना इस अनुदारता के अनुकूल है? जिस समय विश्ववंद्य ब्राह्मण के रूप में माने जाने वाले गुरु वशिष्ठ निषाद को बलपूर्वक हृदय से लगा लेते हैं तब पुष्पों की वर्षा करते हुए देवता आकाश में गा उठते हैं, "ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से बढ़कर और कौन होगा? और निषाद के समान समाज में निम्न माना जाने वाला भी दूसरा नहीं हो सकता। किन्तु ब्रह्मर्षि ने उसे श्रीलक्ष्मण से भी अधिक भाव-भरे हृदय से लगा लिया। यह सीता-पति के भजन का प्रत्यक्ष प्रभाव है।" गोस्वामीजी इस घटना का वर्णन (जिसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं है) बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में करते हैं:

सहज सनेह बिबस रघुराई।
पूंछी कुसल निकट बैठाई॥

× ×

राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥

गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई।
कीन्ह जोहार माथ महि लाई।।
करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ।।

× ×

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।
कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू।।
रामसखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुटत सनेह समेटा।।
रघुपति-भगति सुमंगल-मूला।
नभ सराहिं सुर बरषहिं फूला।।
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं।।
जेहि लखि लखनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीता-पति-भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।।

कोल-किरातों से प्रेम-भरा वार्तालाप करते हुए श्रीराम को देखकर कवि एक रहस्य प्रकट करता है और वह निमन्त्रण देता है, "जो इस सत्य को जानना चाहें वे जान लें कि राम को प्रेम छोड़कर और कुछ भी प्यारा नहीं है।"

रामहिं केवल प्रेम पिआरा।
जानि लेहु जो जाननिहारा।।

किन्तु अरण्यकाण्ड की इस पंक्ति को पढ़कर ऐसा लगता है कि "रामहिं केवल प्रेम पिआरा" के स्थान पर 'रामहिं केवल जाति पिआरी' का सिद्धान्त प्रचारित किया जाना चाहिए। क्षण-भर के लिए यह मान लें कि चित्रकूट से दण्डकारण्य में पहुँचकर रामभद्र के विचार परिवर्तित हो गये हों, पर अगला आश्चर्य इससे भी बड़ा है। कबन्ध को ब्राह्मण-भक्ति और शूद्र-विरोधी उपदेश देकर वे सीधे शबरी के आश्रम में जाते हैं। शबरी जो दो अयोग्यताओं से युक्त थी—शूद्र और नारी, प्रभु उसे माँ के समान सम्मान देते हैं :

तेहि मातु ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।

शबरी के द्वारा यह कहे जाने पर कि वह तो निम्न जाति की नारी है, प्रभु कह उठते हैं, "प्रकाशमयी शबरी ! मैं तो एकमात्र भक्ति का नाता मानता हूँ।

मेरी दृष्टि में जाति, पाँति, कुल आदि का कोई महत्त्व नहीं है। भक्ति के अभाव में सारी योग्यताएँ उसी प्रकार व्यर्थ हैं जैसे जलविहीन बादल।"

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

नवधा भक्ति का उपदेश देने के पश्चात् वे पुनः स्पष्ट कर देते हैं कि व्यक्ति किसी भी जाति, लिंग अथवा वर्ग का क्यों न हो जो सारे कपट छोड़कर भजन करता है वह मुझे अतीव प्रिय है :

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

अतः स्पष्ट हो जाता है कि कबन्ध को उपदेश देने के क्षण को छोड़कर वे कहीं भी वर्ण के आधार पर किसी को महत्त्व नहीं देते। शबरी की शूद्रता के होते हुए भी वे उसे सम्मान देते हैं और रावण के ब्राह्मण होते हुए भी उसका वध करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि उनके राम ब्रह्म-हत्या के दोष का निवारण करने के लिए अन्य अनेक ग्रन्थों की भाँति अश्वमेध यज्ञ भी नहीं करते हैं। जहाँ अन्यत्र यह बताया गया है कि रावण के ब्राह्मण होने के कारण ही प्रभु ने प्रायश्चित्त के रूप में अश्वमेध यज्ञ किया वहाँ तुलसी के राम यज्ञ-परम्परा के संरक्षण के लिए अनेकों अश्वमेध यज्ञ करते हैं :

कोटिन्ह बाजि मेध प्रभु कीन्हे।
दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे॥
श्रुति पथ पालक धरम धुरन्दर।
गुनातीत अरु भोग पुरन्दर॥

तुलसी के राम अत्यन्त उदार हैं। वे ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं पर शूद्रों का ही नहीं पशुओं को भी सम्मानित करते हैं। उनकी उदारता का स्मरण कर तुलसीदास पुलकित हो उठते हैं। राम के प्रति उनके आकर्षण का कारण उनका वर्ण-व्यवस्था के प्रति आग्रह नहीं है। वे कहीं भी यह नहीं कहते कि राम का भजन इसलिए करना चाहिए कि वे ब्राह्मणों के भक्त हैं। वे तो नीच जनों के प्रति उनके

अनुराग को देखकर गद्‌गद हो उठते हैं। उन घटनाओं की याद मन को दिलाते हुए कहते हैं कि अरे मन, तू कुटिलता को छोड़कर ऐसे प्रभु का भजन कर :

श्री रघुबीर की यह बानि।
नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ।।
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ।।
गीध कौन दयालु जो विधि रच्यो हिंसासानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ।।
प्रकृति मलिन कुजाति शबरी सकल अवगुन खानि।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि ।।
रजनिचर अरु रिपु विभीषन सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ।।
कौन सुभग सुशील बानर जिनहि सुमिरत हानि।
किए ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि ।।
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ।।

उनके राम इसलिए महान् नहीं हैं कि वे मुनियों के आश्रम में जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं अपितु वन-यात्रा से लौटकर वे मुनियों की याद भले ही भुला दें पर गीध और शबरी को वे किसी प्रकार नहीं भूल पाते। उनके प्रेम की स्मृति उन्हें विह्वल बना देती है। अपने प्रियजनों से उनकी बार-बार चर्चा करते हुए नहीं अघाते :

मिलि मुनि वृंद चलत दंडक बन सो चरचउ न चलाई।
बारहि बार गीध शबरी की बरनत प्रीति सुहाई ।।

स्पष्ट है कि ऐसे राम न तो शम्बूक का वध ही कर सकते थे और न वे शूद्रों के विरोधी ही हैं। तब फिर कबन्ध को दिये गए उपदेश का कारण हमें कबन्ध की मनोवृत्ति में ही ढूँढ़ना होगा। वस्तुत: कबन्ध ब्राह्मण-विद्वेष का प्रतीक है। सिर-विहीन शरीर को कबन्ध कहते हैं। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण सिर का प्रतीक माना जाता था। उसकी अन्तश्चेतना में ब्राह्मणों के प्रति विद्वेष की जो वृत्ति विद्यमान थी उसका मनोवैज्ञानिक कारण था। पूर्वजन्म में वह गन्धर्व था। वह गायन कला का पंडित था किन्तु इन्द्र की सभा में उसे उसका शतांश सम्मान भी प्राप्त नहीं था जो महर्षि दुर्वासा को दिया जाता था। जहाँ उसे इन्द्र की सभा

में खड़े रहना पड़ता था वहाँ महर्षि दुर्वासा को देखते ही इन्द्र सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता था। स्वभावतः उसे यह बात कैसे प्रिय लग सकती थी कि एक गुणवंत कलाकार की तुलना में क्रोधी ब्राह्मण को अधिक सम्मान दिया जाए। अवचेतन में संचित विद्वेष के संस्कार के कारण ही वह कभी दुर्वासा की अवहेलना कर शाप का भागी बना। परिस्थितियों से प्रेरित होकर उसे दुर्वासा के समक्ष झुकना पड़ा किन्तु उसके अन्तस्तल में छिपी हुई घृणा की वृत्ति ज्यों-की-त्यों थी। इसलिए उसने दुर्वासा के शाप का स्मरण जिस रूप में किया वह उसके द्वेष का ही परिचायक था। दुर्वासा के नाम के साथ वह सम्मानसूचक कोई उपाधि नहीं जोड़ता है। प्रभु ने उपदेश के माध्यम से उसको जो फटकार दी उसमें 'पूजिअ बिप्र सील गुनहीना' के प्रतीक दुर्वासा थे और 'सूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रवीना' का प्रतीक स्वयं कबन्ध था। उसे अपनी गायन कला पर गर्व था। प्रभु उसके विद्वेष और अहंकार को विनष्ट करने के लिए ही अतिरेक-भरा प्रहार करते हुए यह वाक्य कहते हैं, "तू अपनी विद्वेष-भरी प्रवृत्ति के कारण गुणयुक्त होता हुआ भी मुझे प्रिय नहीं हो सकता। दुर्वासा शील-गुणहीन होने पर भी तपस्वी ब्राह्मण के नाते सम्मान्य हैं।" व्यक्ति विशेष के संदर्भ में कहे गये वाक्य को सार्वकालिक सत्य मानने से ही इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई या की गई कि तुलसी और उनके राम शूद्र-विरोधी हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सबरी देखि राम गृहँ आए।
मुनि के बचन समुझि जियँ भाए ॥

× ×

जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कहु करिबरगामिनी ॥

अर्थ—शबरी ने देखा कि राम घर पर आये हुए हैं, उसे गुरु मतङ्ग के वचनों की याद कर बड़ी प्रसन्नता हुई। हे भामिनि ! गजगामिनि ! यदि तुम जनकसुता का समाचार जानती हो तो बताओ।

परम प्रेममयी शबरी जिसके फलों की मिठास प्रभु कभी नहीं भूल पाये, मानस के सर्वोत्कृष्ट पात्रों में से एक है। लंका-विजय से लौटने के पश्चात् प्रभु के स्वागत में अनेक आयोजन किये गए। उन स्वागत-समारम्भों की परस्पर तुलना करने के स्थान पर रामभद्र ऐसे अवसरों पर शबरी की स्मृति में डूब जाते थे। उन्हें लगता था कि इन षट्रस सुस्वादु व्यञ्जनों में वह मिठास कहाँ जो वात्सल्य-मयी शबरी के फलों में थी :

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि शबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ॥

यद्यपि मानस में किसी विशिष्ट फल का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु जन-जीवन में वह शबरी के बेर के रूप में प्रसिद्ध हो गया। इसके पीछे बड़ी मधुर भावना है। आयुर्वेद शास्त्र में बेर को कुपथ्य फल के रूप में स्वीकार किया गया है। "कुपथ्यं बदरी फलं" की उक्ति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु शबरी के प्रेम

ने उसे अमर बना दिया, और उससे भी आगे बढ़कर लोक-मानस में वे बेर भी जूठे बेरों के रूप में प्रसिद्ध हो गये। कहते हैं फलों को चखकर ही शबरी ने उन्हें प्रभु को समर्पित किया था। मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में श्रीराम को देखने के अभ्यस्त विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। यों मानस में भी जूठे फलों का कोई उल्लेख नहीं है। बेर के स्थान पर तुलसी ने कंद-मूल-फल का उल्लेख किया है। शायद यही स्वाभाविक और युक्तिसंगत भी है। लोक-मानस में यदि शबरी की गाथाओं के साथ-साथ कुछ अतिशयोक्तियाँ जुड़ गई हों तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। लोक-मानस ने शबरी और राम की इस गाथा को जीवन के कितना सन्निकट पाया इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। गोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में शबरी का बड़ा सरस चित्र प्रस्तुत किया है। किन्तु मानस में भावनात्मक प्रसंगों के साथ-साथ शबरी के गौरव का संकेत इस रूप में दिया कि प्रभु ने सीता की सुधि पाने के लिए शबरी का आश्रय लिया। इतना ही नहीं उन्हें पुनः पाने के लिए प्रभु ने उपाय भी उन्हीं से पूछा। उन्हीं के बताये हुए मार्ग पर चलकर वे सुग्रीव से मैत्री करते हैं। लोक-जीवन में जहाँ शबरी एक भोली-भाली भावुक भक्त के रूप में प्रसिद्ध है वहाँ मानस में वह भक्त के साथ-साथ योग-विद्या की ज्ञाता भी है। योगाग्नि प्रकट कर वह स्वयं अपने शरीर को दग्ध कर लेती है और प्रभु के चरणों में विलीन हो जाती है। मानस की दृष्टि में शबरी की महानता यह है कि वह इतनी उत्कृष्ट स्थिति पर होते हुए भी अभिमान से सर्वथा शून्य है। भक्ति-साधना के समस्त सोपानों को पार करती हुई वह सर्वोच्च स्थिति में आरूढ़ थी। नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए स्वयं प्रभु ने इसे स्वीकार किया :

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

इतनी उत्कृष्ट स्थिति होते हुए भी वह स्वयं को सर्वथा साधन-शून्य मानती है। प्रभु को अपने समक्ष देखकर वह चकित होकर यह सोचने लग जाती है कि मैं स्वप्न देख रही हूँ अथवा यह यथार्थ है। मुझमें तो ऐसी कोई पात्रता है नहीं कि प्रभु पधारकर मुझे दर्शन देते :

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन-बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु॥

मुनि-अगम उर आनंद, लोचन सजल, तनु पुलकावली।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली।।
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति विप्रबखानी भली।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल फूली सुख फली।।

अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्रभु गुरुदेव के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिए यहाँ पधारे हैं :

सबरी देखि राम गृह आए।
मुनि के बचन समुझि जिय भाए।।

श्रीभरत को छोड़कर ऐसी निरभिमानता किसी अन्य भक्त के जीवन में नहीं दिखाई देती है। अन्य मुनि जहाँ अपने आश्रम में प्रभु को ले जाकर उनका पूजन और स्तुति करते हैं वहाँ शबरी स्वयं को इस योग्य भी नहीं मानती। वह हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो जाती है और अपनी असमर्थता का वर्णन इन शब्दों में करती है :

पानि जोरि आगें भइ ठाढ़ी।
प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी।।
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी।।
अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।

बाह्य दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रभु ने शबरी को नवधाभक्ति का उपदेश दिया किन्तु जब अन्त में प्रभु यह कहते हैं कि तुममें नवों प्रकार की भक्ति विद्यमान है तब वह उपदेश के मिस से स्तुति प्रतीत होने लगती है। यदि प्रभु प्रारम्भ से यह कहते कि "तुम तो सत्संगमयी हो, कथा-प्रसंग में तुम्हारी प्रीति है, तुमने अमानी होकर गुरुचरणों की सेवा की है आदि" तो इस शैली में कहे गये वाक्यों को सुनकर शबरी का संकोच बढ़ता ही जाता। इसलिए वचन-रचना-नागर ने एक नयी शैली आविष्कृत की जो प्रारम्भ में उपदेश-जैसी प्रतीत होती है पर अन्त में एक ही वाक्य में उसे स्तुति का रूप दे दिया गया। यह महिमामयी शबरी कौन है ?

दण्डकारण्य के प्रसंग में परस्पर दो विरोधी नारी-पात्रों का चित्रण किया गया है। वे हैं शूर्पणखा और शबरी। घनीभूत वासना ही शूर्पणखा है। यह वासना

भक्ति की प्रतिद्वन्द्वी है। उसी की प्रेरणा से भक्तिस्वरूपा सीता का अपहरण होता है। शबरी "हरि-पद-रति" की प्रतीक है। साधना और ज्ञान की चरम परिणति रति के रूप में होती है, गोस्वामीजी की ऐसी मान्यता है। "संत सभा ही अमराई के सदृश है, श्रद्धा वसन्त ऋतु है। इस आम्र वृक्ष में सम, यम, नियम के बौर और ज्ञान का फल लगता है। भगवान् के चरणों में रति ही इस फल का रस है।"

संत सभा चहुँ दिसि अमराई।
श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना।
क्षमा दया दम लता बिताना॥
सम-जम-नियम फूल फल ज्ञाना।
ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

वासना की प्रेरणा से मोह जब भक्ति को अपहृत कर ले तब पुनः भक्ति का पता पाने के लिए भगवद्रति का आश्रय लेना पड़ता है। शबरी से सीता की सुधि पूछकर साधक को प्रभु ने यही प्रेरणा प्रदान की। रति ही रसरूपा है। शबरी के फलों की मिठास का रहस्य भी यही है। शबरी के फलों के लिए 'सुरस अति' का विशेषण भी इसी उद्देश्य से दिया गया है :

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

बड़े-बड़े मुनियों के जीवन में भी रति की वह परिपक्वता नहीं थी जो शबरी के जीवन में विद्यमान थी। प्रत्येक आम के फल का अपना स्वाद होता है किन्तु सापेक्ष्य रूप से उनकी तुलना तो की ही जाती है। किसी आम का छिलका मोटा होता है तो कहीं गुठली बड़ी होती है और कहीं मिठास के स्वाद और सुगन्ध में भेद होता है। शबरी के फलों में न तो प्रदर्शन का छिलका था और न कामना की गुठली। इस मिठास में शील की ऐसी सुगन्ध थी जो अन्य मुनियों में दुर्लभ थी। इसलिए प्रभु को पूर्ण तृप्ति का बोध शबरी के फलों में ही हुआ।

भौतिक अर्थों में सीता की सुधि प्रभु को गीधराज से प्राप्त हो चुकी थी। उन्होंने यह सूचना देने के लिए ही अपने प्राणों की बलपूर्वक रक्षा की थी। उनके द्वारा प्रभु को घटना का पूर्ण विवरण प्राप्त हो चुका था। उन्होंने बताया, मेरी यह दशा दशानन के द्वारा की गई है, उसी दुष्ट ने मिथिलेशनन्दिनी का अपहरण किया है। श्रीसीता कुररी की भाँति विलाप कर रहीं थीं। फिर भी बलपूर्वक

वह दुष्ट उन्हें दक्षिण दिशा में ले गया है :

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।
तेहि खल जनक सुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।
बिलपति अति कुररी की नाईं॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना।
चलन चहत अब कृपानिधाना॥

गीधराज विवेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। मोह के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे भक्ति की रक्षा का पूर्ण प्रयास करते हैं। किन्तु वे इस प्रयास में सफल नहीं हो पाते। प्रभु के समक्ष वे घटना का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु सीता की उपलब्धि का कोई उपाय बताना उनके लिए सम्भव न था। यह कार्य रति-रूपा शबरी के लिए ही सम्भव था। इसीलिए प्रभु ने शबरी से यह प्रश्न किया। प्रश्न सुनकर शबरी को अत्यन्त संकोच हुआ। पर अन्त में प्रभु के अनुरोध को स्वीकार करती हुई वह सीता की उपलब्धि का मार्ग बताती हैं। दीनता-भरे स्वर में उसने प्रभु से कहा—नाथ! आप तो सर्वव्यापक और अन्तर्यामी हैं। सर्वज्ञ होते हुए भी आप मुझसे यह पूछ रहे हैं। राघव! आप पम्पासर के निकट जायें, वहाँ सुग्रीव से आपकी मित्रता होगी, आगे का सारा समाचार उन्हीं से ज्ञात होगा :

पंपा सरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा।
जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥

शबरी से मिलने के पूर्व प्रभु विलाप करते हुए लता और वृक्षों से जानकी का पता पूछ रहे थे पर उन्हें निराशा ही हाथ लगी। शबरी से मिलकर राघवेन्द्र की निराशा दूर हो गई। शबरी के आदेश का पालन करते हुए वे पम्पासर के निकट जाते हैं और यहीं पहुंचकर वे पूर्ण प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। यहाँ वृक्ष की छाया में परम प्रसन्न प्रभु की झाँकी प्रस्तुत की गई है :

देखि राम अति रुचिर तलावा।
मज्जन कीन्ह परम सुख पावा॥

देखी सुंदर तरुबर छाया।
बैठे अनुज सहित रघुराया॥
तहँ पुनि सकल देव मुनि आए।
अस्तुति करि निज धाम सिधाए॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला।
कहत अनुज सन कथा रसाला॥

मिलन के पश्चात् शबरी के वचनों के प्रति प्रगाढ़ विश्वास ने ही प्रभु में आनन्द की यह सृष्टि की थी।



॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात ॥

अर्थ—परन्तु जब उसका दूत यह देख गया कि मैं भाई के साथ हूँ (अकेला नहीं हूँ) तब उसकी बात सुनकर कामदेव ने मानों सेना को रोककर डेरा डाल दिया है।

श्रीरामभद्र बड़े उदार प्रशंसक हैं। श्रीलक्ष्मण के शब्दों में वे इतने सुहृद् और सरल चित्त हैं कि दूसरों पर बड़ी सरलता से विश्वास कर लेते हैं :

नाथ सुहृद सुठि सरल चित शील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिअ आपु समान ॥

वे सचमुच ही श्रीभरत से लेकर सुग्रीव, विभीषण और बन्दरों तक की प्रशंसा करने में समान रूप से मुखर हो जाते हैं। किन्तु श्रीलक्ष्मण उनके स्वभाव के अपवाद हैं। वे बहुधा लक्ष्मण की तुलना दूसरे पात्रों से करते हुए उन्हें लक्ष्मण से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और इसका सबसे विलक्षण पक्ष यह है कि वे यह तुलना लक्ष्मण के समक्ष अथवा लक्ष्मण को ही श्रोता बनाकर करते हैं। चित्रकूट में श्रीभरत की सराहना करने के लिए उन्होंने श्रोता के रूप में श्रीलक्ष्मण का चुनाव किया। प्रशंसा की सारी सीमाओं को लाँघते हुए अन्त में वे कहते हैं, ''लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजी के व्रत की शपथ

लेकर कहता हूँ कि भरत के समान पवित्र और सुबन्धु विश्व के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। सृष्टि के अन्य लोगों में दोष और गुण का मिश्रण हो सकता है किन्तु भरत इससे परे हैं। इस संसार में जल और दूध की भाँति गुण और दोष का मिश्रण है पर भरत रूपी हंस ने उसमें गुण-दुग्ध को ग्रहण कर अवगुण-जल का पूरी तरह परित्याग कर दिया है।"

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥

हनुमानजी से मिलने के कुछ क्षणों के भीतर ही प्रभु उन्हें लक्ष्मण से दूना प्रिय घोषित करते हैं। उस समय भी लक्ष्मण उनके समक्ष ही खड़े थे :

सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥

विचित्र-सा प्रतीत होते हुए भी यह लक्ष्मण के प्रति उनके अपनत्व की पराकाष्ठा का परिचायक है। पूरे मानस में मूर्छा के प्रसंग को छोड़कर यही एक अवसर था जब वे लक्ष्मण के समक्ष बड़े ही सांकेतिक शब्दों में उनकी सराहना कर बैठते हैं। इस अवसर का चित्र गोस्वामीजी ने इन शब्दों में अंकित किया है—विरही रामभद्र विषाद-भरे अन्तःकरण से वन में भटक रहे थे। उस समय वे अनेक कथा-सम्वाद लक्ष्मण को सुना रहे थे। उसी समय वन में वसन्त का आगमन हुआ। उसे देखकर उनके अन्तःकरण में एक कवित्वमयी कल्पना जाग्रत हुई। वसन्त कामदेव का सेनापति है। लगता है काम उन्हें परास्त करने के लिए अपने सेनापति वसन्त के साथ सैनिकों को लेकर आया हुआ है और उसके साहस के पीछे कारण भी तो है। श्रीसीता के अपहरण से वे शक्तिहीन हो चुके हैं इसलिए उन्हें पराजित करना कठिन नहीं है। सारी वसन्त-श्री को वे सेना के रूप में देखते हैं। किन्तु पराजय की कल्पना के क्षणों में ही उनकी दृष्टि लक्ष्मण की ओर चली जाती है। और तब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मण के रहते हुए उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता। सेनापति वसन्त भी इस रहस्य से परिचित होने

के कारण ठिठककर रुक गया :

देखहु तात बसंत सुहावा।
प्रिया हीन मोहि भय उपजावा ।।
बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल ।।
देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मन जात ।।
बिटप बिसाल लता अरुझानी।
बिबिध बितान दिए जनु तानी ।।
कदलि ताल बर धुजा पताका।
देखि न मोह धीर मन जाका ।।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना।
जनु बानैत बने बहु बाना ।।
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए।
जनु भट बिलग बिलग होइ छाए ।।
कूजत पिक मानहुँ गज माते।
ढेक महोख ऊँट बिसराते ।।
मोर चकोर कीर बर बाजी।
पारावत मराल सब ताजी ।।
तीतिर लावक पदचर जूथा।
बरनि न जाइ मनोज बरूथा ।।
रथ गिरि सिला दुंदुभीं झरना।
चातक बंदी गुन गन बरना ।।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई।
त्रिबिधि बयारि बसीठीं आई ।।
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें।
बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें ।।

लक्ष्मण के प्रति अभिन्नता के बोध के कारण ही प्रभु उनकी प्रशंसा में संकुचित होते हैं। वह उन्हें आत्मप्रशंसा-सी प्रतीत होने लगती है। किन्तु व्याकुलता के इस क्षण में वे लक्ष्मण की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाये। यह इसलिए सम्भव हुआ कि उनका व्यवहार उस समय विवेक के द्वारा नियन्त्रित नहीं हो रहा था। वे उस समय भावना के प्रवाह में औचित्य-अनौचित्य की सीमा से दूर चले

गये थे। सीता के विरह में व्याकुल प्रभु की दृष्टि अचानक लक्ष्मण की ओर जाती है। सर्वत्यागी रामानुज, जिन्होंने प्रभु की सेवा के लिए समग्र जीवन अर्पित कर दिया है, प्रभु की प्रसन्नता को छोड़कर उनका कोई अन्य अभीष्ट नहीं है। उन क्षणों में प्रभु के अन्तर्मन में प्रेममयी उर्मिला की स्मृति जाग्रत हो उठी हो यह स्वाभाविक था। उर्मिला के सर्वत्याग से वे परिचित थे। समर्पण की ऐसी पराकाष्ठा विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। सुमित्रा अम्बा की आज्ञा लेकर प्रभु की ओर जाते हुए लक्ष्मण आशंका से मुक्त नहीं थे। उन्हें भय था कि कहीं उर्मिला उनके मार्ग में अवरोध बनकर खड़ी न हो जायें या मिथिलेशनन्दिनी की भाँति साथ चलने का आग्रह न करने लगें। उर्मिला का अन्तःकरण श्रीलक्ष्मण से एकाकार हो चुका है। वे उनके अन्तर्मन की भावनाओं को तत्काल समझ लेती हैं और इसलिए वार्तालाप तो दूर वे उनके समक्ष भी नहीं आतीं। प्रियतम के आदर्श-पथ में कंटक बनें, यह उन्हें सह्य नहीं है। लक्ष्मण के आशंका-भरे स्वभाव से भी वे परिचित हैं। वे जानती हैं कि उनका रामभद्र के चरणों में इतना प्रगाढ़ अनुराग है कि वे प्रतिक्षण भयभीत रहते हैं कि कहीं कोई उन्हें राघव के चरणों से अलग करने का प्रयास न करे। वन-यात्रा से कुछ क्षण पहले ही वे सुमित्रा अम्बा के आँसुओं को देखकर घबरा उठे थे। उन्हें यही लगा कि यह ममता से प्रेरित आँसू हैं, माँ मुझे वन जाने की अनुमति नहीं देना चाहेंगी। सुमित्रा अम्बा के स्वभाव से इतना दीर्घकालीन परिचय होते हुए भी उनकी यह अधीरता उनके प्रेमाविष्ट शंकित स्वभाव को प्रकट करती है। यदि उर्मिला उनके चरणों में प्रणाम करने के लिए आतीं तो भी उन्हें यही प्रतीत होता कि उन्हें रोकने के लिए आ रही हैं। उर्मिला इस आशंका से भी उन्हें मुक्त कर देती हैं।

ऐसी सर्वत्यागिनी परम प्रेममयी उर्मिला की स्मृति लक्ष्मण को चौदह वर्षों में एक बार भी आई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। गोस्वामीजी के शब्दों में उनका प्रत्येक क्षण श्रीराम की सेवा में व्यतीत हो रहा है, उनकी दृष्टि सीता और राम के चरणों में आबद्ध है :

छिन-छिन लखि सिय-राम-पद जानि आपु पर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चित बंधु मातु पितु गेह॥

इस दोहे में आया हुआ 'सपनेहुँ' शब्द केवल मुहावरे के ही रूप में प्रयुक्त हुआ है। लक्ष्मण निद्रा का पूरी तरह परित्याग कर चुके हैं अतः स्वप्न का प्रश्न ही नहीं उठता है। और आज सीता के विरह में जब प्रभु का आचरण उन्मादी-जैसा हो जाता है तब यह बहुत स्वाभाविक होता कि लक्ष्मण के मन में कुछ क्षणों के लिए ही सही उर्मिला की स्मृति आती। पर जो स्वाभाविक है उसका अभाव ही लक्ष्मण

की विलक्षणता है। उस समय भी उनके प्राण का प्रत्येक कण प्रभु की व्याकुलता दूर करने के प्रयास में संलग्न था। प्रभु का ध्यान जब लक्ष्मण के अन्तर्मन की ओर जाता है तब वे यह सोचकर संकुचित हो जाते हैं कि क्या ऐसे विरागी भाई के साथ रहते हुए मेरा इस प्रकार का आचरण उचित है ! लक्ष्मण का प्रशान्त मन उन्हें धैर्य धारण करने की प्रेरणा देता है और जब वे कहते हैं कि "तुम्हें देखकर काम ने विजय के संकल्प का परित्याग कर दिया" तब वे काव्यमयी कल्पना ही नहीं यथार्थ का परिचय दे रहे थे।

आध्यात्मिक अर्थों में लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। धर्म-रथ के प्रसंग में वैराग्य का वर्णन ढाल के रूप में किया गया है। युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के आक्रमण से शरीर की रक्षा का भार ढाल पर ही होता है। अन्तरजीवन में ज्ञान भी काम का आक्रमण होने पर वैराग्य के द्वारा अपनी रक्षा करता है।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥
× ×
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥

अर्थ—तब मैंने विवाह करना चाहा था तो आपने किस कारण से नहीं करने दिया। ज्ञानी मेरे बड़े पुत्र तथा अमानी दास मेरे छोटे बालक के समान है।

देवर्षि नारद पौराणिक परम्परा में अनोखे पात्र हैं। बहुत-कम ऐसे अवतार या महापुरुषों का चरित्र होगा जिसमें नारद का स्थान न हो। दैत्य और राक्षसों की सभा में भी उनका अव्याहत प्रवेश है। भगवान् राम के चरित्र में तो उनकी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिन कारणों से राम का अवतार हुआ उनमें नारद-शाप भी एक है :

नारद श्राप दीन्ह एक बारा।
कलप एक तेहि लगि अवतारा॥

यह पंक्ति सुनते ही पार्वती चौंक पड़ी थीं और बात सचमुच कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है। परम तत्त्वज्ञ विष्णु-भक्त नारद अपने प्रभु को ही शाप दे दें यह बात विश्वास करने जैसी नहीं लगती। गिरिराज-नन्दिनी ने भी आश्चर्य प्रकट करते हुए महादेव से यही पूछा :

गिरिजा चकित भईं सुनि बानि।
नारद बिष्नुभगत पुनि ग्यानि॥

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा।
का अपराध रमापति कीन्हा।।

मुस्कराते हुए भगवान् शंकर ने बड़े विस्तार से नारद-मोह की कथा सुनाई। नारद का मोह भले ही उनके उपहास का कारण बना हो पर लोक-कल्याण के लिए वरदान बन गया। तपस्या और प्रार्थना से जिन प्रभु को प्रसन्न कर अवतार लेने की प्रार्थना की जाती है उन्हें वे अपने क्रोध से अवतार लेने के लिए बाध्य करें इससे बढ़कर नारद का क्या गौरव हो सकता है ? नारद के अन्तःकरण में विवाह की आकांक्षा का उदय हुआ था और इसके लिए उन्होंने प्रभु से उनके रूप की याचना की थी। बन्दर की आकृति देकर प्रभु ने उनके संकल्प की पूर्ति नहीं होने दी। क्रुद्ध नारद ने शाप देते हुए कहा :

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।।

और आज उनका शाप साकार हो उठा। ऐसे अवसर पर नारद एक बार पुनः प्रभु के पास आकर उनकी स्तुति करते हैं। पर वे प्रभु से यह प्रश्न करना भी नहीं चूकते कि जब मैंने विवाह करना चाहा था तब आपने क्यों नहीं करने दिया :

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।।

बाह्य दृष्टि से इस प्रकार के प्रश्न का यह उचित अवसर नहीं था। परोक्ष रूप से इसमें प्रभु के प्रति व्यंग्य की सी प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ भी प्रभु के औदार्य की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है। उन्होंने देवर्षि के प्रश्न का बड़ा ही मार्मिक उत्तर दिया। देवर्षि के प्रश्न में एक ध्वनि थी कि आप यदि किसी का विवाह न होने देते तो मेरे मन में इस प्रकार का प्रश्न न उठता। सम्भवतः देवर्षि का विशेष ध्यान देवाधिदेव शंकर की ओर गया होगा। महादेव विवाह के लिए रञ्चमात्र उत्सुक नहीं थे। जहाँ देवर्षि ने भगवान् विष्णु से दर्शन देने की प्रार्थना की वहाँ शंकर के समक्ष प्रभु स्वयं प्रकट हुए और उनसे भाव-भरे शब्दों में यह आग्रह किया कि वे पार्वती को अवश्य स्वीकार करें :

नेमु प्रेमु संकर कर देखा।
अबिचल हृदय भगति कै रेखा।।

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला।
रूप सील निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा।
तुम्ह बिनु अस व्रत को निरबाहा॥
बहु बिधि राम सिवहिं समुझावा।
पारबती कर जन्मु सुनावा॥
अति पुनीत गिरजा कैं करनी।
बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मों पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

यह कितना विचित्र प्रतीत होता है कि विवाह से उदासीन शंकर को परिणय के लिए बाध्य किया जाए और विवाह के लिए व्यग्र नारद को बन्दर की आकृति देकर उनकी आकांक्षा से वंचित कर दिया जाए। प्रभु ने इसका उत्तर सांकेतिक भाषा में दिया। वे ज्येष्ठ और कनिष्ठ के रूप में अपने दो पुत्रों की कल्पना करते हैं। ज्ञानी ज्येष्ठ पुत्र हैं और भक्त कनिष्ठ। यह तो साधारण पारिवारिक परम्परा है कि ज्येष्ठ पुत्र यदि विवाह के लिए उत्सुक न हो तो भी गुरुजन इसके लिए आग्रहपूर्वक प्रेरित करते हैं। किन्तु एक नन्हा शिशु जो विवाह के वास्तविक तात्पर्य को नहीं जानता, विवाह की चमक-दमक से आकृष्ट होकर यदि अपने विवाह के लिए माता-पिता से अनुरोध करे तो इस प्रस्ताव को वे हँसकर टाल देते हैं। भगवान् शिव ज्ञान के आचार्य होने के नाते जहाँ ज्येष्ठ पुत्र के समान हैं, वहाँ भक्त नारद नन्हे बालक की तरह आचरण करते हैं। विश्व-मोहिनी का सौन्दर्य देखकर वे एक नन्हे बालक की भाँति मचल उठे—उस शिशु की तरह जो नये खिलौने को देखकर सब-कुछ छोड़ उसी दिशा में भागे। उस समय उन्हें जप, तप आदि कुछ भी प्रिय नहीं लग रहा था :

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।
बड़ी बार लगि रहे निहारी॥
× ×
करौं जाइ सोइ जतन बिचारी।
जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी॥
जप-तप कछु न होइ तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥

जैसे नन्हा बालक यह भी नहीं जानता कि विवाह की कुछ मर्यादाएँ हैं और अनेक ऐसे सम्बन्ध हैं जहाँ इसकी कल्पना भी पाप मानी जाती है। नारद का ध्यान यदि इस ओर होता तो वे भगवान् की माया से विवाह करने के लिए व्यग्र न होते। फिर संसार में विवाह के लिए जिन वस्तुओं की याचना की जाती है वहाँ इससे भिन्न नारद प्रभु का रूप ही उधार लेना चाहते हैं। इस तरह नारद की समस्त चेष्टाएँ एक नन्हे शिशु की भाँति थीं। प्रभु ने उनसे व्यवहार भी नन्हे बालक की भाँति ही किया। अभीष्ट वस्तु प्राप्त न होने पर बालक बिगड़ खड़े होते हैं, माँ से बक-झक करने लगते हैं, तोड़-फोड़ पर उतर आते हैं। नारद की चेष्टा भी कुछ इसी प्रकार की थी—वे क्रोध में आकर प्रभु के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं, उन्हें शाप दे देते हैं। परन्तु माता की ही भाँति नारद की इस सारी चेष्टा को प्रभु ने हँसकर सह लिया :

पर संपदा सकहु नहिं देखी।
तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी।।
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु।
सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायहु।।
असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु।।
परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई।।
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू।।
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।
अति असंक मन सदा उछाहू।।
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।
अब लगि तुम्हहि न काहूँ साधा।।
भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा।।
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।
सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा।।
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।
करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।।
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।।

श्राप सीस धरि हरषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्ह।

भगवान् शकंर का सारा आचरण प्रौढ़ पुत्र की भाँति था। उन्होंने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर विवाह करना स्वीकार तो कर लिया पर उसके बाद भी वे ध्यान-समाधि में डूब गये। नारद के समान वे जप, तप छोड़कर विवाह के लिए बेचैन नहीं हो गये। इसी सन्दर्भ में प्रभु काम और क्रोध की तुलना सर्प और अग्नि से करते हैं। सर्प और अग्नि की समस्या बड़े और छोटे दोनों पुत्रों के समक्ष होती है किन्तु बड़ा पुत्र जहाँ अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है वहाँ माँ को नन्हे बालक की रक्षा के लिए स्वतः सजग रहना पड़ता है :

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जानहि मोर बल निज बल ताही।
दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

भगवान् शिव अहि और अग्नि दोनों के सदुपयोग की कला को जानते हैं। सर्पों को तो उन्होंने अपना आभूषण ही बना लिया है, उनकी तृतीय दृष्टि में साक्षात् अग्नि का निवास है। किन्तु न तो उन्हें सर्प डस सकता है और न अग्नि जला ही सकती है। काम और क्रोध वे दोनों को नियन्त्रण में रख सकते हैं। काम के द्वारा अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न किये जाने पर वे तृतीय दृष्टि से उसे दण्ड देते हैं :

तब सिवँ तीसर नयन उघारा।
चितवत कामु भयउ जरि छारा॥

काम को जलाने के बाद वे पुनः उसे जीवन-दान देते हैं, यह क्रोध पर नियन्त्रण का प्रत्यक्ष परिणाम है। पितामह ब्रह्मा उनके इस गुण की भूरि-भूरि सराहना

करते हैं :

कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा।
कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा।।

'कृपासिंधु' शब्द कहकर उनके अखिल विरुद्ध धर्माश्रयता की ओर संकेत किया गया है। एक ओर क्रोधाग्नि तो दूसरी ओर कृपा की अगाध जलराशि इन दोनों का वे उचित अवसर पर उपयोग करते हैं। इसके प्रतिकूल नारद-विवाह की कल्पना से ही वे अनियन्त्रित हो जाते हैं। काम के आवेश में जप, तप का परित्याग कर देते हैं तो क्रोध में भरकर वे प्रभु को ही शाप दे देते हैं :

काम : **जप तप कछु न होइ तेहि काला।**
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।।

× ×

क्रोध : **फरकत अधर कोप मन माहीं।**
सपदि चले कमलापति पाहीं।।

देवर्षि यह भी सोच सकते थे कि स्वयं प्रभु यदि अपनी प्रियतमा के वियोग में विलाप कर सकते हैं तो दूसरे को विवाह से विरत करने का क्या अर्थ है? प्रभु ने बालक के दृष्टान्त में इसका बड़ा ही सांकेतिक उत्तर प्रस्तुत किया। एक बालक अग्नि की ओर अपना हाथ बढ़ाता है, अचानक माँ की दृष्टि पड़ जाती है और वह बालक का हाथ बचाने के प्रयास में अपना हाथ जला लेती है। बालक को कृतज्ञ होना चाहिए कि उसकी रक्षा के लिए माँ ने इतना बड़ा कष्ट स्वयं स्वीकार कर लिया। प्रभु का संकेत भी इसी ओर था। यदि उन्हें आज सीता के वियोग में विलाप करना पड़ रहा है तो यह पुरस्कार उन्हें देवर्षि के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने ही शाप देकर प्रभु को पीड़ा पहुँचाने की चेष्टा की है।

श्रीरामभद्र के उत्तर से नारद की सारी भ्रान्ति दूर हो गई।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥

अर्थ—युवती स्त्रियों का शरीर दीपक की लौ के समान है; हे मन ! तू इसका पतंगा न बन। काम और मद को छोड़कर श्रीरामचन्द्र जी का भजन और सदा सत्संग कर।

नारी-सौन्दर्य के अतुलनीय आकर्षण ने व्यक्ति को बहुधा अपनी ओर आकृष्ट किया है। सुन्दरता की सराहना में अनगिनत गीत गाये गए हैं। जीवन और काव्य में उसका अप्रतिम स्थान है पर सन्त-साहित्य में बहुधा नारी से सावधान रहने की प्रेरणा दी गई है, और कुछ लोगों द्वारा तो घोर निन्दा भी की गई है। उपर्युक्त दोहा भी उसी शृंखला की एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु विचार करने पर यह आक्षेप यथार्थ प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त दोहे में 'युवति तन' को 'दीपशिखा' बतलाकर मन को 'पतंग' न बनने की प्रेरणा दी गई है। सौन्दर्य के लिए दीपशिखा की उपमा निन्दात्मक है, ऐसा वे ही लोग कहते हैं जिनका मानस से पूर्ण परिचय नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी कवि-कुल-गुरु कालिदास दीपशिखा की उपमा के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्दुमति के स्वयंवर-प्रसंग में इन्दुमति के सौन्दर्य और उसके पड़ने वाले प्रभाव को लेकर महाकवि ने दीपशिखा का बड़ा कलात्मक उपयोग किया है। सारे विश्व के राजा स्वयंवर-सभा में एकत्र हैं। इन्दुमति हाथ में जयमाल लिये हुए सखियों के साथ

उस राजसभा में आती हैं। क्रमशः वे राजाओं के समक्ष क्षण-भर के लिए रुकती हैं और फिर आगे बढ़ जाती हैं। उस समय कवि इन्दुमति को चलती-फिरती दीपशिखा की उपमा देता है। इन्दुमति को सामने देखकर वहाँ बैठे हुए राजा के चेहरे पर क्षण-भर के लिए चमक आ जाती है और आगे बढ़ते ही मलिनता छा जाती है। दीपशिखा के हट जाने पर अँधेरा छा जाना स्वाभाविक ही है :

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ;
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे,
विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

रामचरितमानस में महाकवि तुलसी ने पुष्प वाटिका-प्रसंग में मिथिलेश-नन्दिनी के सौन्दर्य की सराहना के लिए दीपशिखा को ही प्रतीक रूप में चुना है। यहाँ भी सीता पार्वती-पूजन के लिए पुष्प-वाटिका में पधारी हुई हैं। कौशल राज-कुमार की दृष्टि उनके सौन्दर्य पर पड़ती है। आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो जाती हैं। अपलक रूप-सुधा का पान करते हैं। वाणी मौन हो जाती है। अभी कुछ क्षण पहले ही आभूषणों की ध्वनि से उनके अन्तर्मन में जो कवित्व प्रकट हुआ था उसे लक्ष्मण को सुनाकर वे प्रसन्न हो रहे थे। जिसके आभूषणों की ध्वनि ने उन्हें इतना प्रभावित किया था, उसके स्वरूप को सामने देखकर उनका स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक था। अब वे बोलने की स्थिति में नहीं थे किन्तु अन्तर्मन में वैदेही की छबि की सराहना करते हुए वे किसी उपमा की खोज में लग गए। उन्हें लगा कि कवियों द्वारा प्राकृत नारियों को सारी उपमाएँ अर्पित कर दी गई हैं अतः वे जूठी हैं। अब वे विदेहजा के लिए कैसे प्रयुक्त की जा सकती हैं ? फिर भी प्रभु ने जो उपमा सीता के सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त कर दी वह थी 'दीपशिखा' :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥
भए बिलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥

देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदयँ सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई।
बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुंदरता कहुँ सुंदर करई।
छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी।
केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी॥

'दीपशिखा' की उपमा का यह अनूठा सौभाग्य था कि वह कवियों के द्वारा पहले प्रयुक्त किये जाने पर भी प्रभु को जूठी प्रतीत नहीं हुई। अग्नि की शाश्वत पवित्रता के कारण ही सम्भवतः उसे यह सौभाग्य प्रदान किया गया। दीपशिखा जूठी नहीं होती, वह प्रकाशिका है। अन्धकार का निवारण करना ही उसका कार्य है। उसके अभाव में सारा सौन्दर्य व्यर्थ है। कोई भवन कितने भी कलात्मक रूप से निर्मित क्यों न किया गया हो, रात्रि के अन्धकार में भयावह प्रतीत होने लगता है, यदि उसमें एक दीपशिखा न जल रही हो।

कालिदास की दीपशिखा क्रमशः प्रकाश और अन्धकार की सृष्टि करती है। पर पुष्प-वाटिका में सीता के सौन्दर्य की जो दीपशिखा जल रही है वह केवल प्रकाश फैलाती है। प्रभु लक्ष्मण से उनका परिचय देते हुए उनके इसी गुण की ओर संकेत करते हैं। प्रिय लक्ष्मण ! यह वही जनक की पुत्री हैं जिनके लिए धनुष-यज्ञ हो रहा है। सखियाँ इन्हें पार्वती का पूजन करने के लिए ले आई हैं, और यह अपने प्रकाश से वाटिका को प्रकाशित कर रही हैं :

तात जनकतनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥

जनक के ज्ञान की तुलना सूर्य से की गई है। वे अपने ज्ञान-रवि से मोहान्धकार का विनाश करते हैं। उनकी वचन-किरणों के द्वारा मुनि-कमल विकसित होते हैं। उनकी पुत्री भी प्रकाशिका ही है किन्तु यह प्रकाश दीपशिखा का है। सूर्य में प्रकाश की पराकाष्ठा होते हुए भी व्यक्ति उससे दृष्टि नहीं मिला पाता। उसके प्रकाश में प्रखरता होती है। फिर विश्राम की वेला में जब सूर्य अस्ताचल की ओर जाता है। तत्त्वज्ञ जनक जिस ज्ञान के प्रचारक हैं, वह सौन्दर्य के मिथ्या-

त्व का प्रतिपादन करता है। उसके द्वारा मोहान्धकार का विनाश भले ही हो पर वह मन में रस की सृष्टि कर पाने में असमर्थ है। यह तो स्नेहमयी दीपशिखा के द्वारा ही सम्भव है। सीता के परिचय में 'जनक तनया' शब्द का प्रयोग इस विलक्षणता की ओर इङ्गित करने के लिए ही किया गया है, ऐसा जान पड़ता है।

दीपशिखा का स्मरण पुनः उत्तरकाण्ड में किया गया है। "अबिनासी" और "सहज सुखरासीं" ईश्वर का अंश जीव माया-रज्जु में बँध गया है। मोहान्धकार में व्यक्ति ज्यों-ज्यों इस ग्रन्थि से मुक्त होने का प्रयास करता है त्यों-त्यों उलझता जाता है। जब तक हृदय में प्रकाश न हो तब तक गाँठ कैसे खुल सकती है। इस अन्धकार को दूर करने के लिए ज्ञान-दीप की आवश्यकता है :

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो माया बस भयउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकट की नाईं।।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।।
तब ते जीव भयउ संसारी।
छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।
जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी।
ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।।

कठिन प्रयास के बाद जब यह दीपक जलता है तब उसमें दीपशिखा का दर्शन होता है। यह 'दीपशिखा' 'सोहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति है :

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा।
दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।।

दीपक में तेल और बत्ती होते हुए भी जब तक उसे अग्नि के द्वारा प्रज्ज्वलित नहीं किया जाता तब तक वह प्रकाशहीन और अग्नि से सर्वथा भिन्न जान पड़ता है। किन्तु एक बार अग्नि का संयोग होते ही 'दीपशिखा' भी अग्नि-रूप ही बन जाती है। तब उसमें और अग्नि में रञ्चमात्र भेद शेष नहीं रहता। ब्रह्म और जीव का पार्थक्य भी ठीक इसी प्रकार का है। किन्तु एक बार 'सोहमस्मि' (वह मैं हूँ) की अनुभूति होते ही सारी भ्रान्तियों से मुक्त होकर जीव एकत्व का अनु-

भव करने लग जाता ।

इस तरह दोनों प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दीपशिखा मानस के सर्वोत्कृष्ट प्रतीकों में से है। इसलिए 'युवति तन' को दीपशिखा बताकर नारी की निन्दा नहीं की गई है। गोस्वामीजी यह नहीं कहते कि इस दीपशिखा को बुझा दो या नष्ट कर दो। वे तो मन को ही पतंग बनने से रोकने का उपदेश देते हैं। पतंग का यह दुर्भाग्य है कि वह दीपशिखा से प्रकाश न लेकर उसकी दाहकता में स्वयं को भस्म कर लेता है।

साहित्य में बहुधा पतंग को प्रेमी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। कहा जाता है कि दीपक के प्रति पतंगे का एकांगी प्रेम है। वह दीपक से प्रेम करता है, किन्तु दीपक का व्यवहार उसके प्रति अत्यन्त निष्ठुर है। समीप जाने पर वह पतंगे को जलाकर भस्म कर देता है। किन्तु गोस्वामीजी के काव्य में वह अविवेक का प्रतीक है। यदि वह दीपक से सच्चा प्रेम करता होता तो वह उसे निष्ठुरता के कलंक से कलंकित न होने देता। वह दूर से उसके प्रकाश और सौन्दर्य को देखकर आनन्द की अनुभूति कर लेता। आलिंगन की आकांक्षा में उसकी वासना बोलती है। इसलिए वह स्वयं तो विनष्ट होता ही है बहुधा दीपक के बुझने का कारण भी बन जाता है। ठीक यही स्थिति 'युवति तन' रूपी दीपशिखा में भी है। सौन्दर्य में जब तक ईश्वरीय प्रकाश का साक्षात्कार होता है तब तक वह सौन्दर्य के प्रति प्रेम का परिचायक है। किन्तु जब भोक्तापन की वृत्ति से कोई व्यक्ति अपने मन-पतंग को उसके समीप ले जाता है तब वह अपने और सौन्दर्य दोनों के विनाश की भूमिका प्रस्तुत करता है।

किन्तु मन केवल समझाने-मात्र से हो सौन्दर्य से विरत नहीं हो सकता, उसे कहीं अन्यत्र लगाना होगा। इसके लिए गोस्वामीजी दो वस्तुओं के त्याग और दो वस्तुओं के ग्रहण का आदेश देते हैं। काम और मद का परित्याग एवं सत्संग और भजन का आश्रय। पतंग काम और मद की प्रेरणा से ही दीपक के समीप जाता है। सामीप्य की आकांक्षा में उसका काम झलकता है तो दाहकता की उपेक्षा में मद। इन दोनों को विनष्ट करने के लिए सत्संग और भजन की आवश्यकता है। सन्तों के संग से मद विनष्ट हो जाता है और भजन करने से काम का विनाश होता है।

अरण्यकाण्ड के समापन में ही 'युवति तन' से सावधान रहने की प्रेरणा देना प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। इस काण्ड में संघर्ष का श्रीगणेश शूर्पणखा को लेकर होता है। भगवान् राम और लक्ष्मण वासना के बहिरंग सौन्दर्य की उपेक्षा करते हैं। किन्तु रावण भक्ति-स्वरूपा सीता के सौन्दर्य को कलुषित दृष्टि से देख कर अपने विनाश का समारम्भ स्वयं कर देता है। मानों उसने दिव्य दीपशिखा

से प्रकाश ग्रहण करने के स्थान पर उन्हें बलात् लंका में ले जाकर दाहकता के प्रकट होने का अवसर दिया। सारी लंका इस दीपशिखा के कारण जलकर विनष्ट हो गई। विदेहनगर की वाटिका में प्रकाश करने वाली दीपशिखा देहनगर लंका में आकर दाहिका बन जाये, यह स्वाभाविक ही था।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानिकर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥

अर्थ—जहाँ श्री शिव-पार्वती बसते हैं, उस काशी को मुक्ति की जन्मभूमि, ज्ञान की खान और पापों का नाश करने वाली जानकर उसका सेवन क्यों न किया जाये ?

परम्परा से सप्त पुरियों को मोक्षदायिका के रूप में माना जाता रहा है। जिन सातों को यह गौरव प्रदान किया गया है वे हैं, अयोध्या, मथुरा, कनखल, काशी, काञ्ची, उज्जैन तथा द्वारिकापुरी :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका॥

किन्तु मोक्ष की गौरवशाली परम्परा जितनी काशी से जुड़ी हुई है उतनी किसी अन्य पुरी से नहीं। गोस्वामीजी ने भी काशी को मुक्ति की जन्मभूमि बताकर इसी मत का समर्थन किया है। एक व्यक्ति यशस्वी होकर सारे विश्व को गौरवान्वित कर सकता है। किन्तु उसकी जन्मभूमि का महत्त्व स्वभावतः सर्वाधिक माना जाता है। मुक्ति महारानी सातों पुरियों में अपनी उदारता के लिए प्रसिद्ध हैं। किन्तु उनकी जन्मभूमि काशी ही है। इसलिए मुक्ति की दृष्टि से समस्त पुरियों में काशी का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। मृत्यु को सन्निकट समझकर

स्मार्त हिन्दू जहाँ पहुँचने के लिए व्यग्र हो जाता है, वह पुरी काशी ही है। इसीलिए काशी की महिमा गाते हुए "मरणं मंगलम् यत्र" का प्रयोग किया जाता है।

तथाकथित बुद्धिवादी इस प्रकार की धारणा को अन्धविश्वास की श्रेणी में मानता है। किन्तु यथार्थ को अनदेखा कर यह भी तर्क का अतिवादी मार्ग है।

जो लोग सभी भूमियों की समानता का राग अलापते हैं वे यथार्थ को अनदेखा करके ही ऐसा कर सकते हैं। भौतिक दृष्टि से प्रत्येक भूमि की जलवायु भिन्न होती है। कहीं का जल स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है तो कहीं का अस्वास्थ्यकर, कहीं किसी अन्न की उपज होती है तो कहीं किसी अन्न की। कहीं की भूमि हीरा उगलती है तो कहीं की कोयला। कहीं जल का स्रोत मिलता है तो कहीं तेल का। ऐसी बंजर भूमि भी देखी जाती है जिसकी कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती है। इस वैषम्य के लिए ईश्वर की आलोचना करना व्यर्थ है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी अलग-अलग भूमियों में भिन्न प्रकार के मनोभावों की प्रधानता रहती है। कहीं पहुँचकर व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है तो कहीं जाकर शान्ति का। यह भी भूमि के प्रभाव की भिन्नता का परिचायक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भूमि ही सब-कुछ है। देश, काल और व्यक्ति सभी का अपना महत्त्व है। काल के महत्त्व को दृष्टिगत रखकर ही पौराणिक पराम्परा में युगों का विभाजन किया गया है। व्यक्ति और समाज की मन:स्थिति पर युगों के बदलाव का प्रभाव पड़ता है इसका उल्लेख पुराणों में बार-बार किया गया है। ऋतुओं के रूप में काल-परिवर्तन की प्रक्रिया का शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है। देश और काल के प्रभाव से व्यक्ति अछूता नहीं रह सकता है किन्तु इसके अपवाद भी दिखायी देते हैं। व्यक्ति साधना के द्वारा कभी इतनी ऊँचाई प्राप्त कर लेता है कि वह देश और काल के अपवित्र प्रभाव से स्वयं को मुक्त कर लेता है, और कभी व्यक्ति का मन इतने निम्न धरातल पर चला जाता है कि देश और काल की पवित्रता का पूरा प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है।

बड़ी प्रसिद्ध घटना है कि जब कबीर की मृत्यु का समय निकट आया तब उन्होंने शिष्यों से मगहर चलने का अनुरोध किया और उन्होंने अपने शरीर का परित्याग वहीं किया। इसमें काशी के प्रति अनास्था का भाव नहीं था। वे तो कहते हैं कि काशी में मरकर तो बुरे-से-बुरे व्यक्ति की भी मुक्ति हो जाती है यदि कबीर भी वहीं मरकर मुक्त हुआ तो इसमें राम का क्या निहोरा रह गया?

काशी मरे ते मुक्ति होति है मोर घोर अरु चोर।
जौ कबिरा कासी मरा तो रामहि कौन निहोर।।

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वे काशी की इस महिमा को स्वीकार करते हैं पर साथ ही वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि भगवत्प्रेमी किसी भी देश में शरीर का परित्याग क्यों न करे वह मुक्त ही होता है। कबीर-जैसी निष्ठा प्रत्येक व्यक्ति में सम्भव नहीं है। उसे तो अपने कल्याण के लिए देश और काल की सहायता भी प्राप्त करनी पड़ती है। इसी व्यापक दृष्टि से गोस्वामीजी ने देश, काल और व्यक्ति तीनों के गौरव को उचित महत्त्व प्रदान किया है। अयोध्या और काशी की वन्दना वे भक्ति और मुक्ति की प्रधानता से करते हैं :

अयोध्या : **जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि।**
उत्तर दिसि सरजू बह पावनि॥
जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा।
मम समीप नर पावहिं बासा॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।
मम धामदा पुरी सुखरासी॥

काशी : किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ में तो वे काशी का वर्णन मुक्ति की जन्मभूमि के रूप में करते ही हैं, विनयपत्रिका के पदों में भी वे काशी के इस गौरव का गायन करते हुए वहाँ निवास करने का अनुरोध करते हैं :

जो गति अगम महामुनि दुरलभ कहत संत श्रुति सकल पुरान।
सो गति मरनकाल अपने पुर देत सदा सिव सबहिं समान॥

एक दूसरे पद में वे मुक्ति की तुलना गोदुग्ध से करते हैं। यह दूध जिस गाय से उपलब्ध होता है वह उनकी दृष्टि में काशी-रूपा कामधेनु है। इसका सर्वांग रूपक इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—इस कलियुग में काशी-रूपी कामधेनु का प्रेम सहित जीवन-भर सेवन करना चाहिए। यह शोक, सन्ताप, पाप और रोग का नाश करने वाली तथा सब प्रकार के कल्याणों की खानि है। काशी के चारों ओर की सीमा इस कामधेनु के सुन्दर चरण हैं। स्वर्गवासी देवता इसके चरणों की सेवा करते हैं। यहाँ के सब तीर्थस्थान इसके शुभ अंग हैं और नाशरहित शिवलिंग इसके रोम हैं। अन्तर्गृही (काशी का मध्य भाग) इस कामधेनु का ऐन है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों फल इसके चार थन हैं। वेद-शास्त्रों पर विश्वास रखने वाले आस्तिक लोग इसके बछड़े हैं। विश्वासी पुरुषों को ही इसमें निवास करने से मुक्ति रूपी अमृतमय दूध मिलता है। सुन्दर वरुण नदी गल-कम्बल के समान इसकी शोभा बढ़ा रही है। और असी नामक नदी पूँछ के रूप में शोभित हो रही है। दण्डधारी भैरव इसके सींग हैं। पाप में मन

रखने वाले दुष्टों को उन सींगों से यह सदा डराया करती है। लोलार्क (कुण्ड) और त्रिलोचन (एक तीर्थ) इसके नेत्र हैं और कर्णघण्टा नामक तीर्थ इसके गले का घण्टा है। मणिकर्णिका इसका चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है, गंगाजी से मिलने वाला पाप-ताप-नाश रूपी सुख इसकी शोभा है, भोग और मोक्ष रूपी सुखों से परिपूर्ण पञ्चकोसी की परिक्रमा ही इसकी महिमा है। दयालु हृदय विश्वनाथ जी इस कामधेनु का पालन-पोषण करते हैं और पार्वती सरीखी स्नेहमयी जगज्जननी इस पर सदा प्यार करती रहती हैं। आठों सिद्धियाँ, सरस्वती और इन्द्राणी शची इसका पूजन करती हैं। जगत् का पालन करने वाली लक्ष्मी सरीखी इसका रुख देखती रहती हैं।

'नमः शिवाय' यह पञ्चाक्षरी मन्त्र ही इसके पाँच प्राण हैं। भगवान् विन्दु-माधव ही आनन्द हैं। पञ्चनदी (पञ्चगंगा) तीर्थ ही इसके पञ्चगव्य हैं। यहाँ संसार को प्रकट करने वाले राम-नाम के दो अक्षर 'रकार' और 'मकार' इसके अधिष्ठाता ब्रह्म और जीव हैं। यहाँ मरने वाले जीवों का सब सुकर्म और कुकर्म रूपी घास यह चर जाती है, जिससे उनको वही परमपद रूपी पवित्र दूध मिलता है, जिसको संसार के विरक्त महात्मागण चाहा करते हैं। पुराणों में लिखा है कि भगवान् विष्णु ने सम्पूर्ण कला लगाकर अपने हाथों से इसकी रचना की है। हे तुलसीदास ! यदि तू सुखी होना चाहता है तो काशी में रहकर श्रीराम-नाम जपा कर :

सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक-संताप-पाप-रुज सकल-सुमंगल रासी।।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर, सेवत सुरपुर बासी।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अबिनासी।।
अंतरऐन ऐन भल, थन फल, बच्छ बेद-बिस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु, लूम लसित सरिताऽसी।।
दंडपानि भैरव विषान, मलरुचि-खलगन-भयदा-सी।
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी।।
मनिकर्निका बदन-ससि सुन्दर, सुरसरि-सुख सुखमा-सी।
स्वारथ परमारथ परिपूरन, पंचकोस महिमा-सी।।
बिस्वनाथ पालक कृपालुचित लालति नित गिरजा-सी।
सिद्धि, सची, सारद पूजहिं, मग जोवति रहति रमा-सी।।
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गब्य सुपंचनदा-सी।
ब्रह्म जीव-सम राम नाम जुग आखर बिस्व-बिकासी।।

चारितु चरति करम कुकरम करि मरत जीवगन घासी।
लहत परमपद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच उदासी।।
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति कला-सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी।।

जहाँ एक ओर पौराणिक मान्यता यह है कि काशी मुक्तिदात्री है, वहीं औपनिषद्-परम्परा में यह कहा जाता है कि ज्ञान के अभाव में मुक्ति कभी सम्भव भी नहीं है। इसी तरह कर्म-सिद्धान्त का यह आग्रह है कि कर्म का परिणाम व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है। इन दोनों के समर्थन में प्रयुक्त किये जाने वाले दो प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार हैं :

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"

× ×

"ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि"

इन दो विरोधाभासी सिद्धान्तों का समन्वय करने के लिए काशी की अन्य दो विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं—'ज्ञान खानि' 'अघ हानिकर'। यह ठीक है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का परिणाम भोगना पड़ता है किन्तु व्यवहार में भी इसके अनेक दृष्टान्त दिखायी देते हैं। न्यायालय द्वारा अपराधी को दण्ड दिये जाने पर भी राष्ट्रपति क्षमादान के द्वारा दण्ड में कमी कर सकता है। पिछले गान्धी जन्म-शताब्दी के अवसर पर सामूहिक रूप से राष्ट्रपति ने क्षमादान की घोषणा की जिससे मृत्युदण्ड-प्राप्त अनेक कैदी मृत्यु के मुख से बाहर निकल आये! दीर्घकालीन सजा भोग रहे अनेक कैदी क्षमादान के द्वारा मुक्त कर दिये गए। यदि भौतिक क्षमता-सम्पन्न राष्ट्रपति ऐसा कर सकता है तो विश्वनाथ को ऐसा अधिकार क्यों न होगा! वे भी अपनी पुरी में पाप के परिणाम से व्यक्ति को मुक्त कर देते हैं। इसीलिए काशी 'अघ हानिकर' है।

यदि ज्ञान के अभाव में मुक्ति नहीं हो सकती है तो यह पुरी स्वयं ज्ञान की खानि है। इसीलिए यहाँ ज्ञान की उपलब्धि भी अत्यन्त सरल है। भौतिक व्यवहार में भी इसके दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। अन्य क्षेत्रों में जहाँ कोयला मूल्य देकर उपलब्ध होता है वहाँ जिन क्षेत्रों में कोयले की खानें हैं वहाँ वालों को वह बिना मूल्य मिल जाता है।

ठीक इसी तरह विश्व के अन्य क्षेत्रों में ज्ञान बड़ा महँगा बिकता है किन्तु काशी तो ज्ञान की खानि है, यहाँ वालों को वह सरलता से बिना मूल्य दिये ही मिल जाता है। इसलिए उनकी मान्यता यह है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति, किसी

भी दृष्टि से काशी मुक्तिदात्री नगरी है।

अथवा जैसे एक युवक जिन वस्तुओं को बाजार से मूल्य देकर प्राप्त करता है और मूल्यार्थ मुद्रा प्राप्त करने के लिए उसे कठिन परिश्रम करना पड़ता है, नन्हा बालक माता-पिता के द्वारा उन्हीं सब वस्तुओं को बिना मूल्य दिये ही पाने में समर्थ होता है। जगज्जननी पार्वती और जगत्पिता भगवान् शंकर इस काशी में ही निवास करते हैं और वहाँ निवास करने वालों को नन्हा शिशु मानकर, बिना साधना का मूल्य लिये हुए भी मुक्ति और ज्ञान का वितरण करते रहते हैं। "जहँ बसि संभु भवानि" में इसी ओर संकेत किया गया है।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥

अर्थ—अत्यन्त भयभीत होकर उन्होंने कहा कि हनुमान यह दोनों व्यक्ति बल और रूप के निधान लग रहे हैं। तुम ब्रह्मचारी का रूप धारण करके देखने जाओ। अपने हृदय में उनकी सही बात समझकर मुझे इशारे से समझाकर कह देना।

मानस के उत्तरकाण्ड में भक्ति की दृढ़ता के लिए जिस क्रम का उल्लेख किया गया है उसमें सर्वप्रथम जानने का महत्त्व बताया गया है। जब तक किसी वस्तु या व्यक्ति को सही-सही न जाने तब तक उसके प्रति विश्वास होना कठिन है। विश्वास के अभाव में प्रीति हो भी कैसे सकती है? और प्रीतिरहित भक्ति में दृढ़ता की कल्पना जल के द्वारा चिकनाई प्राप्त करने की चेष्टा के समान है:

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीत होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥

हीरे को यदि व्यक्ति काँच समझ ले तो वह स्वभावतः उसकी उपेक्षा करेगा। इस ज्ञान के अभाव में ही सुग्रीव प्रभु को देखकर भयभीत हो उठे थे। ऋष्यमूक

पर्वत की चोटी पर बैठे हुए सुग्रीव की दृष्टि पर्वत की तलहटी में आते हुए दो राजकुमारों पर पड़ी। बालि के आतंक से भयभीत सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर निवास करते थे। बालि को यह शाप था कि ऋष्यमूक पर्वत पर आते ही उसका सिर शतधा विदीर्ण हो जायेगा। इसीलिए सुग्रीव का साहस पड़ा कि ऋष्यमूक को अपनी निवासस्थली बनायें। किन्तु इससे वे पूरी तरह निश्चिन्त हो गये हों, ऐसा नहीं था। ईश्वर के प्रति समग्र समर्पण के अभाव में पूरी निश्चिन्तता सम्भव भी नहीं है। भय और चिन्ता के आने के अनगिनत मार्ग हैं और जब तक व्यक्ति उसके आने का एक मार्ग अवरुद्ध करता है तब तक किसी अन्य मार्ग से आकर वे सामने खड़े हो जाते हैं। बेचारा सुग्रीव पहले बालि के भय के मारे सारे विश्व में भागता फिरा और अन्त में ऋष्यमूक पर्वत पर आकर बस गया। यद्यपि बालि वहाँ नहीं आ सकता था किन्तु सुग्रीव के मन में अनेक संकल्प-विकल्प आते ही रहते थे। वह सोचता था—"बालि के अनेक शक्तिशाली मित्र हैं, और वह स्वयं न आकर भी उन्हें भेजकर मेरा वध कराने में समर्थ हो सकता है।" प्रभु से मित्रता होने पर अपनी इस मन:स्थिति का वर्णन करते हुए स्वयं उन्होंने इस शब्दावली का प्रयोग किया :

ताकें भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेऊँ बिहाला।।
इहाँ साप बस आवत नाहीं।
तदपि सभीत रहऊँ मन माहीं।।

इसी मन:स्थिति में उसने परम तेजस्वी राम और लक्ष्मण को पर्वत की ओर आते देखा। आशंका के कारण वह काँप उठा। उसे लगने लगा कि इनमें से एक ही मेरी मृत्यु के लिए यथेष्ट है। किन्तु दूसरा शायद मेरे भागकर बचने का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए आ रहा है। फिर बालि तो केवल मल्ल-युद्ध में ही निपुण है, अत: वह सन्निकट से ही पराजित कर सकता है। किन्तु यह दोनों तो धनुर्धर हैं, चाहे जितनी दूर से प्रहार करके मेरा वध कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या कर्त्तव्य है ? क्यों न मैं इनकी दृष्टि पड़ने से पहले ही पर्वत छोड़कर भाग जाऊँ। संकल्प-विकल्प के इन क्षणों में ही उसकी दृष्टि हनुमान पर जाती है और उसे प्रतीत होता है कि सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनसे अधिक उपयुक्त पात्र कोई दूसरा नहीं हो सकता है। अत: वे इस गुत्थी को सुलझाने के लिए आंजनेय का आश्रय लेते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं कि वे ब्रह्मचारी के वेश में जाकर इन दोनों राजकुमारों को समझने की चेष्टा करें। यदि ये राजकुमार बालि की प्रेरणा सेआये हुए हों तो मुझे ऐसा संकेत दे दीजिएगा जिससे इस

पर्वत का परित्याग कर मैं अन्यत्न कहीं चला जाऊँ :

आगें चले बहुरि रघुराया।
रिष्यमूक पर्बत निअराया।।
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा।।
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना।।
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई।।
पठए बालि होंहि मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला।।

आध्यात्मिक दृष्टि से सुग्रोव का चरित्न साधारण-से-साधारण व्यक्ति के लिए बड़े काम का है। रामचरितमानस में प्रभु के जिन निकटस्थ पात्नों का परिचय दिया गया है वे इतने महान् हैं कि साधारण व्यक्ति के मन में यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि वह प्रभु को प्राप्त करने का अधिकारी है या नहीं। किन्तु सुग्रीव का चरित्न उसकी आशंकाओं को सर्वथा निर्मूल सिद्ध कर देता है। सुग्रीव एक साधारण व्यक्ति को भाँति समस्याओं से घिरे हुए हैं और उन वस्तुओं से भी वंचित कर दिये गए हैं जो साधारण व्यक्तियों को भी उपलब्ध रहती हैं। घर और परिवार दोनों का अभाव जिस व्यक्ति के जोवन में हो उसके अभाग्य की कल्पना कठिन है। कई बार वस्तुओं को खोकर व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि अब खोने के लिए है ही क्या जिसकी चिन्ता करूँ ? पर यहाँ तो चिन्ता बढ़ ही गई है। भय यही है कि बचा हुआ प्राण भी कहीं विनष्ट न कर दिया जाए। पर आशंकाओं से घिरा हुआ ऐसा व्यक्ति भी प्रभु को पाने में समर्थ हो जाता है। यह कितना बड़ा आश्चर्य है ? सत्य तो यह है कि सब-कुछ खो देने पर भी सुग्रीव ने कुछ ऐसा बचा लिया था जो गाढ़े समय में भी उसके काम आया। और यह बचे हुए हनुमान ही तो हैं। यदि गाढ़े समय में इन्हें पकड़े रहा जाये तो यह ईश्वर से जीव को मिलाकर अन्त में उसे समस्या से मुक्त बना देते हैं।

पौराणिक परम्परा में इन्हें रुद्र का अवतार बताया गया है। गोस्वामीजी दोहावली रामायण में इसी मान्यता का समर्थन करते हैं। प्रभु की सेवा का आनन्द लेने के लिए ही भगवान् शंकर हनुमान के रूप में जन्म लेते हैं :

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान ।।

भगवान् शंकर विश्वास के घनीभूत रूप हैं। पार्वती और शंकर की कृपा के बिना योगी अन्तःस्थित ईश्वर को नहीं देख पाता। इसका तात्पर्य यह है कि श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से ही ईश्वर को देखना चाहिए। श्रीहनुमान जी अकेले ही श्रद्धा और विश्वास के मिलित रूप हैं। सुग्रीव ने भले ही सब-कुछ खो दिया हो पर विश्वास ने उनका साथ नहीं छोड़ा और यही विश्वास अन्त में उसके उद्धार का कारण बना। अतीत और वर्तमान व्यक्ति के समक्ष होता है किन्तु भविष्य सर्वथा अज्ञात और रहस्यमय है। व्यक्ति भविष्य के विषय में जो कल्पनाएँ करता है वही उसके सुख और दुःख का कारण बनती हैं। कुछ लोग भविष्य की सुखद कल्पना करते हुए यथार्थ की उपेक्षा करते हैं। कल्पना को साकार रूप देने के लिए जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है उसका प्रयोग नहीं करते और परिणामस्वरूप उनकी आशाएँ ही उन्हें कष्ट पहुँचाती हैं। तो कुछ सर्वदा निराशा से घिरे हुए भयावह कल्पनाओं से स्वयं को संत्रस्त करते हैं। यह दोनों ही अतिरेक बड़े दुःखदायी सिद्ध होते हैं। किन्तु जो आस्तिक हैं जिनकी ईश्वर में आस्था है वे भविष्य को ईश्वर से सम्बद्ध कर देते हैं। सही भविष्य को केवल ईश्वर ही जान सकता है और ईश्वर करुणामय है, जीव उसका सुहृद् है तो फल उसी के हाथों में क्यों न छोड़ दें। सारे कर्म करता हुआ व्यक्ति फल पाने में स्वतन्त्र नहीं है। तब ईश्वर पर भरोसा करना ही कल्याणकारी है।

विश्वास भविष्य की कल्पनाओं से स्वयं को संत्रस्त नहीं करता। भगवान् शंकर के जीवन में जब इस प्रकार का अवसर आया तब वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। वन में विलाप करते हुए प्रभु को देखकर सती के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न हुआ। भगवान् शंकर के द्वारा प्रयास किये जाने पर भी वे संशय से मुक्त नहीं हो पाती हैं। प्रभु की परीक्षा के लिए चल पड़ती हैं। इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, देवाधिदेव इसे जानने में समर्थ थे किन्तु वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वही होगा जिसकी रचना प्रभु ने की होगी। अतः अनावश्यक तर्क-विस्तार से क्या लाभ ? ऐसा सोचकर वे प्रभु के नाम का जप करने लगे :

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तरक बढ़ावै साखा।।
अस कहि लगे जपन हरिनामा।
गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा।।

यही विश्वास प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति में बड़े-से-बड़े आघात को झेलने की सामर्थ्य देता है। शिव के समक्ष भी अनेक घटनाएँ ऐसी आईं जो पीड़ादायक थीं। सती परीक्षा लेकर लौटने के बाद भगवान् शिव से झूठ बोल जाती हैं। भगवान् शंकर को इस पर क्रोध आ सकता था किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि यह भी प्रभु की योजना का ही कोई भाग होगा। ऐसी स्थिति में मेरे लिए उचित कर्त्तव्य क्या है, यह प्रश्न भी उनके अन्तर्मन में उठा। एक ओर सती का पातिव्रत और दूसरी ओर जगज्जननी सीता का वेश धारण करने के कारण अग्राह्यता का जो अन्तर्द्वन्द्व सामने आता है उसमें निर्णय का भार वे अन्तर्यामी पर ही छोड़ देते हैं और उन्हें तत्काल प्रेरणा मिलती है 'सती अब मुझसे इस शरीर से नहीं मिल सकती हैं' और यही व्रत वे लेते हैं :

तब संकर देखेउ धरि ध्याना।
सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।।
बहुरि राममायहि सिरु नावा।
प्रेरि सतिहि जेहिं झूंठ कहावा।।
हरि इच्छा भावी बलवाना।
हृदयँ बिचारत संभु सुजाना।।
सती कीन्ह सीता कर बेषा।
सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा।।
जौं अब करउँ सती सन प्रीती।
मिटइ भगति पथु होइ अनीती।।
परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु।
प्रगटि न कहत महेस कछु हृदयँ अधिक संतापु।।
तब संकर प्रभु पद सिरु नावा।
सुमिरत रामु हृदयँ अस आवा।।
एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।
सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं।।

विश्वास के घनीभूत रूप हनुमान निरन्तर सुग्रीव के साथ थे और अनिर्णय की इस स्थिति में निर्णय का भार उन पर सौंपकर सुग्रीव ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। जब अपनी दृष्टि धुँधली हो जाये तब व्यक्ति मित्र की दृष्टि पर भरोसा कर अपना हाथ उसके हाथों में सौंपकर कहता है, अब तुम्हीं मार्ग देखो और दिखाओ। मैं तुम्हारे संकेत पर चलूंगा। ऐसे अवसर पर मार्गदर्शक

और भी अधिक सजग हो जाता है, क्योंकि उसे यह ज्ञात रहता है कि उसकी असावधानी से दो-दो व्यक्तियों के ठोकर खाने की सम्भावना है। विश्वास पर विश्वास कर सुग्रीव घाटे में नहीं रहे और अन्त में प्रभु को पा लिया।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जगकारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार॥

× ×

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

अर्थ—आप जग के कारण हैं, संसार को तारने वाले हैं, अथवा आप स्वयं भगवान् ही हैं जो पृथ्वी का भार उतारने मनुष्य-रूप में पधारे हैं ?

प्रभु को पहचानकर हनुमानजी उनके चरणों में गिर पड़े। शिवजी कहते हैं—हे पार्वती ! उस सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता।

आञ्जनेय और प्रभु का मिलन आँख-मिचौनी के अनोखे खेल के समान था जिसमें प्रभु ने छिपकर भक्त से कहा, मुझे खोजो तो जानूँ ! इस खेल में भक्त विजयी हुआ और भगवान् ने अपनी हार स्वीकार कर ली। सुग्रीव की प्रेरणा से बटु-वेश में हनुमान प्रभु के पास आये। दोनों चतुर अभिनेता एक-दूसरे के सामने थे। दोनों वेश बदलने की कला में निपुण थे। प्रभु पर दृष्टि जाते ही पवननन्दन को यह समझने में देर नहीं लगी कि यह केवल दो क्षत्रिय राजकुमार-मात्र नहीं हैं। पता लगाने का उपयुक्त उपाय न जानने के कारण ही मानस के अनेक पात्रों को भ्रमित होना पड़ा। सती और लंकेश्वर रावण, परीक्षा के माध्यम से ही प्रभु को पहचानना चाहते थे। रावण ने स्वर्ण-मृग के माध्यम से परीक्षा ली और रामभद्र को अनुत्तीर्ण घोषित किया। उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि यह ईश्वर तो क्या बुद्धिमान राजकुमार भी नहीं हैं। जिसने यह भी विचार न किया हो कि सृष्टि में स्वर्ण-मृग सम्भव है या नहीं और प्रियतमा का अनुरोध सुनते ही

स्वर्ण-मृग के पीछे दौड़ पड़ा हो, उससे बढ़कर बुद्धिहीन कौन होगा ? सती परीक्षा लेने गईं, प्रभु चाहते तो रावण की भाँति उन्हें भी भ्रम में डाल देते, किन्तु सती के प्रति उनके अन्तःकरण में करुणा जाग्रत हुई। क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि सती शिव की आज्ञा से परीक्षा लेने के लिए आई हुई हैं। यद्यपि परीक्षा के प्रति अपनी असहमति प्रकट करने के लिए ही शिव सती के साथ जाना अस्वीकार कर देते हैं :

जौं तुम्हरे मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परीछा लेहू॥
तब लगि बैठ अहउँ बटछाहीं।
जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥

यदि सती ने इस असहयोग को गम्भीरता से लिया होता तो सम्भवतः वे भविष्य के बड़े संकट से बच जातीं। किन्तु सती उतावलेपन से सीता का वेश बना कर प्रभु के पास पहुँच जाती हैं। प्रभु ने परीक्षार्थी का सच्चा अभिनय करते हुए उन्हें प्रणाम किया। व्यंग्य-भरे स्वर में अपना परिचय देते हुए स्वयं को दशरथ के पुत्र के रूप में स्वीकार किया पर साथ ही यह पूछे बिना नहीं रहे कि "वृषकेतु शिव कहाँ हैं और वन में आप अकेली क्यों घूम रही हैं ?" तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है न कि परीक्षा का। सती के लिए यही उचित अवसर था कि वे अपनी त्रुटि के लिए क्षमायाचना कर सकती थीं। किन्तु संकोच और भय के कारण वे चुपचाप लौटने लगीं। प्रभु ने एक अनोखा कौतुक किया और अपना ऐश्वर्यमय रूप उनके समक्ष प्रकट कर दिया। मानों यह प्रभु का व्यंग्य था कि यदि परीक्षक परीक्षा लेने के बाद उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र न दे तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि अभी उसे परीक्षार्थी से पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए यह आवश्यक है कि मैं आपको और भी अधिक सन्तुष्ट करूँ। सती की दृष्टि जिधर जाती है उधर ही भगवान् राम-सीता और लक्ष्मण की झाँकी दिखाई देती है। लक्ष्मी और सरस्वती के साथ-साथ सती ने स्वयं को भी अनगिनत रूपों में देखा। तब वे नेत्र मूँदकर मार्ग में बैठ जाती हैं :

राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु॥
मै संकर कर कहा न माना।
निज अग्यानु राम पर आना॥
जाइ उतरु अब देहउँ काहा।
उर उपजा अति दारुन दाहा॥

जाना राम सती दुखु पावा।
निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥
सतीं दीख कौतुकु मग जाता।
आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा।
सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।
सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका।
अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा।
बिबिध बेष देखे सब देवा॥
सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं जेहिं बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥
देखे जहँ तहँ रघुपति जेते।
सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जो संसारा।
देखे सकल अनेक प्रकारा॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा।
राम रूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे॥
सीता सहित न बेष घनेरे॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।
देखि सती अति भइं सभीता॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं।
नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥

पर परीक्षा लेने की यह प्रक्रिया सती के भविष्य के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हुई। प्रभु के सन्निकट पहुँचकर भी वे उस वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर पाईं जो भक्तों को सबसे प्रिय लगने वाली वस्तु है। वह है 'प्रभु का स्वभाव'। उन्हें देखने को भी मिला तो प्रभाव "निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा"। स्वभाव का ज्ञान होना परिचय का परिचायक है। संसार में भी निकट जाकर व्यक्ति को व्यक्ति के स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। सती को वह सौभाग्य नहीं

मिला। पास जाकर भी वे दूर रहीं। ईश्वर जिज्ञासा का विषय है, श्रद्धा के द्वारा उसे जाना जाता है। परीक्षा के द्वारा उसको परखने की चेष्टा अपने अहं से ईश्वर को नापने के समान है।

श्रीहनुमान जी ने प्रभु के माध्यम से ही उनको जानने का प्रयास किया। मानों वे अनजाने में ही उस निष्कर्ष पर पहुँचे जिसे महर्षि वाल्मीकि ने "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई" के रूप में प्रतिपादित किया है। इसलिए वे प्रभु को प्रणाम कर सीधे उनसे ही पूछ देते हैं, "को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा"। प्रभु उनके समक्ष क्षत्रिय राजकुमार के रूप में थे, अभिनय की पूर्णता के लिए यह अधिक आवश्यक था कि वे 'बटु' के वेश में होने के नाते उन्हें प्रणाम न करते। पर जिज्ञासु के लिए एक भिन्न नियम है जिसे गीता में "तद्विद्धिप्रणिपातेन" (उसे प्रणाम के द्वारा जानो) के रूप में कहा गया है। हनुमानजी ने वर्ण-धर्म के स्थान पर जिज्ञासु-धर्म को ही अधिक महत्त्व दिया।

किन्तु प्रभु इतनी सरलता से पकड़ में नहीं आना चाहते थे। उन्हें लगा कि फिर खेल का आनन्द ही क्या रह जायेगा। जिज्ञासु को मानों संकेत मिला, अभी और खोजो। मायानाथ भक्त की पहुँच की गहराई नापना चाहते थे। पवननन्दन का प्रश्न विस्तृत होता गया, "क्षत्रिय रूप धारण कर वन में घूमने वाले आप कौन हैं, इस कठोर भूमि में कोमल चरण होते हुए भी आप किस उद्देश्य से घूम रहे हैं? कोमल और मनोहर श्रीविग्रह से शीत, घाम और वायु के थपेड़ झेलने वाले आप कौन हैं? क्या आप त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) में से ही तो कोई नहीं हैं? अथवा नारायण और नर ही तो इस वेश में नहीं आ गये हैं? कहीं सृष्टि के कारण भव से मुक्त करने वाले अखिल विश्वपति पृथ्वी का भार दूर करने वाले साक्षात् ब्रह्म ही तो आप नहीं हैं?"

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।
छत्री रूप फिरहु बन बीरा।।
कठिन भूमि कोमल पद गामी।
कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी।।
मृदुल मनोहर सुंदर गाता।
सहत दुसह बन आतप बाता।।
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ।
नर नारायन की तुम्ह दोऊ।।
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।।

आँख-मिचौनी के इस खेल में सचमुच भक्त वहाँ जा पहुँचा जहाँ प्रभु थे। प्रभु ने अब भी पकड़ में न आने का निर्णय किया। मायानाथ ने अन्धकार की सृष्टि कर पुनः स्वयं को छिपाने की चेष्टा की। वचन-रचनानागर ने अपना परिचय इस रूप में दिया—"अयोध्या के राजा दशरथ का मैं पुत्र हूँ। उनकी आज्ञा मानकर मैं वन में आया हूँ। मेरा नाम राम है, और यह मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं। मेरे साथ सुकुमारी और सुन्दरी पत्नी थी, वन में वैदेही का किसी निशाचर ने अपहरण कर लिया। मैं उन्हीं को खोजता फिर रहा हूँ। ब्राह्मण देवता मैंने आपको अपना चरित्र सुना दिया, आप भी अपनी कथा सुनायें।"

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए।।
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।।
आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।।

सुनने में यह परिचय अत्यन्त सरल प्रतीत हो रहा था। और यह पूछकर तो उन्होंने भोलेपन की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया कि 'ब्राह्मण देवता आप कौन हैं' ?पर उनका प्रत्येक शब्द चतुराई से भरा हुआ था। प्रत्यक्ष रूप से वे हनुमानजी द्वारा कहे गये वाक्यों को अस्वीकार नहीं करते पर उनका प्रत्येक वाक्य आञ्जनेय की धारणा का खण्डन करता हुआ प्रतीत होता है। जब वे कहते हैं कि मैं दशरथ का पुत्र हूँ तब यह अत्यन्त स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, किन्तु यह हनुमानजी द्वारा कथित 'जगकारण' का चतुराई-भरा खण्डन था। स्वयं का कारण दशरथ को बताकर वे सृष्टि का कारणत्व अस्वीकार कर देते हैं। इसी तरह 'मैं पिता की आज्ञा मानकर वन में आया हुआ हूँ' इस वाक्य के द्वारा वे अखिल भुवनपतित्व के विशेषण का उपहास करते हैं। जो अयोध्यापति भी न हो पाया उसे अखिल भुवनपति कहना सबसे बड़ा व्यंग्य है। 'मेरा नाम राम है और यह लक्ष्मण हैं', इसके द्वारा वे 'बटु' को पुनर्विचार की प्रेरणा दे रहे थे। ब्रह्मचारी, तुमने शास्त्रों में अध्ययन किया होगा ब्रह्म एक अनीह और अरूप है। वह अजन्मा, सच्चिदानन्द और समस्त धामों से परे माना जाता है :

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा।।

क्या तुम्हें यहाँ प्रत्यक्ष रूप से एक के स्थान पर दो नहीं दिखाई दे रहे हैं ? यदि मैं अनीह होता तो क्या मैं उदासी वेश में पत्नी को साथ लेकर आता ? श्याम और गौर होते हुए भी क्या हम लोगों को अरूप माना जा सकता है ? राम और लक्ष्मण के रूप में जिसका परिचय हो उसमें अनामत्व की संगति कैसी लगेगी ? दशरथ के घर में जन्म लेने वाला और पत्नी के वियोग में आँसू बहाने वाला यदि अज और सच्चिदानन्द हो सकता है तब तुम मुझे भले ही ब्रह्म मान लो, नहीं तो विचार करो और अपनी धारणाओं में परिवर्तन करो। स्वयं अपना परिचय भी दो। यह कहकर प्रभु ने अपने अन्तिम कौशल का प्रयोग किया—"यदि मैं ईश्वर होता तो क्या तुम्हारा परिचय पाने के लिए प्रश्न करना पड़ता ?"

किन्तु भागने की यह अन्तिम चेष्टा सफल नहीं हुई। आँख-मिचौनी में ईश्वर पराजित हुआ। भक्त ने उन्हें कसकर पकड़ लिया :

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।।

वस्तुतः ईश्वर इस खेल में जीत भी नहीं सकता था। भगवान् बड़े अवश्य हैं किन्तु भक्त की आँखें उससे भी बड़ी हैं। ब्रजलीला के उस प्रसंग में जब श्रीकन्हैया ने कनिष्ठिका अँगुली पर गिरिराज को उठा लिया तब गोपों ने बड़े गर्व से कहा, मेरा सखा कितना महान् है जिसने इस विशाल पर्वत को छिगुनी पर उठा लिया। किन्तु गोपियाँ कहती हैं—राधिका की ओर तो देखो जिसने नेत्र कनीनिका की कोर से गिरिराज सहित श्रीकृष्ण को उठा रखा है। सबसे बड़ी तो श्रीराधिका की आँखें हैं :

धनि राधे राखत तिन्हहिं लोयन कोयन माँहि।

भक्ताग्रगण्य विश्वासावतार आञ्जनेय की आँखें इतनी विशाल थीं कि प्रभु चाहकर भी छिप न सके।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।।
समदरसी मोहि कह सब कोऊ ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।।

अर्थ—हे कपि ! सुनो, मन में ग्लानि मत मानना । तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो । सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं पर मुझे सेवक प्रिय है क्योंकि वह अनन्य गति होता है (मुझे छोड़कर उसको कोई दूसरा सहारा नहीं होता) ।

भक्त द्वारा पहचान लिये जाने पर भी भगवान् सर्वथा मौन रहे । परिचय की उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया का कोई चिह्न उनकी आकृति या शरीर पर परिलक्षित नहीं हो रहा था । वैसे यह प्रभु के स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध है । भक्त ने प्रभु की इस बेरुखी को तत्काल पहचान लिया । आञ्जनेय को उठाकर हृदय से लगाना तो दूर प्रभु ने उनके मस्तक पर कर-कमल तक स्थापित नहीं किया । पूरे मानस में यह शायद अपने ढंग का अकेला प्रसंग है जहाँ रामभद्र का व्यवहार निष्ठुरता की सीमा तक पहुँच गया । भक्त की ओर से इसके लिए उलाहना भी कम नहीं मिला । इन शब्दों में उन्होंने अपनी व्याकुलता प्रकट की—"स्वामिन् ! मेरे प्रश्न के उत्तर में आपने भी मुझसे प्रश्न किया और पूछा कि तुम कौन हो ? लोक व्यवहार की दृष्टि से यह ठीक हो सकता है किन्तु आपका यह प्रश्न मुझे न्यायपूर्ण नहीं जान पड़ता । मैं अत्यन्त मन्द हूँ, मोह का मेरे ऊपर अधिकार है । कुटिलता मेरे अन्तःकरण में भरी हुई है । यह सारे अनर्थ तो थे ही फिर आपने भी मुझे भुला दिया । आपकी कठिन माया के कारण जीव मोहग्रस्त हो गया है । वह तो

आपकी कृपा से ही माया को पार कर सकता है । फिर मैं तो भजन का उपाय भी नहीं जानता। यह मैं आपकी शपथ लेकर कह रहा हूँ। किन्तु सेवक और पुत्र तो स्वामी और माता के भरोसे निश्चिंत रहते हैं और इन दोनों को इस विश्वास की रक्षा करनी ही पड़ती है :

मोर न्याउ मैं पूछा साईं।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।।
तव माया बस फिरउँ भुलाना।
ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना।।
एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान।।
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें।
सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें।।
नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।।
ता पर मैं रघुबीर दोहाई।
जानउँ नहिं कछु भजन उपाई।।
सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें।।

प्रभु ने निष्ठुरता का जो अभिनय किया उसके पीछे छिपे हुए रहस्य को समझने में भक्त को कुछ विलम्ब लगा, यह अस्वाभाविक भी नहीं था। प्रभु पर दृष्टि पड़ते ही आञ्जनेय कुछ ऐसे भाव-विभोर हुए कि उनकी दृष्टि अपनी उस भूल की ओर नहीं गई जिस कारण प्रभु को निष्ठुरता का यह अभिनय करना पड़ा। इस समय प्रभु के समक्ष सबसे बड़ा संकट मर्यादा और भाव के विरोधाभास का था। एक ओर वे ब्रह्मण्य देव के रूप में प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणों के चरणों में नमन करना उनका स्वभाव है। पवननन्दन इस समय भी बटु-वेश में प्रभु के समक्ष खड़े थे। प्रभु के समक्ष समस्या यह थी कि यदि ब्राह्मण को हृदय से लगाकर आशीर्वाद दें तो वह नर-नाट्य की परम्परा के प्रतिकूल होता। इसलिए वे अपनी अन्तर-प्रेमभावना को भीतर ही रोक लेते हैं। वे उस क्षण की प्रतीक्षा में थे जब भक्त अपने सहज स्वरूप में उनके समक्ष होगा।

प्रभु ने शवरी के समक्ष अपने सम्बन्ध का जो आधार प्रस्तुत किया था उसकी सार्थकता भी प्रस्तुत प्रसंग में सिद्ध हो गई। रामभद्र ने शबरी के समक्ष यह स्पष्ट रूप में घोषित किया कि वे एकमात्र भक्ति का ही नाता मानते हैं :

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता।।

जब तक वे ब्राह्मण-वेश में थे तब तक राघव ने उनसे सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। स्वीकार भी कैसे करते, सेवक और पुत्र का नाता ब्राह्मण के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता था ? उनके लिए ब्राह्मण पूज्य है पर प्रियता के लिए पूज्यता का त्याग अपेक्षित है।

अन्त में भक्त का ध्यान इस ओर गया होगा इसीलिए जब दूसरी बार चरणों में गिरे तब उन्होंने बटु का वेश त्याग दिया। अगले ही क्षण प्रभु ने आञ्जनेय को उठाकर हृदय से लगा लिया। उनकी आँखें बरस पड़ीं और उस अश्रु-प्रवाह से वे भक्त को शीतल करने लगे :

अस कहि परेउ चरन अकुलाई।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई।।
तब रघुपति उठाइ उर लावा।
निज लोचन जल सींचि जुड़ावा।।

श्रीहनुमान जी ने चरणों में दो बार नमन किया किन्तु गोस्वामीजी ने दोनों की शब्दावली में भेद किया। पहली बार "प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना" के रूप में वर्णन किया गया है। हनुमानजी ने प्रभु के चरणों को पकड़ लिया मानों इसका अभिप्राय यह था कि अब आप भुलावा देकर नहीं जाने पायेंगे। प्रभु प्रशान्त भाव से खड़े रहकर भक्त के प्रेम-बन्धन को स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु दूसरी बार केवल 'परेउ' शब्द का प्रयोग किया गया है—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई"। 'परेउ' के साथ ही 'उठाइ उर लावा' की सार्थकता है। जब कोई बालक गिर पड़ता है तब पिता स्वभावतः उसे उठाकर हृदय से लगा लेता है।

भगवान् शिव के रूप में वे गंगा को मस्तक पर धारण करते हैं। गंगाजल से उनका अभिषेक किया जाता है। गंगा प्रभु की चरणोदक है किन्तु आज प्रभु ने रुद्रावतार हनुमान का अभिषेक अपने अश्रुजल से करते हुए जो गौरव प्रदान किया वह सर्वथा अतुलनीय है। चरणोदक यदि कृपा का प्रतीक है तो आँसू प्रीति का। शिव तो स्वयं को कृपा का ही पात्र मानते हैं किन्तु प्रभु उन्हें अपना प्रीति-पात्र स्वीकार करते हैं। इसलिए भक्त को अश्रुजल से नहलाकर वे उनको नये सम्बन्ध की अनुभूति कराना चाहते हैं। इस दिव्य प्रीति-जल से स्नान कर भक्त की सारी विरह-व्यथा शान्त हो गई।

किन्तु इतने मात्र से ही प्रभु को सन्तोष नहीं होता। अब तक की उपेक्षा

से ऐसा जान पड़ रहा था कि प्रभु ने आञ्जनेय को हीन मानकर उनसे उदासीनता का व्यवहार किया। प्रभु ने इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा, "कपि! तुम अपने हृदय में किसी न्यूनता का अनुभव मत करना, तुम तो हमें लक्ष्मण की अपेक्षा भी दूने प्रिय हो।" दूना कहने में वैषम्य का बोध होता है, और ईश्वर को सम बताया जाता है। अतः प्रभु को यह उचित जान पड़ा कि वे समत्व की धारणा के विषय में अपना स्पष्टीकरण दें। उन्होंने स्पष्ट रूप में यह स्वीकार किया कि यद्यपि उन्हें सभी लोग समदर्शी कहते हैं किन्तु "अनन्यगति सेवक मुझे अत्यन्त प्रिय है।"

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

प्रभु के द्वारा किया जाने वाला यह स्पष्टीकरण भक्ति-सिद्धान्त की धारणा को सही रूप में समझने के लिए आवश्यक है। यदि ब्रह्म सम हो तो भक्ति की उपयोगिता ही क्या है? निष्पक्षता के प्रति व्यक्ति के अन्तःकरण में आदर-बुद्धि तो हो सकती है किन्तु उसके प्रति प्रीति का उदय असम्भव है। इसलिए भक्ति-शास्त्र की यह धारणा है कि यद्यपि ब्रह्म सम है किन्तु भक्त के द्वारा उसे विषम बनाया जा सकता है:

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत है। निर्गुण निराकार ब्रह्म समत्व में स्थित रह सकता है किन्तु सगुण साकारवाद तो प्रारम्भ से ही पक्षपात पर आधारित होता है। अगुण ब्रह्म भक्त की भावना से ही सगुण साकार रूप ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में जो रूप और गुण भक्त उसमें देखना चाहता है ईश्वर को स्वयं को उसी रूप में प्रकट करना पड़ता है। इसीलिए प्रत्येक अवतार की आकृति में भिन्नता होती है। अनन्त गुणगणमय होते हुए भी ईश्वर भिन्न-भिन्न अवतारों में अपने कुछ विशिष्ट गुणों को विशेष रूप में अभिव्यक्त करता है। किसी अवतार में वह ज्ञानप्रधान दिखाई देता है, तो किसी में प्रेम-परवश, कहीं निवृत्ति की प्रधानता है तो कहीं प्रवृत्ति की। किसी अवतार में शौर्य की समग्रता दिखाई देती

है तो किसी में सौन्दर्य की। कहीं सत्य की तेजस्विता है तो कहीं शील की कोमलता। यद्यपि एक ही अवतार में अनेक गुणों का प्राकट्य होता है किन्तु केन्द्र में मुख्यतः एक गुण ही होता है। चौबीस अवतारों का जो वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है उस पर गहराई से दृष्टि डालने पर यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

ईश्वर का वराह-रूप पृथ्वी की भावना के अनुरूप है। मनुष्य पृथ्वी के प्रति आदर-बुद्धि रखता हुआ भी कीचड़ से घृणा करता है। उसी कीचड़ से शूकर स्वयं को लिपटाये रखता है। यह पृथ्वी के प्रति उसके प्रगाढ़ अनुराग का परिचायक है। कहा जाता है कीचड़ से लिपटे हुए श्रीकृष्ण को देखकर यशोदा झुँझला उठीं और उन्होंने कन्हैया से कहा, "पूर्वजन्म में तू अवश्य शूकर रहा होगा तभी तो कीचड़ के प्रति तेरी इतनी आसक्ति है।" भगवान् मन-ही-मन मुस्करा उठे, माँ यशोदा झुँझलाहट में भी सत्य ही बोलती हैं।

प्रह्लाद की रक्षा के लिए नृसिंह रूप में अवतरित होने में जहाँ हिरण्यकशिपु का वरदान हेतु था वहाँ यह प्रह्लाद की भावना के भी सर्वथा अनुरूप था। प्रह्लाद ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वरूप प्रतिपादित करते थे। यदि सर्वव्यापकता की सिद्धि के लिए ईश्वर स्तम्भ से प्रकट होता है तो नर और सिंह के मिश्रित रूप में वे अपनी सर्वरूपता का दर्शन कराते हैं। मुनियों को उपदेश देने के लिए वे हंसावतार ग्रहण करते हैं। नीर-क्षीर-विवेकी हंस ज्ञान का प्रतीक माना जाता है इसलिए हंस का रूप सर्वथा संगत है। प्रलयकाल में डूबते हुए मुनियों का उद्धार करने के लिए वे मत्स्यावतार ग्रहण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जल में सब-कुछ डूब जाने पर मछली ही डूबने से बच सकती है। इसी तरह अन्य अवतारों की भी अपनी विशेषताएँ हैं। राम और कृष्ण के अवतार में इतने अधिक गुणों का प्राकट्य होता है कि यह कह पाना कि उनमें किस गुण की मुख्यता है, अत्यन्त कठिन है। इन दोनों को पूर्णावतार के रूप में प्रतिपादित किये जाने में जो अनेक कारण हैं उनमें से एक यह भी है। फिर भी रामभद्र का शील, गुण भक्तों को सर्वाधिक आकृष्ट करता है। इसीलिए प्रभु के अनेक गुणों का स्मरण करने पर भी काकभुशुण्डि मुख्य रूप से प्रभु के स्वभाव की स्मृति करते हुए कहते हैं, शिव और ब्रह्मा के द्वारा भी जिनके चरण पूज्य हैं वे प्रभु मुझ पर कितना स्नेह रखते हैं जब मैं इसका स्मरण करता हूँ तब मुझे लगता है कि ऐसा शील और स्वभाव देखने की तो बात ही क्या सुनने को भी नहीं मिलता :

सुमिरि राम के गुन गन नाना।
पुनि-पुनि हरषि भुसुँडि सुजाना॥

महिमा निगम नेति करि गाई।
अतुलित बल प्रताप प्रभुताई।।
सिव अज पूज्य चरन रघुराई।
मों पर कृपा परम मृदुलाई।।
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ।
केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ।।

श्रीकृष्ण के चरित्र का केन्द्र उनका सौन्दर्य है। इसलिए गोपियाँ उनके सौन्दर्य से सम्मोहित होकर लोक और वेद की मर्यादा भी भूल जाती हैं। मथुरा में कुब्जा और द्वारका की लीला में सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के द्वारा उनका वरण इसी आकर्षण को प्रकट करता है।

इस तरह जब निर्गुण सगुण रूप स्वीकार करता है तब रूप और गुण की यह भिन्नता समत्व के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार जब ईश्वर किसी एक व्यक्ति के घर में अवतरित होता है तब किसी पक्षपात के बिना यह सम्भव नहीं है। वह कुछ लोगों को पुरस्कृत करता है तो कुछ लोगों को दण्ड देता हुआ भी दिखाई देता है। इसलिए भगवान् राम की यह स्वीकृति कि मैं सम नहीं हूँ सर्वथा स्वाभाविक है। भक्त की भावना से अवतरित होने वाला ईश्वर उनकी इच्छा के अनुकूल ही आचरण करता है। जीव परतन्त्र और ईश्वर स्वतन्त्र माना जाता है :

परबस जीव स्वबस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता।।

किन्तु भक्ति के द्वारा यह क्रम पूरी तरह परिवर्तित हो जाता है। अब जीव स्वतन्त्र और ईश्वर परतन्त्र है। इसलिए ज्ञान, वैराग्य को परतन्त्र और भक्ति को स्वतन्त्र बताया जाता है :

भगति सुतंत्र सकल गुन खानी।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।।

अपने इस सिद्धान्त की घोषणा करते हुए प्रभु लक्ष्मण से हनुमान को दूना कहने का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। हनुमान लक्ष्मण की अपेक्षा दूने प्रिय हैं इसका वास्तविक तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान दो भिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है। जैसा कि पूर्व के लेखों में कहा जा चुका है, प्रभु के मन में लक्ष्मण के प्रति इतनी अभिन्नता का बोध है कि उनकी किसी अन्य से तुलना करने में प्रभु संकोच नहीं करते हैं। जैसे स्वयं की तुलना में दूसरों को श्रेष्ठ सिद्ध

करना शिष्टता का प्रमाण माना जाता है उसी तरह व्यवहार-कुशल प्रभु ने लक्ष्मण की तुलना में हनुमानजी की श्रेष्ठता के द्वारा अपनी नीतिज्ञता का परिचय दिया। इस तरह एक ही वाक्य के द्वारा प्रभु ने हनुमानजी के प्रति आदर और लक्ष्मण के प्रति अपनत्व की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया।

आध्यात्मिक अर्थों में इसे भिन्न सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। लक्ष्मण और हनुमान दोनों ही वैराग्य के प्रतीक हैं :

लखन राम सीता सहित राजत परण कुटीर।
भगति ग्यान बैराग जनु सोहत धरे शरीर॥

× ×

प्रबल बैराग्य दारुण प्रभंजन तनय दुष्ट वन दहन मिव धूमकेतु।

दोनों के चरित्र में वैराग्य की पराकाष्ठा है। फिर भी आञ्जनेय के वैराग्य के साथ गोस्वामीजी ने एक विशेषण और भी जोड़ दिया। और वह है—प्रबल वैराग्य'। इसका तात्पर्य यह है कि आन्तरिक वैराग्य में समानता होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में एक अन्तर है। लक्ष्मण गार्हस्थ जीवन स्वीकार कर चुके हैं। अतः मर्यादा का बाह्य वन्धन उन्हें कभी-न-कभी स्वीकार करना पड़ता है। पवननन्दन के जीवन में इस औपचारिकता की भी कोई आवश्यकता नहीं है। बाल-ब्रह्मचारी होने के नाते उनका कोई पारिवारिक कर्त्तव्य शेष नहीं है।

वैराग्य-रूप लक्ष्मण के दूर चले जाने से ही भक्ति-रूपा सीता का अपहरण सम्भव हुआ। यद्यपि यह दूरीकरण मिथिलेशनन्दिनी के संशय से सम्बद्ध था पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि लक्ष्मण माँ के वाक्यों से तिलमिला उठे। संशय की यह समस्या वैराग्य के द्वितीय रूप के समक्ष भी आती है जब अशोक वृक्ष पर बैठे हुए पवननन्दन के मुख से माँ ने प्रभु की रसमयी कथा का श्रवण किया। जिसे सुनते ही उनका सारा दुःख दूर हो गया। माँ ने अनुरोध किया, "ऐसी अमृतमयी कथा जिसने सुनाई वह सामने प्रकट क्यों नहीं होता ?"

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई।
आदिहु तें सब कथा सुनाई॥
श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई।
कही सो प्रगट होति किन भाई॥

माँ का आदेश पाते ही पुत्र उनके निकट पहुँच गया किन्तु विस्मय-भावापन्न सीता उन्हें देखते ही उनकी ओर पीठ कर देती हैं। भक्त को यह पूरा अधिकार था कि वह माँ को यह उलाहना देता कि आपके आदेश से ही मैं आपके समक्ष आया किन्तु मेरे सामने आने पर आपका विमुख हो जाना क्या उचित है ? किन्तु भक्त ने ऐसा कुछ नहीं किया। माँ की मनःस्थिति से वे परिचित थे। इसलिए उन्होंने शपथ और प्रेम-भरी वाणी के द्वारा उनके संशय को मिटाने की चेष्टा की और पूर्वपरिचय न होते हुए भी संशय मिटाकर माँ का विश्वास जीत लेने में उन्हें सफलता मिली :

तब हनुमंत निकट चलि गयऊ।
फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ।।
राम दूत मैं मातु जानकी।
सत्य सपथ करुनानिधान की।।
यह मुद्रिका मातु मैं आनी।
दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी।।
नर बानरहि संग कहु कैसें।
कही कथा भई संगति जैसें।।
कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।।

इस दृष्टि से श्रीलक्ष्मण जी की तुलना में आञ्जनेय अधिक सफल सिद्ध होते हैं। श्रीलक्ष्मण के दूर चले जाने से प्रभु और श्रीकिशोरी जी के बीच जो दूरी उत्पन्न हो गई थी उसे मिटाने का महान् कार्य भी हनुमंतलाल ही करते हैं। सेवा-कार्य में भी बानर-शरीर के कारण आञ्जनेय को अधिक सुविधा प्राप्त है। श्री-लक्ष्मण प्रभु के श्रमित श्रीचरणों को केवल दबा सकते हैं किंतु मारुति चरणकमलों की सेवा तो करते ही हैं और प्रभु को चलने में जो श्रम होता है उसे दूर करने के लिए उन्हें स्कन्ध पर भी उठा लेते हैं। वे अकेले प्रभु को ही नहीं श्रीलक्ष्मण को भी स्कन्ध पर उठाकर सेवा का एक नया प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। लक्ष्मण जहाँ एकमात्र प्रभु की ही सेवा करते हैं वहाँ भक्ताग्रगण्य आञ्जनेय भक्त और भगवान् दोनों की ही सेवा करने का महान् गुरुतर कार्य सम्पन्न करते हैं। लक्ष्मण प्रभु के रक्षक हैं और वे इस कार्य में सर्वदा सन्नद्ध रहते हैं किन्तु हनुमान तो प्रभु और उनके रक्षक दोनों की ही रक्षा करते हैं। उनकी अनेक उपाधियों में 'लक्ष्मण प्राणदाताश्च' की भी एक उपाधि है। इन अनेक विशेषताओं को दृष्टिगत रख-

कर यदि प्रभु ने अञ्जनीनन्दन को श्रीलक्ष्मण की अपेक्षा दूना कह दिया तो यह सर्वथा उचित ही है।

सेवक की व्याख्या करते हुए प्रभु उसके साथ अनन्यता का एक अनुवन्ध जोड़ देते हैं और उस अनन्यता की वे जो व्याख्या करते हैं उसकी पूर्ण-चरितार्थता भी आञ्जनेय के चरित्र में ही है। अनन्यता की दो भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की जाती हैं। अनन्य का एक तात्पर्य है अन्य आश्रयों का सर्वथा परित्याग। देवर्षि नारद ने भक्तिसूत्र में इसी रूप में अनन्यता की व्याख्या की है :

अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता।

श्रीलक्ष्मण के चरित्र में इस प्रकार की अनन्यता अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। वे स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करते हैं कि मैं गुरु, पिता, माता किसी को नहीं जानता, मेरे तो एकमात्र सर्वस्व आप ही हैं :

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
× ×
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीन बंधु उर अंतर जामी॥

अनन्यता की इस वृत्ति के कारण ही वे भगवान् भूत-भावन शिव को भी चुनौती देने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। श्रीभरत शिव-भक्त के रूप में भी प्रसिद्ध थे "शिव अभिषेक करहिं विधि नाना" के रूप में इसका संकेत मानस में प्राप्त होता है। इसलिए जब चतुरंगिणी सेना के साथ वे चित्रकूट में प्रवेश करते हैं तब आक्रमण की कल्पना कर श्रीलक्ष्मण उनके विरुद्ध युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। उस समय उन्होंने चुनौती के स्वर में यही कहा, यदि शिव भी अपने भक्त भरत की रक्षा के लिए आ जायें तो भी उन्हें बचा नहीं सकते :

जौं सहाय कर संकर आई।
तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

किन्तु अनन्यता की यह व्यवस्था प्रभु को स्वीकार नहीं है। उनकी अनन्यता का स्वरूप यह है कि सारे ब्रह्माण्ड में अपने प्रभु को छोड़कर किसी अन्य को न देखने वाला ही सच्चा अनन्य है। यह सारा विश्व एकमात्र मेरे प्रभु का रूप है, यह समझकर सबकी सेवा करना ही अनन्य भक्त का कर्त्तव्य है। अनन्यता की यही व्याख्या वे आञ्जनेय से करते हैं :

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।

प्रथम प्रकार की व्याख्या असंगत हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु लोक-कल्याण के लिए यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है, ऐसा प्रभु का मत जान पड़ता है। इस प्रकार की अनन्यता में यह आशंका विद्यमान है कि अनन्यता की आड़ में व्यक्ति के अन्तः-करण में दूसरों के प्रति विद्वेष और विरोध की वृत्ति कार्य न करने लगे। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनन्यता का यह असली सिक्का इस प्रकार का है कि इसमें विद्वेष का बनावटी सिक्का बड़ी सरलता से खप सकता है। अनन्यता की दूसरी व्याख्या में इस प्रकार का कोई भय विद्यमान नहीं है। इस व्याख्या में निरभिमानिता और सेवा-भाव की वृद्धि ही होती है। हनुमानजी के चरित्र में अनन्यता का यही रूप होने से प्रभु उन्हें अनन्यता का आदर्श मानकर लक्ष्मण की अपेक्षा अधिक ऊँचा पद प्रदान करते हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

× ×

सुनि सेवक दुख दीनदयाला।
फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला॥
सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरहिं प्रान॥

अर्थ—तब हनुमानजी ने दोनों ओर की सब कथा सुनाकर अग्नि को साक्षी देकर परस्पर दृढ़ करके प्रीति जोड़ दी (अर्थात् अग्नि को साक्षी देकर प्रतिज्ञा-पूर्वक उनकी मैत्री करवा दी)।

सेवक का दुःख सुनकर दीनों पर दया करने वाले श्रीरघुनाथ जी की दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं। (उन्होंने कहा) हे सुग्रीव ! सुनो, मैं एक ही बाण से बालि को मार डालूँगा। ब्रह्मा और रुद्र की शरण में जाने पर भी उसके प्राण नहीं बचेंगे।

श्रीहनुमान जी की प्रार्थना पर प्रभु सुग्रीव को मित्र बनाना स्वीकार करते हैं। ऋष्यमूक पर्वत पर अग्नि को साक्षी बनाकर प्रभु और सुग्रीव एक-दूसरे से मित्रता के सूत्र में आबद्ध होते हैं। मध्यस्थ की भूमिका पवनपुत्र के द्वारा सम्पन्न होती है। उन्होंने सुग्रीव का सारा चरित्र प्रभु को सुनाया और प्रभु की कथा कपिराज को :

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरि प्रीति दृढ़ाइ॥

यद्यपि निषाद और विभीषण को प्रभु ने मित्र के रूप में स्वीकार किया,

किन्तु उन दोनों की मैत्री में इस प्रकार का कोई समारम्भ नहीं दिखाई देता है। न वहाँ साक्षी है और न मध्यस्थ ही। प्रभु ने वहाँ पर मित्र-धर्म की व्याख्या भी नहीं की। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मैत्री-धर्म की समग्रता जैसी सुग्रीव के चरित्र में है, वैसी निषादराज या राक्षसराज के प्रसंग में नहीं। यद्यपि प्रभु ने उन दोनों को भी मित्र का पद प्रदान किया था, पर वे दोनों सर्वदा स्वयं को सेवक ही मानते रहे। सुग्रीव में भी दास्यवृत्ति की भावना दिखाई देती है, पर साथ ही मित्र के समान वाणी और व्यवहार का दर्शन केवल उन्हीं के चरित्र में होता है। प्रभु के सिरहाने बैठने का साहस भी केवल वही जुटा पाये :

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा।
बाम दहिन दिसि चाप निषंगा।।

निषादराज सर्वदा चरणों तक ही रहे। विभीषण अवश्य कान तक पहुँच गये। "कह लंकेस मंत्र लगि काना" में यही झाँकी मिलती है। सुग्रीव बराबरी से राघव को आश्वासन भी प्रदान करते हैं :

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।
तजहु सोच मन आनहु धीरा।।
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।
जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई।।

इस प्रकार की वाणी भी निषाद और विभीषण के प्रसंगों में पढ़ने को नहीं मिलती है। सिंहासनासीन रामभद्र की झांकी में भी सुग्रीव को पंचायतन के सदस्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता है। विभीषण-सहित अन्य सभी भक्त कोई-न-कोई राजचिह्न लेकर सिंहासन के समीप खड़े थे। किन्तु उस नामावली में सुग्रीव नहीं थे। उन्हें बैठने का आसन प्रदान किया था, ऐसा लगता है :

सिंघासन पर त्रिभुअन साईं।
देखि सुरन्ह दुन्दुभीं बजाईं।।
नभ दुन्दुभीं बाजहिं बिपुल गंधर्ब किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा बृंद परमानंद सुरमुनि पावहीं।।
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहें छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते।।

मैत्री के लिए जिस समान आधार की आवश्यकता थी, वह केवल सुग्रीव के चरित्र में ही उपलब्ध था। निषादराज एक स्नेही के रूप में वन-पथ में जाते हुए

प्रभु का स्वागत करते हैं और प्रभु उन्हें 'सखा' कहकर सम्मानित करते हैं। किन्तु सुग्रीव और प्रभु सर्वथा समानता के आधार पर एक-दूसरे की सहायता का आश्वासन देते हुए मैत्री-धर्म स्वीकार करते हैं। दोनों ही राज्यरहित और पत्नी-वियोगी थे, इसलिए मैत्री-धर्म का वास्तविक संदर्भ इसी प्रसंग में पाया जाता है।

अग्नि मैत्री-धर्म का श्रेष्ठ प्रतीक है। लकड़ी को प्रज्ज्वलित करने के लिए अग्नि की आवश्यकता है और अग्नि को भी जीवित रहने के लिए काष्ठ की सहायता चाहिए। पूर्ण प्रज्ज्वलित काष्ठ में अग्नि और लकड़ी की सत्ता को पृथक् करना सर्वथा असम्भव है। अग्नि में लकड़ी और लकड़ी में अग्नि की उपस्थिति दोनों की अभिन्नता की परिचायक है। सम्भवत: अग्नि की साक्षी में मित्रता करने का तात्पर्य यही था। पवननन्दन की मध्यस्थता भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: पवन ही अग्नि और काष्ठ को प्रज्ज्वलित रखता है। अपनी उपस्थिति का प्रदर्शन किये बिना भी वायु दोनों को जीवित रखती है। इसलिए वायु को अग्नि का मित्र बताया जाता है। वायु में निष्कामता की पराकाष्ठा है। अग्नि और काष्ठ को एक-दूसरे की आवश्यकता है। किन्तु पवनदेव निरपेक्ष भाव से दोनों को प्रज्ज्वलित रखने में सहयोग देते हैं। बदले में कुछ भी पाने की आकांक्षा वहाँ नहीं है। सुग्रीव और प्रभु की मैत्री के प्रसंग में आञ्जनेय की भूमिका भी ठीक इसी प्रकार की है। दोनों एक-दूसरे की सहायता का आश्वासन देते हैं। आञ्जनेय की वाणी से आश्वासन का शब्द भले ही न निकला हो, किन्तु वे दोनों की मैत्री को चैतन्य रखने में सबसे बड़ी भूमिका निभाते हैं। सुग्रीव यदि काष्ठ की तरह हैं तो प्रभु अग्नि की भाँति। कभी-कभी जब काष्ठ गीला हो जाता है, तब वह ऊष्मा के स्थान पर धुएँ की सृष्टि करता है। यही स्थिति सुग्रीव के चरित्र में आई। वासना की वर्षा ने जब उन्हें गीला बना दिया और ऐसा लगा कि मैत्री टूटने ही वाली है, तब उन्होंने पवननन्दन के रूप में वैराग्य की सृष्टि कर उस काष्ठ को शुष्क बनाकर पुन: प्रज्ज्वलित होने की क्षमता प्रदान कर दी।

मैत्री की औपचारिक प्रक्रिया समाप्त होने के बाद सुग्रीव प्रभु की सहायता का आश्वासन देते हैं। उनका प्रारम्भिक उत्साह दर्शनीय है। प्रभु के आश्वासन से पहले उनकी ओर से आश्वस्त किया जाना इसी मनोभाव को प्रकट करता है। यद्यपि यह एक मनोरंजक तथ्य है कि सुग्रीव ने वचन पहले दिया और उसे बड़े विलम्ब से पूरा किया। किन्तु दूसरी ओर बाद में आश्वासन देकर भी प्रभु उसे तत्काल पूरा कर दिखाते हैं। अतिरेक-भरा उत्साह सुग्रीव के चरित्र का एक अंग है। पर प्रभु ने अपने मित्र की इस दुर्बलता को अपनी उदारता से सह्य बना लिया।

लक्ष्मण के द्वारा प्रभु का सारा चरित्र सुनकर सुग्रीव को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रभु पर आई हुई विपत्ति उनकी तुलना में कहीं अधिक कठिन है। सुग्रीव और बालि का संघर्ष जहाँ पारिवारिक था, वहाँ लंकेश्वर रावण और राघवेन्द्र का संघर्ष सर्वथा भिन्न पृष्ठभूमि पर आधारित है। सुग्रीव ने दुर्दान्त दस्यु के द्वारा किये जाने वाले अपहरण को अपनी आँखों से देखा था। सीता का करुण क्रन्दन अब भी उनके कानों में गूँज रहा था। उन्हें देखकर मैथिली ने चिह्न के रूप में जो वस्त्र फेंके थे, वे आज भी उनके पास सुरक्षित रहकर उनके कर्त्तव्य की स्मृति दिला रहे थे। इसीलिए उन्होंने प्रभु को आश्वासन देते हुए वह सारी घटना सुनाई जो उनकी आँखों के सामने घटी थी। उनका संस्मरण इस प्रकार था, "इसी पर्वत-शिखर पर मैं मंत्रियों के साथ बैठा हुआ विचार कर रहा था, अचानक आकाश से एक करुण क्रन्दन की ध्वनि सुनाई पड़ी। मैंने देखा कि एक दिव्य देवी निशाचर के द्वारा बंदिनी बनाकर रथ पर ले जाई जा रही थीं। वे प्रतिक्षण विलाप करती हुई हा राम ! हा राम ! का उच्चारण कर रही थीं। अचानक उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी और तत्काल उन्होंने अपना उत्तरीय उतारकर मेरी ओर फेंक दिया।" इतना सुनते ही प्रभु ने तत्काल उस वस्त्र को लाने का अनुरोध किया और सुग्रीव के देते ही उसे हृदय से लगा लिया :

मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा।
बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥
गगन पंथ देखी मैं जाता।
परबस परी बहुत बिलपाता॥
राम राम हा राम पुकारी।
हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥
मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा।
पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥

यों सुग्रीव का संस्मरण कायरता से भरा हुआ प्रतीत होता है। विशेष रूप से गीधराज-जैसे चरित्र की पृष्ठभूमि में इसकी कुरूपता और भी सामने आ जाती है। किन्तु प्रभु व्यक्ति की दुर्बलताओं को भिन्न रूप में देखते हैं। अधिकांश व्यक्ति दुर्बलता को घृणा अथवा उपहास की वस्तु मानते हैं। जबकि दुर्बलता को देखकर करुणा की वृत्ति चैतन्य होनी चाहिए। माँ अपने किसी बालक को दुर्बल देखकर चिन्तित हो जाती है। उसकी रुग्णता को अपनी ही कमी के रूप में देखती है। ओषधि और पथ्य के द्वारा उसे दूर करने की चेष्टा करती है और तब तक चैन नहीं लेती है जब तक बालक की दुर्बलता दूर न हो जाये। तात्त्विक दृष्टि से प्रभु

का सारे संसार के जीवों से इसी प्रकार का सम्बन्ध है :

सकल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोरि बराबरि दाया।।

मैत्री-धर्म में प्रभु इसे भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं, मित्र का मित्र के प्रति कर्त्तव्य है कि वह उसे कुपथ पर जाने से रोके और सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करे। उसके गुणों को प्रकट करे और अवगुणों को छिपाये :

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटइ अवगुननि दुरावा।।

गुण प्रकट करने का तात्पर्य यह है कि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता, जिसके जीवन में गुण और दोष दोनों न हों। ऐसी स्थिति में जब कोई सत्य के नाम पर मित्र के दोषों का उद्‌घाटन करता है तब वह मित्र को हीनता की स्थिति में डाल कर उसके आत्म-विश्वास को नष्ट कर देता है। एक रोगी के पास जाकर यदि कोई यह कहना प्रारम्भ कर दे कि वह तो असाध्य रोग से ग्रस्त है और उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तो ऐसा कहने वाला रोगी को मृत्यु के मुख में ढकेलने वाला ही माना जायेगा। उस समय तो रोगी को उत्साहित करने की आवश्यकता है। उससे यह कहना चाहिए कि तुम क्रमशः स्वस्थ हो रहे हो। तुम्हारे मुख पर चमक आ रही है। इस प्रकार के वाक्यों से रोगी का मनोबल बढ़ता है और वह नयी शक्ति और नये उत्साह से रोग के विरुद्ध संघर्षरत हो जाता है। सच्चे हितैषी का कर्त्तव्य यही है। प्रभु भी सुग्रीव से इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, जब वे सुग्रीव की सराहना करते हुए उन्हें भरत के समान प्रिय बताते हैं—"तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई", तब यह वाक्य यथार्थ से दूर जान पड़ता है। पर इसके द्वारा सुग्रीव को भरत के समान बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह एक अनोखी-सी बात है कि जिस दिन से प्रभु ने उन्हें 'भरत जिमि भाई' कहा, उस दिन के बाद सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलता के क्षण नहीं आये। यदि प्रभु प्रारम्भ में ही सुग्रीव के संस्मरण को सुनकर उन्हें मित्रता के अयोग्य मान लेते तो क्रमिक रूप से विकसित होने वाला यह चरित्र सामने न आता।

गीधराज और सुग्रीव के कार्यों को प्रभु भिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखते हैं। गीधराज जटायु का कार्य यदि प्रेम और वीरता के दिव्य आदर्श से प्रेरित था तो सुग्रीव ने राजनीतिज्ञ-जैसी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। आद्याशक्ति ने शिखर पर बैठे हुए बन्दरों को देखकर रक्षा की पुकार नहीं की। वे गीधराज की विफलता को अपनी आँखों से देख चुकी थीं। उन्हें रावण की सामर्थ्य का ज्ञान था। वे यह

नहीं चाहती थीं कि उनके लिए लड़कर वानर-समूह अपने प्राणों को विनष्ट कर बैठे। उत्तरीय के फेंकने और नाम के उच्चारण का उद्देश्य ही यही था कि वह चिह्न प्रभु के पास पहुँचा दिया जाये। प्रभु ही इस संकट से उनका त्राण कर सकते हैं, ऐसा उन्हें विश्वास था। किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है। दोहावली रामायण में गोस्वामीजी समय की महिमा का उल्लेख करते हुए इन्हीं घटनाओं की स्मृति करते हैं :

सिन्धु तरन कपि गिरि हरन काज साइँ हित दोउ।
तुलसी समयहिं सब बड़ो बूझत कहुँ कोउ कोउ ॥

वाल्मीकि रामायण में मैथिली के द्वारा आभूषणों के फेंके जाने का उल्लेख है, किन्तु तुलसीदास पट फेंके जाने का वर्णन करते हैं। चिह्न की दृष्टि से आभूषणों का महत्त्व भी कम नहीं है, पर पट में चिह्न के साथ भावना का सांकेतिक समन्वय भी विद्यमान है। नारी के लिए आभूषण की अपेक्षा वस्त्र का ही अधिक महत्त्व है। आभूषण वैभव और श्रृंगार के प्रतीक हैं किन्तु वस्त्र नारी की लज्जा का प्रतीक है :

बिधु बदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी ॥

पट फेंकने का तात्पर्य था—'प्रियतम, यदि आपने विलम्ब किया तो आपके विरद की लाज चली जायेगी।' सुग्रीव की ओर पट फेंककर उन पर बड़ा गुरुतर भार सौंपा गया था और उसे पूरा करना उनका कर्त्तव्य था। यदि वे रावण से युद्ध करते हुए प्राणों की आहुति भी दे देते तो इससे उद्देश्य की सिद्धि में बाधा ही पड़ती। प्रभु ने सुग्रीव के कार्यों को इसी संदर्भ में देखकर उनकी सराहना की। उत्तरीय को हृदय से लगाकर श्रीरामभद्र व्याकुल हो गये। किन्तु उस व्याकुलता की प्रवृत्ति कितनी भिन्न थी, इसका पता प्रभु के द्वारा अगले ही क्षण में किये जाने वाले व्यवहार से लगता है। यह सर्वथा स्वाभाविक होता यदि प्रभु मैथिली का पता लगाने के लिए व्यग्र हो जाते। किन्तु वे तो सुग्रीव से प्रश्न करते हैं, मित्र सुग्रीव ! अपने वन में रहने का कारण बताओ :

सखा बचन सुनि हरषे, कृपासिन्धु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव ॥

यही है श्रीरामभद्र का शील, जो जीव को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। सृष्टि में सभी अपने सुख-दुःख की समस्याओं में उलझे हुए हैं। स्वयं

दुःखी होने पर हम चाहते हैं कि सभी हमारे शोक में समवेदना का अनुभव करें। सुख के क्षणों में हम उसे छिपाकर भोग लेना चाहते हैं। यदि सुख का प्रदर्शन भी करते हैं तो उसका उद्देश्य दूसरों को ईर्ष्यालु बनाकर उन्हें हीन सिद्ध करना ही होता है। जब दुःख की अनुभूति दूसरों के दुःख को समझने और उसे दूर करने की प्रेरणा देती है तब वह लोकमंगल का हेतु बन जाती है। महापुरुषों के जीवन में आने वाली दुःखानुभूति से कई लोगों के अन्तःकरण में अनास्था का उदय होता है। उन्हें लगता है कि सत्य का पथ पीड़ादायक है। सत्पुरुषों के कष्ट को देखकर लोग कई बार प्रश्न करते हैं—'क्या मिला इस बेचारे को धर्म का पालन करने से ?' मैं तो कहूँगा, यह प्रश्न पूछना ही व्यर्थ है कि स्वयं उसे क्या मिला ? प्रश्न तो यह है कि उसके द्वारा संसार को क्या मिला ? यदि महापुरुष में भी साधारण व्यक्तियों की ही भाँति पाने की अभिलाषा हो तो उसमें अन्य लोगों से अन्तर ही क्या रह जायेगा। प्रभु की व्यथा अपनी न होकर सारे विश्व की है। इसीलिए वे सुग्रीव की व्यथा सुनकर अपना दुःख भूल जाते हैं। उनकी व्यथा दूर करने के लिए श्रीराघव की भुजाएँ फड़क उठती हैं। तभी तो तुलसी ने पुकारकर कहा, "प्रीति की रीति तो एकमात्र राघव ही जानते हैं।" एक के बाद दूसरी घटनाएँ सामने आती हैं पर सबमें राम का शील एकरस है। विनयपत्रिका में भक्त गा उठा :

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई।।
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई।।
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।
रन पर्‌यो बन्धु बिभीषण ही को सोच हृदय अधिकाई।।
घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि शबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।।
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बन्धु बड़ाई।।
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई।।
'तुलसी' राम सनेह सील लखि जौं न भगति उर आई।
तौं तोहि जनमि जाइ जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई।।

अपनी विरह-व्यथा भुलाकर प्रभु ने सुग्रीव से उनके वन में रहने का कारण

पूछा। यद्यपि एक बार सुग्रीव का चरित्र आञ्जनेय द्वारा प्रभु को सुनाया जा चुका है, ऐसी स्थिति में पुन: वही जिज्ञासा असंगत-सी प्रतीत होती है। पर इसके दो ही कारण हो सकते हैं—मैथिली की विरह-व्यथा का जो वातावरण बना था, उसको भिन्न दिशा देने के लिए ही राघव ने सुग्रीव से प्रश्न किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका एक कारण और भी था। व्यक्ति के हृदय में जब कोई व्यथा होती है, तब वह उसे बार-बार दुहराना चाहता है। इससे हृदय का भार हलका होता है। मानस में इसे 'कहहू ते दुख कछु घटि होई' के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अथवा यह भी संभव है कि प्रभु सुग्रीव की व्यथा को स्वयं उनके ही मुख से सुनना चाहते हों। पत्नि-विरही सुग्रीव अपनी अन्तर्व्यथा को जिस रूप में सुना सकते हैं, वह विरागी हनुमान के लिए संभव भी नहीं थी।

सुग्रीव स्वयं अपनी आत्मकथा प्रभु को सुनाते हैं। स्वामिन्, बालि और मैं दोनों भाई हैं। हम दोनों में इतनी प्रीति थी कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता था। अचानक एक दिन अर्धरात्रि को मायावी नामक दैत्य ने नगर के द्वार पर चुनौती के स्वर में मेरे भाई को पुकारा। बालि शत्रु की चुनौती को अस्वीकार नहीं करता था। बालि को आते देखकर मायावी भाग खड़ा हुआ। बालि उसका पीछा करते हुए दौड़ा। मैं भी भाई की सहायता के लिए उसके पीछे-पीछे चला। मायावी को गुफा में प्रविष्ट होते देखकर बालि ने मुझे बाहर खड़े रहने का आदेश दिया। साथ ही उसने कहा, "तुम एक पक्ष तक मेरी प्रतीक्षा करना, यदि इस बीच मैं न लौट सकूँ तो समझ लेना मेरी मृत्यु हो गई। तब तुम लौट जाना।" मैं एक मास तक वहाँ प्रतीक्षा करता रहा। अचानक उस गुफा से रक्त की विशाल धारा निकलते देखकर मुझे निश्चय हो गया कि भाई बालि इस संघर्ष में मारे जा चुके हैं। अब यदि मैं रुकूँगा तो अवश्य मारा जाऊँगा। अत: गुफा के द्वार पर विशाल पत्थर रखकर मैं भाग खड़ा हुआ। मंत्रियों ने नगर को राजा से शून्य देखकर मुझे आग्रहपूर्वक सिंहासन पर बैठा दिया। उधर मायावी को मारकर जब बालि घर लौटा तो मुझे सिंहासन पर बैठा देखकर संदेह से क्रुद्ध हो उठा। मेरे ऊपर शत्रुता-भरे प्रहार करने के बाद उसने मेरी सम्पत्ति और पत्नी को छीन लिया :

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई।।
मय सुत मायाबी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ।।
अर्ध राति पुर द्वार पुकारा।
बालि रिपु बल सहै न पारा।।

धावा बालि देखि सो भागा।
मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा॥
गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई।
तब बालीं मोहि कहा बुझाई॥
परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।
निसरी रुधिर धार तहँ भारी॥
बालि हतेसि मोहि मारिहि आई।
सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥
मन्त्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।
दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥
बालि ताहि मारि गृह आवा।
देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥

आत्मकथा के प्रारम्भ में सुग्रीव ने अपने और बालि के बीच भ्रातृ-प्रेम का परिचय दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके पीछे सुग्रीव की अन्तश्चेतना में छिपी हुई अपराध-भावना थी। वे अपनी आत्मकथा एक ऐसे महापुरुष को सुना रहे थे जो भ्रातृ-प्रेम के कारण राज्य का परित्याग कर वन-वन भटक रहा था, और वन में विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी जिसके भ्रातृ-प्रेम में रञ्चमात्र भी न्यूनता नहीं आई थी। ऐसे व्यक्ति के समक्ष अपने भाई के विरुद्ध कुछ कहना, संकोच का कारण बने, यह स्वाभाविक था। इसलिए पूरी आत्मकथा में वे अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। वे यह स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि संकट के समय वे भाई के पीछे-पीछे गुफाद्वार तक गये थे, यद्यपि इस प्रसंग में उनकी कायरता स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी। बालि ने गुफा-द्वार पर सुग्रीव को रुकने के लिए कहकर अपने भ्रातृ-प्रेम को प्रदर्शित करने की चेष्टा की थी, जिसे कायरता के कारण सुग्रीव ने आदेश मान लिया। ऐसी स्थिति में नगर से गुफा-द्वार तक जाने का कोई विशेष अर्थ नहीं था। वे एक पक्ष के स्थान पर एक मास तक प्रतीक्षा करने की घटना को अपनी सदाशयता के रूप में सुनाते हैं। यद्यपि यह प्रतीक्षा भी तब महत्त्वहीन हो जाती है, जब वे रक्त की धारा निकलते ही भाग खड़े होते हैं। रक्त की धारा निकलते ही यदि उनका रक्त उबल पड़ता और

बालि की मृत्यु का बदला लेने के लिए यदि वे गुफा में प्रविष्ट हो जाते तो उनका यह कथन यथार्थ सिद्ध होता कि उनके और बालि के बीच में अनिर्वचनीय प्रेम था। 'लौटकर आने पर मंत्रियों ने बलपूर्वक मुझे राज दे दिया'—इसका तात्पर्य अपनी निष्कामता सिद्ध करना था। यदि वे राज्य को स्वीकार न करना चाहते तो कोई बलपूर्वक उन्हें सिंहासन पर कैसे बिठा सकता था ! उनके लिए यह अधिक उपयुक्त होता कि वे अंगद को सिंहासनासीन करने का प्रस्ताव करते। किन्तु सुग्रीव अपराधी भले ही न हों, पर उनमें अनेक दुर्बलताएँ थीं। फिर भी भगवान् राम ने सुग्रीव का ही पक्ष लिया। इसके पीछे स्वयं उनका जीवन-दर्शन है। बालि तथा सुग्रीव और रावण तथा विभीषण में वे छोटे भाइयों के पक्ष को ही न्याय-पूर्ण मानते हैं। स्वयं अपने भाइयों में बड़े होते हुए भी यदि प्रभु बड़ों के स्थान पर छोटों का समर्थन करते हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि वे बड़ों से उदारता की आशा करते हैं। यदि सुग्रीव में कुछ दुर्बलताएँ थीं तो बालि को उन्हें उदारतापूर्वक क्षमा कर देना चाहिए था। जिसकी यह मान्यता रही हो कि बड़े भाई को राज्य देना अनौचित्यपूर्ण कार्य है और भरत के राज्याभिषेक की कल्पना से ही जो आनन्दित हो उठा हो और उसमें ब्रह्म की अनुकूलता का साक्षात्कार करने लगा हो, उसे यदि यह सुनकर आघात लगा हो कि छोटे भाई सुग्रीव को सिंहासन पर बैठे देखकर बालि को क्रोध आ गया, तो आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए। वे तो इस सन्दर्भ में यह कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि कोई बड़ा भाई इतना पतित हो सकता है कि छोटे भाई को सिंहासन से उतारकर उसकी सम्पत्ति और पत्नी का अपहरण भी कर सकता है।

वनगमन के अवसर पर कैकेयी अम्बा की उद्विग्नता और आशंका को देखकर श्रीरामभद्र चकित हो उठे थे और आश्चर्य-भरे स्वर में उन्होंने माँ से पूछा कि क्या उनकी दृष्टि में कोई ऐसा मूर्ख हो सकता है जो ऐसे अवसर को चूक जाये। उनकी कल्पना तो यह थी कि यदि कोई ऐसा मूर्ख हो जो अमृत को छोड़कर विष का सेवन करे और कल्पतरु का परित्याग कर ऐरण्य वृक्ष का आश्रय ले, वह व्यक्ति भी इस तरह के दिव्य अवसर को नहीं चूक सकता है :

सेवहि अरंडु कलपतरु त्यागी।
परिहरि अमृत लेहिं बिष मागी।।
तेउ न पाइ अस समय चुकाहीं।
देखु बिचारि मातु मन माहीं।।

ऐसी मनःस्थिति में बालि के प्रति प्रभु का क्रोध अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। सेवक का दुःख सुनते ही प्रभु की दोनों भुजाएँ फड़क उठती हैं और वे

तत्काल वालि-वध की प्रतिज्ञा करते हुए घोषणा करते हैं—मित्र सुग्रीव ! मैं बालि का वध केवल एक ही बाण से कर दूंगा । ब्रह्मा और रुद्र का आश्रय लेने पर भी उसके प्राणों की रक्षा नहीं हो सकती :

सुनि सेवक दुख दीनदयाला।
फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला।।
सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान।।

सख्य भाव से भुजाओं का सर्वोत्कृष्ट स्थान है । जब दो मित्र मिलते हैं तब सर्वप्रथम दोनों एक-दूसरे की ओर भुजा ही फैलाते हैं। विभिन्न भावना वाले भक्तों की दृष्टि के केन्द्र अलग-अलग अंग हैं। दास्य भाव का केन्द्र प्रभु के श्रीचरण हैं। वात्सल्य में मुख की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक है। शृंगार का केन्द्र नेत्र हैं। सुग्रीव के दुःख को सुनकर भुजाओं का फड़क उठना सख्य भाव के सर्वथा अनुरूप है। दोनों का एक साथ फड़क उठना उत्साह के अतिरेक को प्रकट करता है मानों दोनों बाहु कसमसाकर मित्र के त्राण के लिए अपनी व्यग्रता प्रकट कर रहे थे । धनुष और बाण के संयोजन के लिए दोनों ही भुजाओं की आवश्यकता पड़ती है। धनुष का संयोजन जहाँ बायीं भुजा का कार्य है वहीं बाण को प्रत्यञ्चा पर चढ़ाना और अपनी ओर खींचने का कार्य दक्षिण भुजा के द्वारा सम्पन्न होता है। दोनों बाहु फड़ककर प्रभु को सूचित कर रहे थे कि वे पूरी तरह प्रस्तुत हैं। सुग्रीव के दुःख को शीघ्र-से-शीघ्र विनष्ट करने के लिए वे बालि को एक ही बाण से नष्ट करने की प्रतिज्ञा करते हैं। रावण से युद्ध करते हुए प्रभु अगणित बाणों का प्रयोग करते हैं। रण-क्रीड़ा की दृष्टि से इसकी भी एक शोभा थी। इसीलिए देवताओं को यह स्मरण दिलाना पड़ता है कि प्रभु, अब इसे आप बहुत देर तक कौतुक का पात्र न बनायें :

अब जनि राम खेलावहु एही।
अतिसय दुखित होति वैदेही।।

किन्तु सुग्रीव के दुःख को वे क्रीड़ा का विषय नहीं बनाना चाहते। भक्त को दुःख से मुक्त करने के लिए वे रञ्चमात्र विलम्ब करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। ब्रह्मा और रुद्र की शरणागति से भी प्राणों की रक्षा नहीं हो सकती—यह कहकर प्रभु ने सुग्रीव के "सकल भुवन मैं फिरेउँ विहाला" का उत्तर दिया। इसका तात्पर्य यह था कि "तुम्हें आत्मरक्षा के लिए केवल इस पृथ्वी पर ही भटकना पड़ा था, पर यदि वह आत्मरक्षा के लिए ब्रह्मलोक और शिवलोक तक की यात्रा करे तो भी उसके प्राणों की रक्षा नहीं हो सकती।"

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।
मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

अर्थ—प्रभु आपने धर्म-रक्षा के लिए अवतार लिया है। फिर आपने मुझे व्याध की तरह छिपकर क्यों मारा? आपने सुग्रीव से मित्रता की और मुझे शत्रु मान लिया, आपने मुझे किस अपराध के कारण मारा है?

वालि-वध का औचित्य लोकदृष्टि से सर्वदा संदिग्ध रहा है। आज भी यह बड़े प्रश्नचिह्न के रूप में लोकमानस में विद्यमान है। श्रीमद्भागवत में उद्धव द्वारा दिये गए सन्देश के उत्तर में गोपियाँ उलाहने के स्वर में कई आरोप श्रीकृष्ण पर लगाती हैं। उसमें उन्हें भगवान् का अवतार मानकर उनके पूर्व रूपों की आलोचना भी उन लोगों के द्वारा की गयी है। श्रीरामावतार के दो कार्यों को गोपियाँ अनौचित्यपूर्ण मानती हैं। शूर्पणखा का विरूपीकरण और बालि का वध।

स्वयं भगवान् राम की अपने कार्य के प्रति क्या दृष्टि थी। क्या इसके औचित्य के प्रति वे संदिग्ध थे? कभी-कभी ऐसा होता है व्यक्ति कोई कार्य कर तो बैठता है पर उसका अनौचित्य स्वयं उसे ही सालता रहता है। महाराज श्री दशरथ इसके ज्वलंत दृष्टान्त हैं। राम को वनवास देने के कार्य के औचित्य पर उन्हें सन्देह था। अत: एक ओर तो वे कैकेयी के भय से मौन रह जाते हैं, जिसे व्यावहारिक रूप में 'मौन स्वीकृति' का लक्षण माना गया है, और दूसरी ओर वे पूरे मन से चाहते थे कि इस अनौचित्य पर कोई उन्हें फटकारे। राम इसे अस्वीकार

कर दें। पर जब ऐसा नहीं हुआ और रामभद्र चले ही गये तब उनका प्राणत्याग केवल विरहजन्य दुःख का परिणाम नहीं था। यह महाराजश्री के द्वारा स्वयं को दण्डित करने की प्रक्रिया थी। इसीलिए वे कह उठते हैं—राज्य देने का वचन देकर मैंने वनवास दे दिया फिर भी उसे सुनकर राघव के मुख पर कोई विषाद परिलक्षित नहीं हुआ। ऐसे पुत्र के विछुड़ जाने पर भी मेरी मृत्यु नहीं हुई, मेरे समान दूसरा पापी कौन होगा ?

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू।
सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू।।
सो सुत बिछुरत गए न प्राना।
को पापी बड़ मोहि समाना।।

भगवान् राम में ऐसा अन्तर्द्वन्द्व नहीं था, यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। द्वन्द्व ईश्वर का धर्म हो भी नहीं सकता। यह जीव-धर्म है :

हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।

किन्तु यह भी उतना ही असंदिग्ध है कि प्रभु को यह ज्ञात था कि लोकदृष्टि से उनका यह कार्य आलोचना का विषय बन सकता है। वे आलोचना से भागते नहीं, उसका स्वागत करते हैं। राजा होने के बाद भी वे प्रजा से निर्भय होकर आलोचना करने का अनुरोध करते हैं—यदि मेरे मुख से कोई अनुचित बात निकले तो निर्भय होकर आप मुझे रोक दीजिए :

जौं अनीति कछु भाखौं भाई।
तौ मोहि बरजेउ भय बिसराई।।

वाणी के जिस स्वातंत्र्य को आज प्रजातन्त्र का महान् गुण माना जाता है, भगवान् राम के राज्य में वह सहज उपलब्ध था। उनका अनुशासन आलोचना करने से रोकता नहीं अपितु उसकी प्रेरणा देता है। बालि को आलोचना का अवसर देने के लिए ही वे उस पर ऐसे बाण का प्रयोग करते हैं कि वह तत्काल मृत्यु का ग्रास न बन जाये।

यद्यपि उन्होंने बालि का वध एक ही बाण से करने के लिए कहा था इसलिए उसकी पूर्ति के नाम पर वे एक बाण से उसका सिर काट सकते थे। किन्तु अपने कार्य के औचित्य पर वे बालि से वार्तालाप करने के लिए व्यग्र थे। इसी दृष्टि से बालि पर बाण का प्रहार करते हुए वे उसके सामने आकर खड़े हो गये :

परा बिकल महि सर के लागें।
पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगें।।
स्याम गात सिर जटा बनाएँ।
अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ।।

बालि ने उन पर कई आरोप लगाये। उसने कहा, आप धर्म की रक्षा के लिए अवतरित हुए हैं फिर भी आपने मुझ पर व्याध की तरह बाण का प्रहार किया। आपके लिए सुग्रीव और मैं दोनों समान थे—पर आपने सुग्रीव से मित्रता की और मुझे शत्रु मान लिया। इसका क्या कारण है ?

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।
मारेउ मोहि ब्याध की नाईं।।
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।।

बालि की कठोर आलोचना का राघवेन्द्र ने वैसा ही तीखा उत्तर भी दिया। पर प्रश्न यह है कि क्या बालि की आलोचनाओं का श्रीरामभद्र उचित उत्तर दे पाये ? शब्दों के केवल बहिरंग अर्थों पर ध्यान देने वाले पाठक आज भी उत्तर के औचित्य के प्रति संदिग्ध हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि छिपकर मारने की आलोचना का कोई उत्तर राघव ने नहीं दिया। पर मुझे लगता है कि अधिकांश पाठकों ने राम के उत्तर की गहराई को समझने में भूल की है।

सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि बालि उन्हें क्या मानकर उन पर आरोप लगा रहा है ? उसकी दृष्टि में वे ईश्वर हैं अथवा मनुष्य। दोनों के क्रिया-कलापों का मापदण्ड एक नहीं हो सकता है। विश्व में एक व्यक्ति का वध करने वाला अपराधी माना जाता है, उसके लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था की जाती है। किन्तु ईश्वर समस्त सृष्टि का संहारक माना जाता है, ऐसी स्थिति में उसे किस न्यायालय में खड़ा करके दण्डित किया जा सकता है? उसे दण्ड देना किसी के लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए देवर्षि उस पर 'परम स्वतंत्र' होने का आरोप लगाते हैं :

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई।।
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू।।
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।
अति असंक मन सदा उछाहू।।

करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।
अब लगि तुम्हहि न काहूँ साधा।।

बालि के सामने समस्या यह थी कि एक ओर तो वह उन्हें ईश्वर के रूप में स्वीकार करता है और दूसरी ओर वह उनके कार्य के औचित्य पर मानवीय दृष्टि से विचार करना चाहता है। छिपकर मारना जहाँ लोकदृष्टि में अन्यायपूर्ण माना जाता है वहाँ ईश्वर सारी सृष्टि का संहार अदृश्य रहकर ही करता है। इस विरोधाभास को दृष्टिगत रखकर ही बालि ने अपने आरोप को एक भिन्न दिशा प्रदान की—"भले ही आप ईश्वर हों किन्तु आपने मानव के रूप में धर्म-रक्षा के लिए अवतार लिया है। ऐसी स्थिति में मानवीय मर्यादाओं को स्वीकार करना ही आपके लिए उचित है। यदि लोक में छिपकर प्रहार करना अनुचित माना जाता है तो आपको भी इस मर्यादा का पालन करना चाहिए।" किन्तु इसके द्वारा बालि एक और दलदल में जा फँसा। युद्ध और न्यायालय के नियम एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। युद्ध में योद्धा एक-दूसरे के सामने होते हैं किन्तु न्यायालय में जब कोई न्यायाधीश किसी को मृत्युदण्ड देता है तब उसके लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह दण्ड-प्राप्त व्यक्ति से युद्ध करे। प्रभु को धर्म-रक्षा के लिए अवतरित मानकर स्वयं उसने उनके न्यायाधीश के पद को स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में युद्ध के नियम का प्रश्न उठाना सर्वथा असङ्गत था। वस्तुतः भगवान् राम का व्यवहार भी एक न्यायाधीश की भाँति था। बालि का प्रभु से कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं था। अतः व्यक्तिगत विरोध अथवा विद्वेष का तो प्रश्न वहाँ था ही नहीं। ऐसी स्थिति में वे बालि को युद्ध की चुनौती किस आधार पर दे सकते थे? सुग्रीव ने बालि पर कुछ आरोप लगाये थे और उन्हें सुनकर प्रभु इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन आरोपों में वास्तविकता है और इसके लिए बालि को दण्ड दिया जाना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि दूसरे पक्ष को अपनी बात कहने का अवसर दिये बिना ही न्याय कहाँ तक युक्तिसङ्गत माना जा सकता है। इसके उत्तर में कहना यह है कि साधारण न्यायाधीश अल्पज्ञ होता है, उसे पहले से यह ज्ञात नहीं होता कि घटना की वास्तविकता क्या है? वह दोनों पक्षों की बात सुनकर निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करता है। किन्तु जहाँ न्यायाधीश के पद पर स्वयं सर्वज्ञ ईश्वर आसीन हो वहाँ इस औपचारिकता की क्या आवश्यकता है। इसलिए जब वह बालि के अपराध को यथार्थ मानता है तब अपराधी को दण्ड देना उसका कर्त्तव्य है। राम ने बालि को दण्ड दिया था, वे उसके विरुद्ध युद्ध नहीं कर रहे थे। प्रभु के उत्तर में भी इसी सिद्धान्त को सामने रखा गया है। वे कहते हैं—"बालि! छोटे भाई की पत्नी, बहन, पुत्रवधू तथा कन्या को एक

ही स्थान दिया गया है। जो इन पर कुदृष्टि डालते हैं उनका वध करने में कोई पाप नहीं लगता।"

अनुज बधू भगिनी सुत नारी।
सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
ताहि बधें कछु पाप न होई॥

कई लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या मानव जाति के नियम पशुओं पर लागू करना युक्तिसंगत है। यदि इसे मानव और पशु के बीच का प्रश्न मान लिया जाये तब तो व्याध की तरह मारने का आरोप भी निरर्थक हो जाता है। पशु पर तो व्याध ही प्रहार करता है, और वह प्रहार भी छिपकर ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में न्याय-अन्याय का प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है। यदि बालि इस प्रश्न को सैद्धान्तिक स्तर पर उठाता है तो उसका उत्तर भी उसी पृष्ठभूमि में दिया जाना चाहिए। बालि, सुग्रीव आदि को बन्दर कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आज जिस प्रकार के बन्दर हमें दिखाई देते हैं वे भी इसी श्रेणी के थे। मानस और विभिन्न रामायणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भी अपनी संस्कृति थी। वे नगरों में रहते थे, शिक्षित थे। प्रभु ने जो आरोप लगाये उन्हें वानर-संस्कृति में भी अपराध की दृष्टि से देखा जाता था। यदि ऐसा न होता तो बालि प्रभु से यह अवश्य कहता कि हम लोगों की व्यवस्था में इसे अपराध नहीं माना जाता है। किन्तु प्रभु के इस आरोप पर बालि का मौन यह सिद्ध करता है कि इस विषय में वह अपनी भूल स्वीकार करता है।

प्रभु यह सिद्ध करना चाहते थे कि इतने बड़े अपराध पर दण्ड न देकर ही मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत माना जाता। बालि यह कह सकता था कि आपने मुझे अवसर प्रदान नहीं किया। प्रभु इस आरोप का खण्डन करने के लिए ही तारा द्वारा बालि को दिये गए उपदेश का स्मरण दिलाते हैं। इसके द्वारा वे अपनी सर्वज्ञता का परिचय भी बालि को देते हैं। प्रभु ने कहा, मूर्ख ! तुझे अपनी बुद्धि का अत्यन्त अभिमान है इसीलिए तूने पत्नी के उपदेश पर ध्यान नहीं दिया :

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करसि न काना॥

इसके द्वारा प्रभु यह भी सिद्ध करना चाहते थे कि तारा के मुख से जो वाक्य निकले उसके भी मूलप्रेरक वे ही थे। यह उनकी ही ओर से दी गयी चेतावनी थी जो बालि को अपनी पत्नी के माध्यम से मिली। तारा ने इससे पहले कभी बालि

को किसी संघर्ष से रोकने की चेष्टा नहीं की थी। अचानक तारा के स्वभाव में यह परिवर्तन कैसे आ गया, और ऐसा कौन-सा गुप्तचर था जिसने सुग्रीव और प्रभु की मैत्री का समाचार बालि को न देकर केवल तारा को ही देना चाहा ? तारा ने जो-कुछ भी वालि से कहा उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तारा को सारे समाचारों का ज्ञान था। उसने बालि को समझाते हुए कहा था, "पतिदेव सुनिये, सुग्रीव ने जिन दोनों राजकुमारों से मित्रता की है वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं। अयोध्या-नरेश के पुत्र राम और लक्ष्मण काल को भी युद्ध में परास्त कर सकते हैं।"

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा।
ते द्वौ बन्धु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

प्रभु का संकेत यह था कि इस परिचय के बाद तुम्हारा कर्त्तव्य था कि तुम मेरे सम्मुख शरणागत के रूप में आते और अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना करते। जब तुम मुझसे यह माँग करते हो कि मुझे तुम्हारे समक्ष आना चाहिए था तब यह प्रश्न स्वभावतः किया जा सकता है कि जीव को ईश्वर के सम्मुख आना चाहिए अथवा जीव के सम्मुख ईश्वर का आना कर्त्तव्य है।

किन्तु प्रभु का व्यंग्य यह था कि तुम्हारा अभिमान ही तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु है। तुम पत्नी से भी बड़े ज्ञानी बन गये। तारा ने केवल मेरे ईश्वरत्व की ओर छिपा संकेत किया था किन्तु तुमने उत्तर देते हुए तारा के समक्ष मेरे ईश्वरत्व की खुली घोषणा की। मानों तुम तारा को यह दिखाना चाहते थे कि तुम ज्ञान में उससे आगे हो। किन्तु उस ज्ञान का जो परिणाम होना चाहिए था उससे सर्वथा भिन्न प्रभाव का परिचय तुमने दिया। यहाँ प्रभु का संकेत "ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं" की ओर था, अर्थात् सच्चा ज्ञान वही है जहाँ मान का सर्वथा अभाव हो। बालि ने ज्ञानीपन का अभिमान तो पाल लिया पर उस ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाले विश्वास और प्रेम से वह कोसों दूर था। उलटे वह ज्ञान के द्वारा मनमाने निष्कर्ष निकाल रहा था। उसने पत्नी की चेतावनी का उत्तर इन शब्दों में दिया— भीरु प्रिये, रघुनाथ समदर्शी हैं (अतः सुग्रीव और मुझमें कोई भेद नहीं करेंगे) पर कदाचित् यदि वे मुझे मार ही डालेंगे तो भी मैं सनाथ हो जाऊँगा :

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौ कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

तारा के लिए 'भीरु' शब्द का प्रयोग यह प्रकट करता है कि वह ईश्वर की ओर से निर्भय हो जाने को गुण मानता है। ईश्वर से डरना उसकी दृष्टि में कायरता है। जब कि भक्त स्वयं ईश्वर से यह याचना करते हैं कि प्रीति और विश्वास के साथ-साथ वे अपने प्रति भय भी दें :

सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।

ईश्वर के प्रति भय एक महान् सद्गुण है। भय की शाश्वत-वृत्ति व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान है पर व्यक्ति उसका निरन्तर दुरुपयोग करता रहता है। वह ऐसे व्यक्तियों और वस्तुओं से भय खाता है जो सर्वथा निरर्थक हैं। ईश्वर के प्रति भय ही सबसे बड़ी सार्थकता है। इसीलिए श्रीलक्ष्मण-जैसे निर्भय पात्र में भी वह भय विद्यमान है। अनेक प्रसंगों में इसे देखा जा सकता है :

लखन हृदय लालसा बिसेषी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।
प्रगट न कहहिं मनहि मुसुकाहीं॥

× ×

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिर बोले गिरा प्रमान॥

× ×

करुणासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेह सभीत॥

तारा को भीरु और स्वयं को निर्भय मानकर बालि अपने ही अविवेक का परिचय दे रहा था। फिर उसने राम के समत्व का जो अर्थ लिया उसे पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि बालि-जैसे व्यक्तियों के हाथ में पड़कर समत्व का सिद्धान्त कितना भयावह हो सकता है? मानस में ईश्वर के समत्व का परिचय इन शब्दों में दिया गया है :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहि न पाप पुण्य गुन दोषू॥

पर इससे यदि कोई यह निष्कर्ष निकाल ले कि जब ईश्वर पाप और पुण्य में भेद नहीं करता तब क्यों न निश्चिन्त होकर पाप किया जाये। फिर तो समत्व का यह सिद्धान्त सृष्टि में पाप के प्रचार का सबसे बड़ा साधन बन जायेगा। इसी-

लिए ईश्वर के समत्व के प्रतिपादन के साथ ही मानस में यह पंक्ति भी दी गयी है :

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर भले ही पाप और पुण्य की ओर से उदासीन हो किन्तु उसने सृष्टि की रचना इस प्रकार की है कि व्यक्ति को कर्मों का परिणाम अपने-आप प्राप्त हो जाये। ऐसी स्थिति में बालि की यह मान्यता बड़ी विलक्षण थी कि समत्व के कारण उसमें और सुग्रीव में कोई भेद नहीं किया जायेगा। ईश्वर निर्मित सृष्टि में सर्वत्र वैषम्य ही तो दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर के समत्व की स्मृति कर व्यक्ति को स्वयं में समत्व लाना चाहिए। इसका वास्तविक उद्देश्य यह है, जीवन में प्रतिक्षण विषमता में स्थित रहकर परिणाम के समय जब कोई व्यक्ति समत्व की दुहाई देता है तब वह बालि के समान ही प्रभु की दृष्टि में अभिमानी और मूर्ख सिद्ध होता है।

फिर बालि इस समत्व के सिद्धान्त पर भी स्थिर नहीं रह पाता है। यह उसके संशय-भरे अन्तःकरण का सबसे बड़ा प्रमाण है। वाक्य-ज्ञान के द्वारा व्यक्ति के जीवन में अभिमान का उदय होता है, विश्वास का नहीं। यदि उसमें विश्वास होता तो स्वभावतः वह भक्ति की ओर अभिमुख हो जाता। ऐसी स्थिति में "जौं कदाचि मोहि मारहिं" का प्रश्न ही न उठता। वस्तुतः ईश्वर के समत्व का नाम लेकर वह स्वयं को ही धोखा दे रहा था। उसे यह ज्ञात था कि राघवेन्द्र के द्वारा इससे पहले अनेक लोगों का वध किया जा चुका है। यदि ताड़का, सुबाहु, मारीच, खरदूषण, त्रिशिरा और कबन्ध के वध में समत्व का सिद्धान्त बाधक नहीं बना तो बालि के लिए वह कैसे रक्षा-कवच बन जाता ? सम्भवतः इन घटनाओं की स्मृति से विचलित होकर ही उसने "जौं कदाचि मोहि मारहिं" का प्रतिपादन किया। तारा से यह कहना कि यदि वे मुझे मारेंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा और प्रभु के द्वारा प्रहार किये जाने पर उनसे यह विवाद करना कि "आपने मुझे क्यों मारा" स्वयं बालि को ही उपहासास्पद बना देता है। बालि अपने ही प्रश्नों के जाल में फँसता जा रहा था। अन्त में प्रभु ने अपने अन्तिम आरोप के द्वारा उसे पूरी तरह निरुत्तर कर दिया।

तारा के उपदेश को तिरस्कृत कर चले आने पर प्रभु ने असीम धैर्य का परिचय देते हुए बालि को पुनर्विचार के लिए अवसर प्रदान किया। इसीलिए वे बालि और सुग्रीव के संघर्ष के प्रथम भाग में कोई हस्तक्षेप नहीं करते हैं। वे बालि के अभिमान की परीक्षा ले रहे थे। बालि के प्रहार से व्यथित सुग्रीव के पास आने

पर प्रभु ने उनके कण्ठ में पुष्प की माला पहनाई। यह अपनी उपस्थिति की सूचना देने का अन्तिम प्रयास था :

मेली कंठ सुमन कै माला।
पठवा पुनि बल देइ बिसाला।।

प्रभु का तात्पर्य यह था कि यदि मैं तुम्हें छिपकर मारना चाहता तो प्रथम संघर्ष में ही तुम्हारा वध कर देता। किन्तु पुष्पमाला के द्वारा मेरी उपस्थिति का ज्ञान होने पर भी जब तुमने सुग्रीव पर प्रहार करने में संकोच का अनुभव नहीं किया तब मैं यह समझ गया कि तुम जान-बूझकर मुझे अनदेखा करना चाहते हो। प्रथम विजय से तुम्हारा गर्व और भी बढ़ गया और सम्भवतः तुम्हें यह प्रतीत होने लगा कि राम के रहते हुए भी मैं सुग्रीव को पराजित कर सकता हूँ :

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी।।

ऐसी स्थिति में तुम्हारे सारे आरोप मिथ्या हैं। प्रभु के उत्तर के बाद बालि के पास ऐसा कोई तर्क नहीं बचा जिससे वह प्रत्युत्तर दे पाता। इसीलिए उसने कृपा का आश्रय लेते हुए स्वयं की पराजय स्वीकार कर ली—प्रभु राम! आपसे मेरी चतुराई नहीं चली किन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या मृत्यु के समय आपके सम्मुख होते हुए भी मैं पापी बना हुआ हूँ :

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।।

बालि के इस दैन्य ने उसकी पराजय को विजय में परिणत कर दिया। बालि ने अपने वध के औचित्य को स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में प्रभु के उत्तर पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जो लोग अपनी धारणाओं के प्रति कट्टर अन्धविश्वासी नहीं हैं उन्हें प्रभु का उत्तर सन्तुष्ट करने में समर्थ होगा।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

तारा बिकल देखि रघुराया।
दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥

अर्थ—तारा को विकल देखकर श्रीरघुनाथ जी ने उसे ज्ञान प्रदान किया तथा माया का अपहरण कर लिया।

व्यक्ति अनादि काल से दुःख की समस्या का समाधान पाने के लिए व्यग्र रहा है। निरन्तर सुख की अभिलाषा व्यक्ति का सहज स्वभाव है। वह सुख को शाश्वत बनाकर उसे अपनी पकड़ में रखना चाहता है। दुःख को एक क्षण के लिए भी वह अपने पास नहीं फटकने देना चाहता, किन्तु उसकी यह चाह कभी पूरी नहीं होती। किन्तु इस असम्भव को सम्भव बनाने के प्रयास में वह जीवन के अन्तिम क्षण तक संलग्न रहता है। सुख की मात्रा और उसके स्थायित्व दोनों के ही प्रति व्यक्ति के मन में मोह है। दुःख के आने के सारे मार्ग वह अवरुद्ध कर देना चाहता है। भौतिकविज्ञान की सारी शक्ति इस समस्या के समाधान में लगी हुई है, किन्तु भारतीय चिन्तन इसे स्वीकार नहीं करता। वह समस्याओं के समाधान को व्यक्ति के अन्तर्मन से जोड़ना चाहता है। क्योंकि उसकी दृष्टि में सुख और दुःख का मूल केन्द्र व्यक्ति का अपना अन्तःकरण है। बाह्य समाधान केवल क्षणिक सन्तोष देते हैं। इसीलिए तारा के दुःख की समस्या का समाधान प्रभु ने आध्यात्मिक पद्धति से ही किया।

बालि की मृत्यु का समाचार फैलते ही सारा किष्किन्धा नगर शोकमग्न हो

गया। सुग्रीव के प्रति बालि का व्यवहार कितना भी कठोर क्यों न रहा हो अपने में वह एक योग्य शासक के रूप में प्रसिद्ध था। संघर्ष के उस युग में लंका के इतने निकट स्थित नगर के निवासी यह सोचकर निश्चिन्त रह सकते थे कि उनके स्वामी ने लंकेश्वर को परास्त कर अतुलनीय ख्याति प्राप्त की है। जब रावण-जैसा शक्तिशाली शासक भी उनकी ओर टेढ़ी दृष्टि नहीं डाल सकता तब किसी अन्य में ऐसे दुस्साहस की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। ऐसे बलशाली व्यक्ति की मृत्यु से उनका दुःखी होना स्वाभाविक था। किन्तु उनका दुःख आक्रोश में परिणत नहीं होता क्योंकि वे इस पारिवारिक संघर्ष की पृष्ठभूमि से पूरी तरह परिचित थे। उन्हें यह भी ज्ञात हो चुका था कि सुग्रीव ने एक ऐसे महान् योद्धा की मैत्री प्राप्त कर ली है जिसने एक ही बाण में बालि-जैसे बलशाली को विनष्ट कर दिया। फिर भी सारे नगर के लोग वहाँ एकत्र हो गये। बालि-पत्नी तारा की स्थिति सबसे अधिक शोचनीय थी। उसके बाल बिखरे हुए थे और वह शरीर की सुधि खो बैठी थी :

राम बालि निज धाम पठावा।
नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा।
छूटे केस न देह सँभारा॥

बालि का मृत शरीर सामने पड़ा हुआ था और सर्वशक्तिमान् ईश्वर उसे पुनर्जीवित करने में समर्थ था किन्तु उन्होंने ऐसा करने की आवश्यकता नहीं समझी। यद्यपि इस प्रसंग में एक अनोखे विरोधाभास का दर्शन प्राप्त होता है। अभी कुछ क्षण पहले प्रभु ने बालि से जीवित रहने का प्रस्ताव किया था :

सुनत राम अति कोमल बानी।
बालि-सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।
बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥

किन्तु तारा के समक्ष वे यह प्रस्ताव नहीं रखते हैं कि यदि तुम चाहो तो मैं बालि को पुनः जीवित कर दूँ। इसके दो महत्त्वपूर्ण कारण जान पड़ते हैं। क्या सचमुच प्रभु यह चाहते थे कि बालि जीवित रहे ? स्वयं बालि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। यदि प्रभु के संस्पर्श से बालि में विवेक का उदय न हुआ होता तो सम्भवतः इस प्रकार के प्रस्ताव में प्रभु की प्रसन्नता और कृपा का अनुभव करता। विश्व के अधिकांश व्यक्ति प्रभु की कृपा को इसी रूप में पाना चाहते हैं। वैभव,

विजय, कीर्ति और अमरता को ही ईश्वर की प्रसन्नता का परिणाम माना जाता है। यद्यपि विचार करने पर इनकी अयथार्थता सिद्ध हो जाती है। ये वस्तुएँ तो बहुधा ऐसे व्यक्तियों के पास भी देखी जाती हैं जिनका ईश्वर और उसकी कृपा से दूर का भी नाता नहीं है। पौराणिक काल से लेकर अब तक इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। इसलिए सच्चे भक्तों ने इन पदार्थों को कभी भी प्रभु की कृपा के रूप में नहीं देखा। स्वयं गोस्वामीजी ने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे—कभी बाल्यावस्था में दरिद्रता के कारण वे द्वार-द्वार भटके थे तो कभी ऐसा अवसर आया कि उनके द्वार पर राजाओं और वैभवशालियों की भीड़ खड़ी रहती थी। किन्तु इस स्थिति को उन्होंने प्रभु की कृपा के प्रतीक के रूप में स्वीकार नहीं किया। वे प्रभु से स्पष्ट शब्दों में यह कहते रहे कि मैं तो अपनाए जाने की स्वीकृति तभी मानूँगा कि जब मेरा मन विषयों से हटकर आपके चरणों में लग जायेगा :

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाड़ि छल करिहै॥
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामि सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेकते नहि टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै समचित हित अनहित, कलिकुचालि परिहरिहै॥
प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को बिश्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥

जिन लोगों ने जीवन की वास्तविकता को गहराई से देखा है वे यह जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि मात्र से ही आंतरिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि मायिक पदार्थों के इन्द्रजाल से हमें मुक्त कीजिए। जादूगर का जादू कम आकर्षक नहीं होता। उसे देखने वालों की भीड़ लग जाती है। अपने अनोखे खेलों से जादूगर दर्शकों को चकित कर देता है। कभी वह अन्तरिक्ष से मिष्टान्न और फल प्रकट कर देता है तो कभी किसी दर्शक का कान पकड़कर उससे रुपयों की वर्षा कराने लगता है। कभी भूत-प्रेतों की सृष्टि कर वह दुर्बल हृदय वालों को भयभीत कर देता है और जब वह किसी व्यक्ति को दो टुकड़ों में काटने की घोषणा करता है तब दर्शक स्तब्ध रह जाता है। यदि कोई दर्शक जादूगर से मिष्टान्न और रुपये माँगने लगे तो उसे बुद्धिमान नहीं माना जा सकता। बुद्धिमान दर्शक जादू का खेल देखकर प्रसन्न होता है, उसकी कला की प्रशंसा करता है और खेल की समाप्ति पर ताली बजाता हुआ घर लौट

आता है। कुछ ऐसे भी चतुर दर्शक होते हैं कि जो जादू के रहस्यों को जानना चाहते हैं, ऐसा व्यक्ति उस जादूगर से परिचय प्राप्त करता है और उसे प्रसन्न कर जादू का रहस्य जान लेता है।

ईश्वर से बढ़कर कोई दूसरा इन्द्रजाली नहीं है, वह शून्य से विशाल ब्रह्माण्ड उत्पन्न कर देता है और उसके इस कौतुक को देखकर विश्व के प्राणी चकित रह जाते हैं। उसका खेल इतना आकर्षक होता है कि अधिकांश जीव खेल में प्रकट किये गए पदार्थों को मायानाथ से माँगने लग जाते हैं। योगी और ज्ञानी द्रष्टा बनकर खेल का आनन्द लेते हैं। सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय उसे इन प्रलोभनों की ओर बढ़ने से रोकता है। भक्त इस इन्द्रजाल का रहस्य जानने के लिए प्रभु को प्रसन्न करता है और इनका रहस्य बताने की प्रार्थना करता है। ईश्वर की पूर्ण प्रसन्नता तभी परिलक्षित होती है जब वह मायिक पदार्थों से आसक्ति हटा ले :

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला।
जा पर होइ सो नर अनुकूला।।
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।
सतहरि भजन जगत सब सपना।।

इसीलिए प्रभु के जीवित रहने के प्रस्ताव को सुनकर बालि ने उसमें कृपा का अनुभव नहीं किया। उसे प्रतीत हुआ कि मुझे देहात्मवादी मानकर ही प्रभु शरीर-रक्षा का अनुरोध कर रहे हैं। उसने पूछा, प्रभु ! क्या कोई ऐसा मूर्ख हो सकता है जो बबूल की रक्षा के लिए कल्पतरु को काटकर उसकी बाड़ बना दें :

सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि स्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।।
मोहि जानि अति अभिमान-बस प्रभु कहेहु राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं।।

वह यह रहस्य जान चुका था कि मायानाथ कुछ ही क्षणों के अन्तराल से दो प्रकार के जादुओं का प्रदर्शन कर चुके हैं। कुछ क्षण पहले कठोर मुद्रा में धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने कोप का प्रदर्शन कर रहे थे और अब सिर पर हाथ रखकर कृपा का अभिनय कर रहे हैं। कृपा और कोप के स्थान पर वह प्रभु की उस मंगल-मयी भक्ति को पाना चाहता है जिसे पाकर भक्त भ्रम से मुक्त होकर परमानन्द में निमग्न हो जाता है। इसीलिए प्रभु ने बालि से पुनः शरीर-रक्षा का अनुरोध नहीं किया।

तारा के प्रति प्रभु के अन्तःकरण में बड़ी उदार भावना थी। उसने बालि को

प्रारम्भ में ही प्रभु के स्वरूप का संकेत दिया था। इसलिए तारा को सामने देखकर उन्होंने अपने इन्द्रजाल के द्वारा उसे व्यामोह में डालना उचित नहीं समझा। वे यह जानते हैं कि आज जीवित कर दिये जाने पर भी बालि की मृत्यु कभी-न-कभी तो होगी ही। जो यथार्थ है उसे टालने की चेष्टा व्यर्थ है। यदि कोई व्यक्ति ऋण लेकर ब्याज चुकाने से मुँह चुराये और ऋणदाता से अवधि बढ़ाने की प्रार्थना करता जाये तो इसका परिणाम ऋण लेने वाले के लिए ही बुरा होगा और ब्याज का बोझ उस पर बढ़ता चला जायेगा। अप्रिय लगने वाले परिणामों को टालने का प्रयास भी इसी श्रेणी में आता है। समय के साथ-साथ आसक्ति का ब्याज बढ़ता जाता है और उसी मात्रा में उस व्यक्ति का दुःख भी ! प्रभु ने तारा की आसक्ति का केन्द्र विनष्ट कर दिया। उन्होंने तारा से कहा, "पंचतत्त्वों के द्वारा निर्मित बालि का शरीर तुम्हारे सामने पड़ा है यदि तुम्हारी दृष्टि में सुख का केन्द्र यही है तो तुम इसे उठाकर क्यों नहीं ले जाती हो ? और यदि तुम जीव के लिए शोकग्रस्त हो तो वह कभी विनष्ट नहीं होता है। उसके लिए शोक करना सर्वथा व्यर्थ है।"

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

नित्य जीव ने अनित्य शरीर से अपने को एक मानकर दुःख की सृष्टि की है। इन दोनों के पार्थक्य को समझ लेना ही सच्चा ज्ञान है। जो कभी नष्ट नहीं होता है उसके लिए शोक करना मूर्खता है और जिसका नष्ट होना अवश्यम्भावी है उसे बचाये रखने का प्रयास उससे भी बड़ी मूर्खता है। प्रभु ने अपने उपदेश के द्वारा तारा की भ्रान्ति दूर कर दी। जादूगर ने इन्द्रजाल का सारा रहस्य तारा के समक्ष प्रकट कर दिया। विवेकमयी तारा ने प्रभु के मंगलमय चरणों की याचना का वर प्राप्त किया। भौतिक विश्व की दृष्टि में उसका वर (दूल्हा) विनष्ट हो गया किन्तु कभी नष्ट न होने वाला पारमार्थिक वर उसने पा लिया।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

उमा दारु जोषित की नाईं।
सबहि नचावत रामु गोसाईं ॥

अर्थ—उमा ! भगवान् राम सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं।

भगवान् शंकर द्वारा तारा-प्रसंग के समापन में कहा जाने वाला यह वाक्य बड़ा अनोखा प्रतीत होता है। यह घटनाओं को देखने की शिव की अपनी दृष्टि है। इस प्रसंग में महादेव के उस वाक्य का स्मरण आता है, जिसे उन्होंने नारद-मोह के प्रसंग में कहा था। देवाधिदेव प्रभु के अवतार के कारणों का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा, एकबार नारद ने प्रभु को शाप दे दिया। इसलिए उनका अवतार हुआ :

नारद श्राप दीन्ह एक बारा।
कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥

श्रोता का चौंकना स्वाभाविक था। देवर्षि उनके गुरु थे। उनके लिए यह कल्पना भी असह्य थी कि इतने वड़े महापुरुष के अन्त:करण में कभी मोह उत्पन्न हो सकता है। वे बिना पूछे रह नहीं पाईं—देवर्षि ने क्यों शाप दिया ? भगवान् नारायण ने कौन-सा अपराध किया था ? त्रिपुरारि, यह प्रसंग मुझे आप अवश्य सुनायें। देवर्षि के मन में मोह उत्पन्न हुआ, यह बड़े आश्चर्य की बात है :

गिरिजा चकित भईं सुनि बानी।
नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी॥
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा।
का अपराध रमापति कीन्हा॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।
मुनि मन मोह आचरज भारी॥

पार्वती के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् शिव उन्मुक्त भाव से हँस पड़े और उन्होंने कहा, "न तो कोई ज्ञानी ही है और न कोई मूर्ख। प्रभु जब जिसे जैसा बनाना चाहते हैं, वह उस क्षण में वैसा ही बन जाता है।"

बोले बिहसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥

ज्ञानी देवर्षि में मोह का उदय हुआ। मोहग्रस्ता तारा के अन्तःकरण में ज्ञान का उदय हुआ। अन्य लोगों के लिए यह आलोचना और प्रशंसा की बात हो सकती है, किन्तु नीलकण्ठ की दृष्टि दोनों प्रसङ्गों में सर्वथा एक जैसी है। तारा और नारद उनके लिए प्रशंसा और निन्दा के पात्र नहीं हैं। उनकी दृष्टि तो एकमात्र प्रभु की ओर है।

देवर्षि नारद और तारा, दोनों के अन्तःकरण की प्रतिक्रियाओं को वे केवल कठपुतली के रूप में देखते हैं। वैसे इसे काकभुशुण्डि ने दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। वे गरुणजी से कहते हैं, "जैसे मदारी बन्दर को नचाता है, उसी तरह प्रभु सारे विश्व को नचा रहे हैं।"

नट मरकट इव सबहिं नचावत।
राम खगेस बेद अस गावत॥

नट-मर्कट के दृष्टान्त की अपेक्षा कठपुतली के नाच का दृष्टान्त कुछ अधिक सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि बन्दर के नाच को देखते हुए दर्शक नाचने और नचाने वाले दोनों को ही देख पाते हैं। उन्हें नट का आदेश सुनाई पड़ता है और यह भी दिखाई देता है कि डोरी में बँधा हुआ बंदर उसकी इच्छा के अनुकूल आचरण का प्रयास कर रहा है। कठपुतली के नाच का खेल इससे भिन्न रूप में खेला जाता है। यहाँ कठपुतली प्रत्यक्ष होती है, पर उसे नचाने वाला सूत्रधार नहीं दिखाई देता। कठपुतली का नृत्य देखने में छोटे बच्चों को बहुत अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। कठपुतली के द्वारा होने वाली प्रत्येक चेष्टा को वे

पूरी तरह सत्य मानते हैं; दुःखद घटनाओं पर व्याकुल होते हैं और कभी आनन्द के मारे उछलकर ताली बजाते हैं। किन्तु प्रौढ़ दर्शक की दृष्टि उस कलाकार की ओर जाती है, जो प्रत्यक्ष सामने न आकर भी अपनी अँगुलियों के संकेत पर सूत्र में बँधी हुई कठपुतलियों को नचा रहा है। नृत्य के कुशल सञ्चालन पर वह सूत्रधार को बधाई देता है। सृष्टि में भी प्राणी कठपुतलियों की भाँति नाच रहे हैं, किन्तु सूत्र और सूत्रधार दोनों दिखाई नहीं देते। इसलिए हमारी दृष्टि व्यक्तियों पर अटक जाती है। वे राग और द्वेष के पात्र बन जाते हैं और इस प्रकार व्यक्ति बन्धन में बँध जाता है। भगवान् शिव के समान जिनकी दृष्टि सूत्रधार में आबद्ध है, वे निन्दा और स्तुति की भावना से ऊपर उठ जाते हैं। इसलिए भक्त जिस उदात्त स्थिति की कल्पना करता है उसमें "निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज" की वृत्ति कार्य करती है। बहुधा यह कहा जाता है कि दूसरों की निंदा नहीं करनी चाहिए, दूसरों में दोष नहीं देखना चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति में गुण-दर्शन करना चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त भी माध्यमिक स्थिति का ही परिचायक है। व्यक्ति परनिन्दा में रस लेता है। इस वृत्ति को काटने के लिए दोष-दर्शन के त्याग की बात कही जाती है। किन्तु इस वृत्ति के समाप्त होने पर गुण-दर्शन से मुक्त हो जाना अपेक्षित है। दूसरों का दोष हमें द्वेष की अग्नि में जलाता है, भले ही गुण व्यक्ति को न जलाता हो, पर उसे बाँध तो लेता ही है। संस्कृत में बन्धन शब्द गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है और सचमुच गुण-बन्धन अत्यधिक कठिन है। व्यक्ति को दोनों से मुक्त होना चाहिए।

शंकरावतार हनुमान को मेघनाद रावण की सभा में बाँधकर ले जाता है क्योंकि उसे रावण का आदेश था—"बन्दर को मारना नहीं, बाँधकर ले आना। मैं उसे देखना चाहता हूँ कि वह बन्दर कहाँ का है ?"

मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही।
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥

इस आदेश में रावण अपने औदार्य का प्रदर्शन करने की चेष्टा कर रहा था। वह आञ्जनेय पर यह प्रभाव डालना चाहता था कि वह शत्रुओं के गुण का भी समादर करता है। उसे विश्वास था कि बन्दर इसके लिए उसके प्रति अवश्य ही कृतज्ञ होगा। किन्तु पवननन्दन पर उसकी अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं हुई। बाद में वह क्रुद्ध होकर पूंछ को जलाने का आदेश दे देता है। किन्तु दोनों ही घटनाओं में श्रीहनुमान जी की दृष्टि एकमात्र प्रभु पर थी। रावण का ऐश्वर्य उन्हें भी दिखाई दे रहा था, किन्तु वे अन्य देवताओं की भाँति इसे रावण की सफलता नहीं मानते हैं। इसमें भी उन्हें अपने प्रभु का ही चमत्कार दिखाई देता

है और यही वे रावण से कहते भी हैं—"जिसके बल के लवलेश से तुमने सारे विश्व को जीत लिया है, मैं उन्हीं प्रभु का दूत हूँ।"

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

और तब रावण ने पूँछ में आग लगाने का आदेश दिया। तब भी वे मुस्कराते हुए उसमें भी प्रभु की प्रेरणा ही देख रहे थे :

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।
भइ सहाय सारद मैं जाना॥

इसीलिए न तो बँधते हैं और न जलते ही हैं। यही आदर्श स्थिति है। विनयपत्रिका में तुलसी प्रभु से जिस रहनि की कामना करते हैं, उसमें भी यही माँग की गई है—"हे प्रभु ! वह कौन-सा दिन होगा, जब मेरी रहनि संतों-जैसी हो जायेगी। जो-कुछ मुझे प्राप्त हो जायेगा, उतने में ही सन्तुष्ट होकर मैं किसी से और कुछ नहीं कहूँगा :

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपातें, संत सुभाव गहौंगो॥
जथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत-निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भगति लहौंगो॥

तारा कुछ क्षण पहले व्याकुल थी और अब यदि वह ज्ञानी बन गई तो इसके लिए उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए, यह मान्यता भगवान् शिव की नहीं है। कहा जाता है, बाद में तारा ने सुग्रीव का वरण किया। ऐसी स्थिति में प्रशंसा और निन्दा का यह क्रम सर्वदा परिवर्तित होता रहेगा। भगवान् भूतभावन की दृष्टि सर्वथा एकरस है। सूत्रधार की कला पर वे रीझे हुए हैं। माया का पतला सूत्र प्रभु के हाथ में है और वह रंगमञ्च पर मनचाहे दृश्य उपस्थित कर रहा है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण भी यही स्वीकृति देते हैं :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

मायानाथ के इस रहस्य को जान लेने वाला प्रत्येक परिस्थिति में शांत बना रहता है। शिव की यह दृष्टि सर्वत्र एकरस है। यदि सती असत्य बोलती हैं तब भी वे क्षुब्ध नहीं होते, क्योंकि उसमें भी उन्हें सूत्रधार का सूत्र स्पष्ट दिखाई देता है :

बहुरि राम मायहि सिरु नावा।
प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥
हरि इच्छा भावी बलवाना।
हृदय बिचारत सम्भु सुजाना॥

सती, तारा, नारद—सभी काष्ठ-पुत्तलिका मात्र हैं, और वे सूत्रधार के संकेत पर नाच रहे हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
सुर नर मुनि सबकै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

अर्थ—उमा ! श्रीराम के समान हितैषी गुरु, पिता, माता, भाई और स्वामी कोई भी नहीं है। देवता, मनुष्य, मुनि आदि सबकी यही रीति है कि वे केवल अपने स्वार्थ से ही प्रेम करते हैं।

मानस की अनेक पंक्तियाँ जन-जीवन में इतनी अधिक प्रविष्ट हो गई हैं कि बहुधा उनका प्रयोग लोकोक्तियों की तरह किया जाता है। उपर्युक्त पंक्ति भी उन्हीं में से एक है। किन्तु इसका प्रयोग जिस सन्दर्भ में किया जाता है, वह सही नहीं होता। किसी व्यक्ति में स्वार्थ की अधिक मात्रा देखकर निन्दा अथवा आक्षेप के लिए यह पंक्ति उद्धृत की जाती है, तब वह अपना सच्चा तात्पर्य खो बैठती है। इस पंक्ति को पढ़कर दूसरे को स्वार्थी सिद्ध करने के प्रयास से ऐसा लगता है कि जैसे वह व्यक्ति स्वयं "सुर नर मुनि" से अलग निष्कामता का घनीभूत रूप है। यदि सारी सृष्टि स्वार्थमय है तो कहने वाला व्यक्ति भी तो उनमें से ही एक है। एक स्वार्थी दूसरे स्वार्थी की निन्दा करे, इससे बढ़कर उपहासास्पद बात और क्या हो सकती है ?

इस पंक्ति का प्रयोग जिस संदर्भ में हुआ है, उसे सही रूप में समझ लेने पर इसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। बालि-वध के पश्चात् जब भगवान् राम सुग्रीव का राज्याभिषेक करते हैं, उस समय प्रभु के स्वभाव की

उदारता की सराहना करते हुए तुलना की दृष्टि से प्रस्तुत पंक्ति कही गई है। भगवान् शंकर ने भाव-भरे शब्दों में पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहा—पार्वती ! भगवान् राम के समान हितैषी गुरु, पिता, माता और बन्धु कोई नहीं है। देवता, मनुष्य और मुनि स्वार्थ के लिए ही प्रीति करते हैं। जो सुग्रीव बालि के भय से निरन्तर संत्रस्त रहता था, जिसका शरीर घावों से भरा हुआ था और चिन्ता के मारे जिसकी छाती जलती रहती थी, उसे प्रभु ने कपिराज बना दिया। ऐसा कोमल स्वभाव किसका हो सकता है ? प्रभु के इस स्वभाव को जानकर भी जो उन्हें भुलाकर अन्यों का आश्रय लेते हैं, यदि वे विपत्ति में पड़ें तो इसमें क्या आश्चर्य है :

उमा राम सम हित जग माहीं।
गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
सुर नर मुनि सबकै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
बालि त्रास ब्याकुल दिन राती।
तन बहु ब्रन चिन्ताँ जर छाती॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ।
अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ॥
जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं।
काहे न बिपति जाल नर परहीं॥

भगवान् शंकर ने अपनी सम्मति का श्रीगणेश जिस वाक्य से किया, वह बड़े महत्त्व का है। श्रीराम के हितैषिता की तुलना में वे जिन्हें हीन सिद्ध करते हैं, उनमें सबसे पहला नाम गुरु का है। यों यह मानस के अन्य प्रसंगों से विपरीत-सा प्रतीत होता है। साधन-सम्बन्धी ग्रन्थों में गुरु को सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त है। न केवल सांसारिक सम्बन्धों की तुलना में अपितु ईश्वर की तुलना में भी वह अधिक श्रेष्ठ माना गया है। मानस में भी यह परम्परा इसी रूप में स्वीकार की गई है। महर्षि वाल्मीकि भगवान् राम के रहने के लिए जिन स्थानों का वर्णन करते हैं, उनमें से छठे स्थान का वर्णन इस रूप में किया गया है :

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना।
बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥

तुम्ह ते अधिक गुरहि जियँ जानी।
सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥
सबु करि मागहिं एक फलु, राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ॥

इसमें स्पष्ट रूप से ईश्वर की अपेक्षा गुरु को अधिक महत्त्व दिया गया है। भगवती उमा भी सप्तर्षियों से इसी मत का प्रतिपादन करती हैं, जहाँ वे यह कहती हैं कि भगवान् शंकर के कहने पर भी मैं देवर्षि नारद के उपदेशों का परित्याग नहीं कर सकती हूँ :

तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आपु कहहिं सत बार महेसू॥

किन्तु इसके विपरीत भगवान् शंकर ईश्वर की तुलना में गुरु को कम महत्त्व देते हैं। वस्तुतः भगवान् शिव ही त्रिभुवन गुरु हैं :

तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।
आन जीव पावँर का जाना॥

गुरु साक्षात् शिव-स्वरूप हैं। गोस्वामीजी गुरुदेव की शिव-रूप में वंदना करते हुए कहते हैं—बोधमय गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ जिसके आश्रय से वक्र चन्द्रमा भी (टेढ़ा शिष्य) जगत् में वंदनीय हो जाता है :

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

भगवान् शिव के द्वारा गुरु की प्रशंसा का तात्पर्य आत्मप्रशंसा हो जाता। साथ ही जब वे माता, बन्धु की प्रभु से तुलनात्मक आलोचना करते हैं, तब वे मानों सर्वप्रथम गुरु का नाम लेकर स्वयं की आलोचना करते हैं। यही शिष्ट जनोचित परम्परा है। दूसरों की आलोचना से पहले व्यक्ति को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इसी तरह दूसरों को स्वार्थी कहते हुए यदि व्यक्ति स्वयं की स्वार्थपरता पर दृष्टि डाले तो स्वार्थी कहकर वह दूसरों को हीन सिद्ध करने का प्रयास नहीं करेगा।

यदि सारी सृष्टि ही स्वार्थमय है तो व्यक्ति को यह प्रयास करना है कि सबके स्वार्थों में सामञ्जस्य कैसे बैठे। परस्पर टकराहट के स्थान पर वे एक-दूसरे के पूरक कैसे बनें। गीता में जिस यज्ञ-कर्म का वर्णन किया गया है, उसमें

इसी सामञ्जस्य का संकेत है। भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया, ब्रह्मा ने सृष्टि के निर्माण के साथ ही यज्ञ का भी निर्माण किया और प्रजा को उपदेश देते हुए यह कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम सब देवताओं का भजन करो और बदले में देवता तुम्हारी कामना पूर्ण करें। इस तरह एक-दूसरे की भावना को पूर्ण करते हुए परमश्रेय को प्राप्त करो :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

स्वार्थ का सामञ्जस्य ही धर्म है। सभी सांसारिक सम्बन्धों में कर्त्तव्य का निर्देश इसी उद्देश्य से किया गया है। जब प्रत्येक व्यक्ति 'स्वधर्म' का पालन करता है तब स्वार्थ संघर्ष का हेतु नहीं बनता। देवता, मुनि और मनुष्य सभी इस स्वार्थ-सूत्र में आबद्ध हैं। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति पर त्रिविध ऋण का वर्णन किया गया है—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र इसी के प्रतीक माने जाते हैं।

ऋण माँगते हुए प्रत्येक व्यक्ति दाता के सामने नत होता है। यदि चुकाते समय वह यह प्रचार करने लगे कि दाता बड़ा स्वार्थी है, क्योंकि व्याज-सहित द्रव्य पाने के लिए ही वह ऋण देता है, तो उसका यह व्यवहार प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। समाज से यदि व्यक्ति लेता है तो उसे व्याज-सहित चुकाना उसका कर्त्तव्य है। स्वार्थ जब तक अतिरेक की सीमा में नहीं पहुँच जाता, तब तक वह समाज के संघटन का आधार है। सामाजिक दृष्टि से इस पंक्ति का यही तात्पर्य है। पर भगवान् शंकर ने इसे भिन्न उद्देश्य से प्रस्तुत किया है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह एक स्वतंत्र पंक्ति न होकर तुलना की दृष्टि से लिखी गई है। "ईश्वर को छोड़कर सारा संसार स्वार्थमय है। अतः प्रीति करने योग्य एकमात्र प्रभु ही हैं।" यह सिद्ध करने के लिए ही लोगों की स्वार्थ-परता का वर्णन यहाँ किया गया है। दूसरों के प्रति कर्त्तव्य पालन करते हुए व्यक्ति उनसे भी वैसी ही प्रत्याशा करने लगता है। विशेष रूप से सम्बन्धों के प्रति आसक्ति की भावना प्रतिदान पाने की आकांक्षा को और भी प्रबल बना देती है। प्रत्येक को ऐसा प्रतीत होता है कि सामने वाले के प्रति वह जितना कर रहा है, बदले में उसकी उपेक्षा की जा रही है; तब खींचतान और दोषारोपण की प्रवृत्ति पनपती है। व्यक्ति को ऐसा लगता है कि शत्रु-मित्र सभी उसे दुःख देने पर तुले हुए हैं। समाज में अधिकांश लोगों की मनोवृत्ति इसी भावना से आक्रान्त दिखाई देती है।

भक्ति-दर्शन की मान्यता यह है कि लोगों की स्वार्थपरता को जान लेने के

बाद उनके प्रति द्वेष के स्थान पर वैराग्य का उदय होना चाहिए। वैराग्य में विद्वेष की प्रवृत्ति का अभाव होता है। जबकि राग और द्वेष दोनों ही व्यक्ति को अन्धा बना देते हैं। दोहावली के इस दोहे में इसी की ओर संकेत किया गया है :

तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।
सुरा सेवरा आदरहिं निंदहि सुरसरि बारि॥

अतः वह राग अन्यत्र से हटाकर प्रभु की ओर उन्मुख किया जाना चाहिए; क्योंकि प्रेमास्पद होने की पात्रता केवल उनमें है। जीव का उनके प्रति प्रेम सहज और स्वार्थरहित है। देना उनका सहज स्वभाव है। यदि कुछ लोग देते भी हैं तो प्रतिदान की आकांक्षा या अपने अहं के प्रदर्शन के लिए। प्रभु माँगने वाले को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। लोग सकाम होकर भी स्वयं को निष्काम रूप में प्रदर्शित करते हैं। पर प्रभु की सर्वथा उलटी रीति है। सुग्रीव के अन्तःकरण में अपनी सकामता के प्रति ग्लानि उत्पन्न न हो, इसके लिए वे स्वयं सकामता का अभिनय करते हैं। सुग्रीव को राज्याभिषिक्त करने के तत्काल बाद अपने कार्य की स्मृति दिलाना इसी सद्भाव से प्रेरित है। वे सुग्रीव से अनुरोध करते हैं— मित्र ! तुम अंगद के सहित राज्य करो, पर सर्वदा मेरे कार्य का स्मरण रखना :

अंगद सहित करेहु तुम्ह राजू।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू॥

इसकी तुलना में सुग्रीव के द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास कि वे निष्काम-भाव से भजन करना चाहते हैं, प्रभु और उनके स्वभाव के पार्थक्य को प्रकट करता है। प्रभु के द्वारा बालि-वध की प्रतिज्ञा करते ही उनका वैराग्य-प्रदर्शन इन शब्दों में प्रकट होता है :

उपजा ग्यान बचन तब बोला।
नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥
सुख सम्पति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक।
कहहिं सन्त तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं॥
बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥

सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागें समुझत मन सकुचाई।।
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती।।

जीव और प्रभु के स्वभाव का तुलनात्मक चित्र मनुष्य को भगवत्प्रेम की दिशा में प्रेरित करने के लिए ही अंकित किया गया है। अतः जो लोग "स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती" का प्रयोग दूसरों की आलोचना के लिए करते हैं, वे इसके मूल उद्देश्य को ही नष्ट कर देते हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

लछिमन देखु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
ग्रही बिरति रत हरष जस बिष्नुभगत कहुँ देखि ॥

अर्थ—लक्ष्मण देखो, मोरों के झुंड बादलों को देखकर नाच रहे हैं। जैसे वैराग्य में अनुरक्त गृहस्थ किसी विष्णुभक्त को देखकर हर्षित होते हैं।

तुलसी साहित्य के प्रशंसकों ने भी उनके काव्य की जिन त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है उनमें से एक है—"प्रकृति के सहज सौन्दर्य के प्रति उनकी उदासीनता"। बहुधा इस सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य और हिन्दी काव्य के अनेक कवियों से उनकी तुलना की गयी है। वाल्मीकि और कालिदास के ग्रन्थों में प्रकृति की रमणीयता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण के जो कलात्मक चित्र देखने को मिलते हैं रामचरितमानस में उनका सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कि हिन्दी के देव, पद्माकर और सेनापति भी इस कला में गोस्वामीजी से आगे हैं, ऐसा बहुधा कहा गया है। किसी सीमा तक यह बात यथार्थ-सी प्रतीत होती है। किन्तु इस विषय में गोस्वामीजी का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। उन्होंने कवित्त-कला का दावा कभी नहीं किया। उनका काव्य उद्देश्यवादी है। वस्तु की अत्यधिक कलात्मकता अपने आकर्षण से इतना अभिभूत कर लेती है कि आराध्य के स्थान पर कलाकार प्रतिष्ठापित हो जाता है। वस्त्र का भड़कीलापन और उसकी बहुमूल्यता यदि व्यक्ति की ओर से दृष्टि ओझल बना दे तो उसे वस्त्र की सफलता नहीं कह सकते। जहाँ तक वस्त्र और आभूषण सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं उनकी उपादेयता वहीं तक

है। इसीलिए राम-जन्म की वेला में वे अवधपुरी की नारियों का जो चित्र प्रस्तुत करते हैं उसमें उनका काव्यदर्शन भी झलक रहा है। शृंगारप्रियता स्त्रियों का सहज स्वभाव है। आभूषणों के प्रति उनका आकर्षण प्रसिद्ध है। आभूषणों का माङ्गलिक दृष्टि से भी महत्त्व है इसलिए अयोध्या के राजमहल में जाने से पहले वे वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित हों, यह स्वाभाविक था। किन्तु यदि वे शृंगार में ही सारा समय गवाँ दें तो इससे वस्त्र और आभूषणों के प्रति व्यामोह ही सिद्ध होगा। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि समाचार सुनते ही वे सहज शृङ्गार कर अयोध्या के राजमहल की ओर तेजी से चलीं :

बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाईं।
सहज सिंगार किएँ उठि धाईं॥

इस वर्णन में उद्देश्य और श्रृङ्गार का जो सन्तुलन विद्यमान है, वही मानस की काव्य-दृष्टि है। मानस का मुख्य उद्देश्य भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म का प्रचार है। अत: काव्य के कुछ पक्षों की अवहेलना अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। प्रकृति का व्यापक और सूक्ष्म चित्र मानस में न प्राप्त होने का यह भी एक कारण हो सकता है। मानस में प्रकृति-वर्णन भी उद्देश्यवादी दृष्टिकोण से ही किया गया है।

सुग्रीव को राज्य देने के पश्चात् भगवान् राम प्रवर्षण पर्वत पर निवास करते हैं। वालि-वध और राज्याभिषेक का कार्य ग्रीष्म ऋतु में सम्पन्न हुआ जान पड़ता है। प्रवर्षण पर्वत पर रहते हुए श्रीराम ने वर्षा और शरद ऋतुओं का स्वरूप देखा। प्रभु ने प्रकृति के जो चित्र प्रस्तुत किये उसके श्रोता श्रीलक्ष्मण हैं। प्रकृति का यह वर्णन कला के स्थान पर उनसे प्राप्त प्रेरणाओं को महत्त्व देता है। सम्भवत: यह श्रीराम की वर्तमान मनोदशा को भी प्रकट करता है। वर्षा के प्रथम दर्शन से उनकी विरह-व्याकुलता बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में उधर से मन हटाने के लिए वे अपने वर्णन को नीति, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की ओर उन्मुख कर देते हैं। इस प्रकार का वर्णन लक्ष्मण-जैसे श्रोता के मनोभाव के अनुरूप भी है। ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा ऋतु का आगमन हुआ, आकाश में मेघ छा गये, वे गरजने लगे। दृश्य बड़ा आकर्षक था। मयूर मेघ-ध्वनि सुनकर आनन्द से नाच उठे। किन्तु स्वयं प्रभु के मन में विरह-व्यथा व्याप्त हो गई। उन्हें लगा, मेरी अपेक्षा यह मयूर ही श्रेष्ठ है। मुझ में राग है किन्तु मयूर रागी प्रतीत होते हुए भी विरागी है, और मैं उदासी वेश में रहता हुआ भी आसक्त हूँ। वे लक्ष्मण को श्रोता बनाकर मनोवृत्तियों का यह पार्थक्य प्रकट करते हैं।

मेघ को उन्होंने विष्णु-भक्त के रूप में देखा। मेघ के पास स्वयं अपना जल

नहीं होता। समुद्र से जल लाकर वह सारी सृष्टि को रस-प्लावित कर देता है।

भक्त के सद्गुण भी स्वयं उसके नहीं होते हैं। विष्णु-रूप समुद्र से वह सद्गुण जल का संग्रह करता है और उन सद्गुणों का वर्षण करता हुआ लोक-मानस की पिपासा को शान्त करता है। संत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामीजी ने प्रभु और भक्त के सम्बन्ध को समुद्र और घन के रूप में ही अंकित किया है :

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

मेघ आकाश में भ्रमण करता हुआ जल वर्षण करता रहता है। संत भी पृथ्वी पर विचरण करते हुए भगवद्गुण का प्रचार और प्रसार करते रहते हैं। यों मेघ की महानता पर सबकी दृष्टि नहीं जाती है। सबके मन में मेघ का स्वागत करने और कृतज्ञता प्रकट करने का भाव भी नहीं आता, यह वृत्ति तो केवल मयूर में दिखाई देती है। व्यावहारिक दृष्टि से मयूर का मेघ से कोई स्वार्थ नहीं है। पर अन्य लोग जहाँ स्वार्थ-सिद्धि के लिए जल का उपयोग अपनी सिंचाई के लिए करने लगते हैं, वहाँ मयूर मेघ के स्वागत में आनन्द से थिरक उठता है। मयूर और मयूरी की जोड़ी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे आसक्ति से भरे हुए हैं। किन्तु वर्षा के प्रारम्भ में उनका जो मनोभाव प्रकट होता है उससे ऐसा लगता है कि व्यवहार में पत्नी से सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए भी वे अन्तःकरण से विरागी हैं और उनका सच्चा राग मेघ के प्रति है। वैराग्यवान् गृहस्थ भी ठीक इसी तरह अपने सांसारिक सम्बन्धों का निर्वाह करते हैं। किन्तु उनका आन्तरिक राग प्रभु और उनके भक्तों से ही होता है।

नृत्य आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अपने सुख और आनन्द को व्यक्ति बहुधा किसी अंग के माध्यम से प्रकट करता है। कभी वह इसके लिए वाणी का माध्यम चुनता है तो कभी आँखें ही बहुत-कुछ कह देती हैं। कभी उसके मुख पर आश्वस्तता का भाव होता है तो कभी केवल हाथ के संकेत से ही अपने संतोष को व्यक्त कर देता है। किन्तु नृत्य में उसका प्रत्येक अंग थिरककर परमानन्द की सूचना देता है। वैराग्ययुक्त गृही भी संसार के व्यवहार में जीवन के केवल कुछ अंशों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु भगवद्भक्त को देखकर उनका शरीर, प्राण, मन सब एक साथ थिरक उठता है।

दूसरी ओर प्रभु अपनी मनोवृत्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं—आकाश में घने मेघ गर्जना कर रहे हैं, जानकी के वियोग में मेरा मन डर रहा है :

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

इस तरह एक ही वस्तु के साक्षात्कार से प्रभाव की भिन्नता का वर्णन करते हुए प्रभु यह बताना चाहते हैं कि सुख और दुःख में मूलतः व्यक्ति की भावना का ही सर्वाधिक महत्त्व है। ऐसा लगता है कि मयूर से अपनी तुलना करते हुए प्रभु के मन में कहीं-न-कहीं लक्ष्मण से अपनी तुलना का भाव छिपा हुआ है। व्यावहारिक अर्थों में राघवेन्द्र और लक्ष्मण दोनों ही गृहस्थ हैं, और दोनों ही अपनी पत्नियों से दूर हैं। किन्तु दोनों की मनःस्थिति सर्वथा भिन्न है। प्रभु को प्रतीत होता है कि लक्ष्मण भी मयूर की ही भाँति "बिरति रत ग्रही" हैं। इसलिए प्रकृति का पर्यवेक्षण करते हुए उनके अन्तःकरण में भक्ति और वैराग्य के भाव ही जाग्रत होते हैं। इस प्रसंग में मुझे गीतावली के कुछ प्रसंगों की स्मृति आती है। चित्रकूट में निवास करते हुए श्रीलक्ष्मण विभिन्न ऋतुओं में वन की शोभा देखते हैं तब वे अपने अन्तर्मन की भावनाओं को प्रभु के समक्ष प्रकट करते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ प्रभु को प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा है। यहाँ तक कि जिस वसन्त ऋतु के आगमन में प्रभु काम के आक्रमण की कल्पना करते हैं वहाँ श्रीलक्ष्मण को ऐसा प्रतीत होता है कि काम और वसन्त पूरी साज-सज्जा के साथ प्रभु से होली खेलने के लिए आये हुए हैं। झिल्ली और झरने की ध्वनि में उन्हें डफ और मृदङ्ग का स्वर सुनाई देता है। भौरों के शब्द में भेरी और तोते ताल देते हुए प्रतीत होते हैं। हंस, कपोत, चक्रवाक, चकोरों को देखकर उन्हें ऐसा लगता है कि यही वसन्त नगर के स्त्री-पुरुष हैं। रंग-बिरंगे मृगों को देखकर होली के छैलों की टोली की प्रतीति होती है। मोर नाच रहे हैं, कोयल पंचम स्वर में गा रही है मानों निर्लज्ज युवक-युवती समयानुकूल फाग खेल रहे हैं। हाथी अपनी हथिनियों पर जल डालते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे पिचकारी के द्वारा रंग की वर्षा कर रहे हैं। बंदरों की पीठ पर उनके शिशुओं को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे मुख पर गेरू और कालिख लगाकर होली के छैले गधों पर सवार हो गये हों। मलयवायु पराग और पुष्पों के रस से भरकर विचरते हुए ऐसा लग रहा है कि मुखों पर गुलाल या अबीर भरकर अरगजा छिड़क रहा हो। लक्ष्मण प्रकृति के इस अनोखे चित्र को चित्रित करते हुए अन्त में प्रभु से कहते हैं—"कौतुकी काम ने आपकी प्रसन्नता के लिए ही यह सारा समारम्भ प्रस्तुत किया है। इसके बदले में आपने उसे विश्वविजयी होने का वरदान दे दिया है पर साथ ही आपने उसे चेतावनी भी दे दी है कि मेरे दासों को कभी दुःख न देना।" गोस्वामीजी के शब्दों में यह मार्मिक पद इस प्रकार है :

देखत चित्रकूट बन मन अति होत हुलास।
सीता-राम-लषन प्रिय, तापस-बृंद निवास ॥

सरित सोहावनि पावनि, पापहरनि पयनाम।
सिद्ध-साधु-सुर-सेवित देति सकल मन काम॥
बिटप-बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति।
कंदमूल जल-थलरुह अगनित अनबन भांति॥
बंजुल मंजु, बकुलकुल, सुरतरु ताल तमाल।
कदलि, कदंब, सुचंपक, पाटल, पनस रसाल॥
भूरुह भूरि भरे जनु छबि-अनुराग-सभाग।
बन बिलोकि लघु लागहिं बिपुल बिबुध-बन बाग॥
जाइ न बरनि राम बन, चितवत चित हरि लेत।
ललित-लता-द्रुम-संकुल मनहु मनोज निकेत॥
सरित-सरनि सरसीरुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुप बन, कूजत बिबिध बिहंग॥
लषन कहेउ रघुनंदन देखिय बिपिन-समाज।
मानहु चयन मयनपुर आयउ प्रिय ऋतुराज॥
चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखासहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु॥
झिल्लि झाँझ, झरना डफ नव मृदंग निसान।
भेरि उपंग भृंग रव, ताल कीर, कलगान॥
हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहु नारिनर मुदित नगर चहुँ ओर॥
चित्र-बिचित्र बिबिध मृग डोलत डोंगर डाँग।
जनु पुरबीथिन बिहरत छैल सँवारे स्वांग॥
नाचहिं मोर, पिक गावहिं, सुर बर राग बँधान।
निलज तरुन तरुनी जनु खेलहिं समय समान॥
भरि भरि सुंड करिनि करि जहँ-तहँ डारहिं बारि।
भरत परसपर पिचकनि मनहु मुदित नर-नारि॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहि डार।
जनु मुँह लाइ गेरु मसि भए खरनि असवार॥
लिए पराग सुमन रस डोलत मलय-समीर।
मनहु अरगजा छिरकत, भरत गुलाल अबीर॥
काम कौतुकी यहि बिधि प्रभुहित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिनाथहि जग बिजयी बर दीन्ह॥

दुखवहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
'भलेहि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ॥
मुदित किरात-किरातिनि रघुबर रूप निहारि।
प्रभु गुन गावत नाचत चले जोहारि-जोहारि॥
देहिं असीस, प्रसंसहिं मुनि, सुर बरषहिं फूल।
गवने भवन राखि उर मूरति मंगलमूल॥
चित्रकूट-कानन-छबि को कबि बरनै पार।
जहँ सिय लषन सहित नित रघुबर करहिं बिहार॥
तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम-गुन ग्राम।
गावहिं, सुनहिं नारि नर पावहिं सब अभिराम॥

मयूर मेघ को विष्णु-भक्त के रूप में देखता है। किन्तु वे "डरपत मन मोरा", "घन घमंड नभ गरजत घोरा" कहकर मेघ में दोष-दर्शन का संकेत देते हैं। प्रभु कहते हैं—मुझे तो यह मेघ घमण्डी प्रतीत होता है जो गर्जना के द्वारा दूसरों को भयभीत करना चाहता है। यहाँ भी प्रभु का तात्पर्य यही था कि सुख और दुःख की भाँति गुण और दोष में भी व्यक्ति की अपनी ही मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

महावृष्टि चलि फूटि किआरीं।
जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं ॥

अर्थ—भारी वर्षा से खेतों की क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतन्त्र होने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं।

नारी-स्वातन्त्र्य के इस युग में इस प्रकार की पंक्तियों के प्रति नारी-जाति के मन में आक्रोश का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसके लिए गोस्वामीजी को अनेक कटु उपाधियों से विभूषित किया गया है। उन्हें रूढ़िवादी, प्रतिक्रियावादी, नारिनिंदक-जैसे शब्दों के साथ स्मरण किया जाता है। किन्तु पंक्ति के अर्थ का शान्त चित्त से विचार करने पर इस प्रकार की उपाधियाँ युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होती हैं।

किसान की सारी कृषि और अर्थ-व्यवस्था का आधार जल की वर्षा है। किन्तु वर्षा का अतिरेक भी अनेक समस्याओं को जन्म देता है। कृषि-विद्या का ज्ञान होने पर ही किसान खेती से लाभ प्राप्त कर सकता है। वह यह जानता है कि वर्षा के जल का कैसे उपयोग किया जाये जिससे वह बीज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। जहाँ वर्षा के अभाव में अन्न अंकुरित नहीं होता वहीं वर्षा का पूरा जल यदि खेत में ही एकत्र हो जाये तो वह बीजों को सड़ाकर विनष्ट कर देता है। इसके लिए वह खेत में नालियाँ बनाता है जिससे अपेक्षित मार्ग से जल बहता हुआ सारे बीजों के अंकुरित होने में सहयोगी बने; साथ ही अनावश्यक जल खेत

से बाहर निकाला जा सके। गार्हस्थ जीवन की समस्याएँ भी कुछ इसी प्रकार की हैं।

सामाजिक संगठन में संयुक्त परिवार कृषि-भूमि की भाँति है। जिसमें सारे परिवार को अंकुरित, पल्लवित और फलित होना है। शासक की तुलना बुद्धिमान किसान से की जा सकती है। जो मर्यादा के रूप में नालियों का निर्माण करता है। समतल भूमि में नाली का निर्माण करते हुए विषमता की सृष्टि की जाती है। किन्तु इस विषमता का उद्देश्य भी समता ही है। नाली के माध्यम से सारे खेत को समान रूप से जल प्राप्त होता है। परिवार में भी नर यदि समतल भूमि के समान है तो नारी उससे भिन्न क्यारी के सदृश है। वितरण की सारी व्यवस्था का भार उसी पर होता है। साधारण वर्षा में बहुधा क्यारियों के फूटने का भय नहीं होता, पर वर्षा के अतिरेक में यह भय बना रहता है कि क्यारी फूट न जाये। वैभव और सुख-सामग्री की तुलना वर्षा से की जा सकती है। परिवार और समाज के अभ्युत्थान के लिए इनकी उपलब्धि और समान वितरण की व्यवस्था आवश्यक है। क्यारी के फूटते ही जल किसी एक भाग में अधिक संगृहीत हो जाता है, और इससे कृषि-बीज विनष्ट हो जाते हैं। ठीक इसी तरह जब नारी भी अपने और पराये में भेद करती हुई अपनों के प्रति पक्षपात का प्रदर्शन करती है और अधिक-से-अधिक वैभव और भोगों को अपनी दिशा में प्रवाहित करना चाहती है तब वह परिवार में फूट की सृष्टि करती है। इसलिए क्यारी की ही भाँति नारी का भी मर्यादित रहना अत्यधिक आवश्यक है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि नारी के स्वातन्त्र्य को ही निन्दा की दृष्टि से क्यों देखा जाता है ? इसका सम्बन्ध नारी-विद्वेष से जोड़ना आक्रोश की मनोवृत्ति को प्रकट करता है। इसका सीधा सम्बन्ध सामाजिक रचना-प्रणाली से है। पुरुष जहाँ बाह्य व्यवस्था को सँभालता है वहाँ उसके क्रिया-कलाप का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो यह सर्वथा स्वाभाविक है। इसीलिए उसकी तुलना खेत की समतल भूमि से की गई है। भूमि के फैलाव की तुलना में क्यारी सिमटी हुई सी प्रतीत होती है किन्तु फैलाव और संकोच एक-दूसरे के पूरक हैं। प्राचीन काल में पुरुष का कार्यक्षेत्र बड़ा विशाल था। नारी पारिवारिक व्यवस्था के रूप में अधिक मर्यादित रहने के लिए बाध्य थी। ऐसी स्थिति में उसका आचरण यदि सर्वथा पुरुष की ही भाँति हो तो यह सामाजिक व्यवस्था को विनष्ट करने वाला सिद्ध होगा। अतः नारी-स्वातन्त्र्य का परिसीमन स्वाभाविक था। नर और नारी की दृष्टि से विचार करने के कारण इसमें एक अस्वाभाविक उत्तेजना से प्रेरित होकर चिन्तन किया जाता है। सामाजिक व्यवस्था में ऐसी अनेक असङ्गतियाँ होती हैं जो तर्क की दृष्टि से असङ्गत प्रतीत होने पर भी व्यवस्था की बाध्यताओं के कारण

स्वीकार की जाती हैं। ऐसी विषमता कार्यक्षेत्र की दृष्टि से पुरुषों में भी पाई जाती है। जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले सभी पुरुष क्या स्वतन्त्रता का समान उपभोग करते हुए देखे जाते हैं ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि ऐसा होना कभी सम्भव ही नहीं है। कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जहाँ नियमित कार्य के घंटों के बाद व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाता है। वहीं चिकित्सा और प्रशासन के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ व्यक्ति को इस प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित रहना पड़ता है। साम्य के आधार पर यदि ऐसी माँग की जाये तो वह युक्तिसंगत होते हुए भी स्वीकारणीय नहीं होगी। राजतन्त्र, जनतन्त्र, समाजवादीतन्त्र कोई इस प्रकार की समान स्वतन्त्रता का आश्वासन नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति में नर और नारी की समान स्वतन्त्रता की बात कहना व्यवहार के स्थान पर भावुकता से प्रेरित प्रतीत होती है। प्रकृति ने नर और नारी के शरीर की रचना में जो भेद किया है उसके लिए क्या प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा जा सकता है ? गर्भ-धारण की जो बाध्यता नारी के साथ है पुरुष उससे पूरी तरह स्वतन्त्र है। गर्भ-धारण के पश्चात् नारी को स्वभावतः बाध्यताओं से घिर जाना पड़ता है। वह चाहकर भी उस समय पुरुष के समान आचरण नहीं कर सकती। सन्तान के लिए वह अपनी स्वतंत्रता को स्वयं ही सीमित कर लेती है। अनेक कष्ट उठाती है। उसके इस त्याग के कारण ही पुत्र की दृष्टि में माता का स्थान पिता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। मानस में भी यही मान्यता स्वीकार की गयी है :

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौं जनि जाहु जानि बड़ि माता।।

परतन्त्रता किसी को प्रिय नहीं लगती, इसीलिए नारी के मन में उसके प्रति आक्रोश को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। नारी की इस मनोवृत्ति को गोस्वामीजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है।

शिव और उमा का विवाह सम्पन्न हो जाने के पश्चात् विदा की वेला में मैना व्याकुलता से विह्वल हो जाती हैं। उन क्षणों में नारी की व्यथा इन शब्दों में फूट पड़ती है—ब्रह्मा ने संसार में नारी का निर्माण क्यों किया ? पराधीनता में स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता है :

कतबिधि सृजीं नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।

यह व्यथा सर्वथा असाधारण है। क्योंकि यह मनोभाव किसी साधारण महिला के प्रसङ्ग में प्रकट नहीं किया गया है। मैना पतिप्राणा हैं, वे स्वयं अपनी पुत्री को

पातिव्रत धर्म का उपदेश देती हैं। किन्तु नारी की बाध्यता उन्हें भी खटकती है। पर वे इसके लिए पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा को उलाहना देती हैं। वे इस सत्य को समझती हैं कि स्रष्टा ने निर्माण के क्षणों में ही नारी-शरीर की रचना कुछ इस प्रकार से की है कि वह परतन्त्रता स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाती है।

किन्तु यह मनोभाव क्षणिक रूप में ही सामने आता है। अन्ततोगत्वा नारी को जिस परिस्थिति में रहना है यदि वह प्रतिक्षण उसके लिए झींखती रहे तो उसके साथ-साथ पुरुष का जीवन भी भार बन जायेगा। परतन्त्रता असह्य तब होती है जब वह किसी अन्य के द्वारा लादी जाती है। यदि पुरुष प्रतिक्षण स्वामित्व का दावा करे तो संघर्ष अनिवार्य हो जायेगा। असीम स्वातन्त्र्य न तो पुरुष को प्राप्त है न नारी को। सारे जीव ही परतन्त्रताओं से घिरे हुए हैं। जीव की परिभाषा ही परतन्त्र कहकर की गई है। ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र :

परबस जीव स्वबस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता॥

ऐसी स्थिति में नर और नारी दोनों ही परतन्त्रताओं से घिरे हुए हैं। मात्रा की दृष्टि से ही दोनों में भेद किया जा सकता है। इस परतन्त्रता से मुक्ति के दो ही मार्ग हैं—ज्ञान अथवा भक्ति। नर और नारी में ही लिङ्ग-भेद है। जीव न तो पुरुष है न नारी। जब तक व्यक्ति स्वयं को शरीर मानता है तब तक वह परतन्त्रताओं से कभी मुक्त नहीं हो सकता। सबसे बड़ी परतन्त्रता तो शरीर की ही है। वेदान्त की यह स्पष्ट मान्यता है कि ज्ञान होते ही व्यक्ति ब्रह्म से एकत्व का अनुभव करता है। उस समय वह न तो स्त्री रह जाता है न पुरुष। भारतीय वाङ्मय में अनेक ऐसी महिलाएँ हैं जो जीवन-मुक्त के रूप में स्वीकार की गई हैं। मैत्रेयी, मदालसा, कहोला इसी श्रृङ्खला की कड़ी हैं।

"जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं" कहते समय प्रभु के अन्तर्मन में शूर्पणखा का व्यक्तित्व अवश्य आया होगा। सारे संघर्ष के मूल में शूर्पणखा का स्वातन्त्र्य ही तो था। रावण भी उसी दर्शन का आधार लेकर मैथिली को रेखा लाँघने की प्रेरणा देता है। लक्ष्मण के द्वारा खींची गई रेखा में ही नारी-पारतन्त्र्य का सच्चा अर्थ परिलक्षित होता है। लक्ष्मण की रेखा आज्ञामूलक न होकर अनुरोधमूलक थी। इसीलिए उस रेखा को अपनी ओर से लाँघने में वैदेही स्वतन्त्र थीं। पर रेखा के इस स्वेच्छया उल्लंघन में जो भय था वह रावण के रूप में सामने आ गया। मानस में इस रेखा का केवल साङ्केतिक वर्णन प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि रावण उस रेखा को लाँघने में समर्थ नहीं था। मन्दोदरी ने रावण को फटकारते हुए स्मरण दिलाया कि वह वीरता की इतनी डींग हाँकता है पर लक्ष्मण

द्वारा खींची गई रेखा को लाँघने में वह असमर्थ हो गया :

रामानुज लघु रेख खँचाई।
तब नहिं नाँघेउ अस मनुसाई।।

रावण ने जब जनकनन्दिनी को रेखा के पीछे खड़े देखा तो उसने अवश्य स्वातन्त्र्य की महिमा गाते हुए रेखा को लाँघकर बाहर आने की प्रेरणा दी होगी। रावण के वाक्यों से प्रभावित होने का परिणाम यह हुआ कि जो परतन्त्रता स्व-स्वीकृत थी वह यथार्थ में परिणत होकर स्थूल सत्य के रूप में सामने आ गई। परतन्त्रता दुःखदायी है पर स्वतन्त्रता का व्यामोह कभी-कभी परतन्त्रता से भी अधिक दुःखदायी सिद्ध होता है। मानस में नारी-स्वातन्त्र्य की आलोचना इसी अर्थ में है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥

अर्थ—नदी और तालाबों का जल धीरे-धीरे सूख रहा है। जैसे ज्ञानी (विवेकी) पुरुष ममता का त्याग करते हैं।

वैसे तो किसी भी दुर्गुण का परित्याग सरल नहीं है। पर ममता का परित्याग सर्वाधिक कठिन है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। इसके पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हैं। कुछ दुर्गुण ऐसे हैं जो व्यक्ति को दुःखद तो प्रतीत होते हैं परन्तु अभ्यास के कारण उन्हें छोड़ पाना कठिन हो जाता है। दृष्टान्त के रूप में क्रोध को लिया जा सकता है। क्रोध में किसी प्रकार आनन्द की अनुभूति नहीं होती है, पर असन्तुलित मस्तिष्क के कारण व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण खो बैठता है और उसे क्रोध आ जाता है। किन्तु यही बात लोभ और काम के विषय में नहीं कही जा सकती। लोभ के साथ ऐसी अनेक बातें जुड़ी हुई हैं जो उसे आकर्षक बना देती हैं। अरण्यकाण्ड में प्रभु के द्वारा त्रिविध दोषों का जो वर्णन किया गया है उसमें इसका एक मार्मिक संकेत प्राप्त होता है। प्रभु ने इन तीनों दुर्गुणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"लोभ को इच्छा और दम्भ का बल प्राप्त है, काम केवल नारी के आश्रय से सफलता प्राप्त करना चाहता है, क्रोध का बल कठोर वचन है।"

लोभ कें इच्छा दम्भ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥

क्रोध कठोर वाणी के माध्यम से प्रकट होता है, इसलिए उसकी कुरूपता सामने आ जाती है। किन्तु लोभ दम्भ के आश्रय से आता है और दम्भ का अपना आकर्षण होता है। दम्भ स्वयं को सर्वदा आदर्श रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास करता है। लोभ के द्वारा यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है कि अर्थ के अभाव में सारी धार्मिक व्यवस्था का आधार ही नष्ट हो जायेगा। ऐसी स्थिति में लोभ का परित्याग करने की इच्छा सरलता से नहीं आती है। इसी तरह काम में नारी के सौन्दर्य का आकर्षण विद्यमान है। उससे मुक्त हो पाना सरल नहीं है। ठीक यही बात ममता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

मानस-रोगों का विश्लेषण करते हुए ममता की तुलना दद्रु से की गयी है :

ममता दद्रु कंडु इरिषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥

दद्रु रोग की यह विलक्षणता है कि वह व्यक्ति की अँगुलियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और उसे खुजलाने में बड़े सुखद आनन्द की अनुभूति होती है। व्यक्ति स्वयं को रोक नहीं पाता। बाद में भले ही उसकी जलन दुःखदायी रूप में सामने आये। एक दूसरे प्रसङ्ग में ममता को अंधकार-भरी रात्रि बताया गया है :

ममता तरुण तमी अँधिआरी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥

रात्रि भी व्यक्ति को विश्रामदायिनी प्रतीत होती है। दिन-भर की थकान के बाद व्यक्ति यह सोचकर प्रसन्न होता है कि रात्रि में उसे सुखद विश्राम की उपलब्धि होगी। ममता करने वाला व्यक्ति भी यही सोचता है कि जब मैं असमर्थ और वृद्ध हो जाऊँगा तो हमारे प्रियजन हमें विश्राम देंगे। ऐसी स्थिति में ममता के त्याग की प्रेरणा मनुष्य के अन्तःकरण में बड़ी कठिनाई से आती है। एक वार विवेक से ममता की बुराई समझ लेने पर भी उसके त्याग की प्रक्रिया सरल नहीं है। ममता के त्याग की सही प्रक्रिया क्या है इसी का वर्णन प्रभु ने उपर्युक्त पंक्ति में किया है।

वर्षा में सरिता और सरोवरों में जल की बाढ़ आ जाती है। चारों ओर से एकत्र होने वाला जल मानों अन्तःकरण में सम्बन्धों के आधार पर निरन्तर बढ़ते जाने जाने वाले ममत्व का प्रतीक है। बाढ़ के इस जल में मलिनता होती

है। जहाँ ममता है वहाँ स्वच्छता हो भी कैसे सकती है। शरद ऋतु में जल की मलिनता दूर होने लगती है। जहाँ बारहों मास वासना और वैभव का जल एकत्र हो रहा है वहाँ तो मलिनता सार्वकालिक है। पर जहाँ अज्ञान के बादल छँटे और विवेक-सूर्य का उदयीकरण हुआ, ममता का जल धीरे-धीरे घटना प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य की किरणों के द्वारा जल को सुखाने की प्रक्रिया बड़ी कलात्मक है। सूर्य की किरणें जल को कब और कैसे सुखाती हैं इसे कोई नहीं देख पाता। यदि नदी का जल उलीचकर सुखाने का प्रयास किया जाये तो यह कठिन कार्य तो होगा ही साथ ही जल की मलिनता भी बढ़ती ही जायेगी। जल उलीचते देखकर अनेक लोग अवरोध के लिए भी एकत्र हो सकते हैं। ममता के त्याग में भी यही स्थिति है। ममता का परित्याग प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। जहाँ निकटस्थ सम्बन्धियों को यह ज्ञात हुआ कि यह ममता का परित्याग करने जा रहा है वहाँ अवरोध उपस्थित करने के लिए उनका एकत्र होना स्वाभाविक है। प्रदर्शन में दूसरा विघ्न है 'ममता' के स्थान पर 'अहंता' की स्थापना। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो ममतारहित व्यक्ति की सराहना करते हैं। उस प्रशंसा के द्वारा होने वाला अभिमान ममता से कम घातक नहीं है।

ममता और अहंता दोनों ही त्याज्य दुर्गुण हैं किन्तु व्यक्ति जहाँ अहंता के त्याग को अधिक महत्त्व देता है वहाँ ज्ञानी ममता को सर्वाधिक त्याज्य स्वीकार करता है। भक्त की यह मान्यता है कि ईश्वर और अहंकार दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं। इसलिए अहंता का परित्याग कर ममता को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिया जाना चाहिए। ज्ञानी अहंकार का विरोध नहीं करता है, वह व्यष्टि अहंकार की निन्दा तो अवश्य करता है पर पूर्ण 'मैं' उसकी साधना का केन्द्र है। "सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा" की अर्धाली में ब्रह्म और अहं के एकत्व-बोध को सर्वश्रेष्ठ स्थिति के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु ममता और ज्ञान सर्वथा एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसीलिए भगवान् राम ने समुद्र-ताड़ना-प्रसङ्ग में जिन बातों की व्यर्थता का उल्लेख किया है उनमें से एक "ममता रत" भी है। प्रभु ने कहा—दुष्ट से विनय, कुटिल से प्रीति, सहज कृपण से नीति, ममता से आसक्त व्यक्ति को ज्ञान-कथा, अत्यन्त लोभी से वैराग्य, क्रोधी से समता और कामी को हरि-कथा सुनाना ऊसर में बीज डालने के समान व्यर्थ है :

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।
सहज कृपन सन सुंदर नीती॥
ममता रत सन ग्यान कहानी।
अति लोभी सन बिरति बखानी॥

क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा।
ऊसर बीज बएँ फल जथा॥

ज्ञान सृष्टि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करता है उधर ममता मिथ्यात्व के आधार पर टिक ही नहीं सकती है। ममता में आसक्त व्यक्ति को दिखायी देने वाली सृष्टि और सम्बन्ध ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इसलिए या तो ममतारत व्यक्ति ज्ञान-कथा से दूर भागेगा अथवा ज्ञान-कथा के माध्यम से ममता ही विनष्ट हो जायेगी।

ममता की विलक्षणता यह है कि वह तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को महत्त्वपूर्ण बना देती है।

परशुराम-प्रसङ्ग में श्रीलक्ष्मण ने परशुराम की ममता पर बड़ा ही तीक्ष्ण व्यंग्य किया था। बाह्य दृष्टि से परशुराम के जीवन में ममता का कोई कारण नहीं था। माता और पिता की मृत्यु हो चुकी थी। भगवान् परशुराम ने ब्रह्म-चर्य व्रत लेकर पत्नी और परिवार के प्रश्न से मुक्ति पा ली थी। सारे राजाओं का वध करने के बाद उपलब्ध भूमि का स्वामित्व भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया था अपितु उसे भी ब्राह्मणों को दान में दे दिया। ऐसे व्यक्ति में ममता हो सकती है इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। पर धनुर्भङ्ग से कुपित परशुराम से श्रीलक्ष्मण ने पूछा—बाल्यावस्था में क्रीड़ा करते हुए हम लोगों ने अनेक नन्हे धनु तोड़ दिये तब आपको क्रोध नहीं आया पर इस धनुर्भङ्ग से आपको जो कष्ट हुआ वह स्पष्ट करता है कि आपकी इस धनुष पर ममता है। पर इस ममता का कारण हम लोग नहीं समझ पाये अतः आप इसे बताने का कष्ट करें :

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू।
सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥

किन्तु परशुराम की दृष्टि मूल प्रश्न से हटकर धनुही और धनु की समानता पर चली गयी। वस्तुतः सारे संसार में परशुराम अत्यन्त निर्मम के रूप में प्रसिद्ध थे। इसीलिए अगणित राजाओं को विनष्ट करने में उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। किन्तु उन्होंने पुरातन परित्यक्त धनु से ममता को जोड़ रखा था और यही ममता उनके क्रोध और दुःख का कारण बन जाती है। बाद में परशुराम ने अपना धनुष भी राम को अर्पित कर दिया और धनुष ने भी स्वतः परशुराम का परि-

त्याग कर मानों उन्हें इस सत्य की सूचना दे दी—अच्छा ही हुआ कि उचित अवसर पर आपके अन्तःकरण में समर्पण का संकल्प जाग्रत हुआ। हमें तो प्रभु के कर-कमलों में पहुँचना ही था। यदि समर्पण के संकल्प के पहले आपको हम छोड़ कर चले जाते तो आपको यह सोचकर महान् कष्ट होता कि मेरे धनुष ने ही मेरा परित्याग कर दिया। किन्तु इस समय आप यह सोचकर प्रसन्न हो सकते हैं कि मैंने स्वतः इसे अर्पित कर दिया।

ममतायुक्त व्यक्ति भी उचित अवसर पर आसक्ति का त्याग कर त्याग अथवा समर्पण का सुख पा सकता है, नहीं तो अन्त में वह जिन व्यक्तियों और वस्तुओं से ममता करता है वे ही उसका परित्याग कर देते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी भी मन से अवसर का लाभ उठाने का अनुरोध करते हैं। वे कहते हैं—अन्तमें तो सभी तेरा परित्याग कर ही देंगे तू पहले ही इसे क्यों नहीं कर डालता :

मन पछितैहें अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते ॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते ॥
सुत-बनतादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहि तजेंगे पामर! तू न तजै अबही ते ॥
अब नाथहि अनुराग जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै कि काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते ॥

परशुराम के प्रसङ्ग से यह भी सिद्ध हो जाता है कि सारी पृथ्वी का त्याग व्यक्ति सरलता से कर सकता है किन्तु ममता का त्याग सर्वाधिक कठिन है। श्री-लक्ष्मण के व्यक्तित्व में ममता का अत्यन्ताभाव है। इसीलिए उन्हें परशुराम की ममता पर आलोचना करने का अधिकार था किन्तु जब रावण जैसा कोई व्यक्ति दूसरों की ममता को विनष्ट करने की बात करता है तब वह उपहासास्पद बन जाता है।

अपनी सभा में जब वह आञ्जनेय की पूंछ जलाने का आदेश देता है तब वह कटाक्ष करता है कि यह बन्दर बड़ा ज्ञानी बनता है, मुझे ममता छोड़ने का उपदेश देता है। क्यों न इसके ममता के केन्द्र को विनष्ट कर इसकी परीक्षा ले ली जाये :

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ॥

हनुमानजी सच्चे ज्ञानी थे, वहाँ ममता थी ही कहाँ जो जलती! जहाँ वास्तविक ममता थी उस लङ्का को ही अग्नि ने विनष्ट कर दिया।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

अर्थ—राज्य, कोष, नगर और स्त्री पाकर सुग्रीव ने भी मेरी सुधि भुला दी। जिस बाण से मैंने वालि का वध किया है उसी बाण से कल उस मूर्ख का भी वध कर डालूंगा।

वर्षा ऋतु के पश्चात् शरद ऋतु का आगमन हुआ। प्रभु व्यग्रतापूर्वक सुग्रीव के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। किन्तु सुग्रीव को प्रभु के सन्निकट आने की स्मृति नहीं आई। अचानक प्रभु की मुख-मुद्रा पर रोष के चिह्न परिलक्षित हुए। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि सुग्रीव मैथिली की पुनर्प्राप्ति में सहयोग देंगे। उस दिन की स्मृति भुलाई नहीं जा सकती जिस दिन सुग्रीव ने बड़े उत्साह-भरे स्वर में कहा था कि मैं हर प्रकार से सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ जिससे जनकनन्दिनी आपको उपलब्ध हो सकें :

सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।
जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

"जानकी आई" का अभिप्राय यह है कि आपको उन्हें पाने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ेगा अपितु वे ही आकर आपसे मिल जायेंगी। किन्तु कैसी विडम्बना है, मैथिली का मिलना तो दूर उनका समाचार तक प्राप्त नहीं हुआ। प्रभु को

यह दृढ़ निश्चय था कि एक बार सुधि प्राप्त होने के वाद यदि वे काल के द्वारा बन्दी होंगी तो भी उन्हें जीतकर छुड़ा लाऊँगा। फिर लक्ष्मण-जैसे भाई के होते हुए उन्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। उन्हें विश्वास था कि सीता कहीं भी क्यों न हों यदि वे जीवित हैं तो अकेले लक्ष्मण ही उन्हें लौटा लाने में समर्थ हैं। किन्तु उन्हें आश्चर्य तो हो रहा था सुग्रीव के व्यवहार पर। वह व्यक्ति जो पत्नी, राज्य, परिवार से दूर संत्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा था, जो एक दिन सब-कुछ छोड़कर भजन करने की बात करता था, राज्य, कोष और पत्नी पाकर कितना बदल गया। आज उसे मेरी स्मृति भी नहीं आ रही है पर शायद वह भूल गया कि जिस बाण के द्वारा बालि का वध हुआ था, वह बाण आज भी मेरे पास विद्यमान है। "जिस बाण से बालि मारा गया था कल उसी बाण से मैं उस मूर्ख सुग्रीव का वध करूँगा।"

बरषा गत निर्मल रितु आई।
सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं।
कालहु जीति निमिष महुँ आनौं॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई।
तात जतन करि आनउँ सोइ॥
सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

करुणा और कोप परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी कितने एक हैं इसका परिचय प्रस्तुत प्रसंग में प्राप्त होता है। प्रारम्भ में जो कोप की पराकाष्ठा के रूप में प्रतीत हो रही थी वही अन्त में करुणा की सीमा के रूप में दिखाई देने लगी।

राघव ने प्रारम्भ में लक्ष्मण से जो वाक्य कहे उसमें मनुष्य के सहज स्वभाव का चित्र सामने आता है। जब भी हम किसी के प्रति उपकार करते हैं, बदले में प्रतिदान की आशा होती ही है। और जब किसी की ओर से अपेक्षित व्यवहार नहीं प्राप्त होता तब उसके प्रति क्रोध का उदय होता है। यहाँ प्रभु जिन तीनों के नाम का स्मरण करते हैं वे हैं—श्रीलक्ष्मण, सुग्रीव और बालि। लक्ष्मण को सम्बोधित करने का तात्पर्य था, सुग्रीव का अपराध वैसे भी गुरुतर था पर लक्ष्मण-जैसे भाई को पृष्ठभूमि में रखकर विचार करने पर यह और भी अक्षम्य प्रतीत होने

लगता है। सुग्रीव राज, कोष, पुर और नारी पाकर प्रभु को भुला देता है जब कि लक्ष्मण इन सबको छोड़कर रामभद्र की सेवा में संलग्न हैं। सुग्रीव से वे केवल इतनी ही आशा रखते हैं कि वह सीता की सुधि ला दें। शेष कार्य अकेले लक्ष्मण ही पूरा कर लेंगे। यह उनका दृढ़ निश्चय है। सौमित्र के प्रति उनकी यह आस्था सर्वदा एकरस है। समुद्र-तट पर विभीषण के प्रति संशयग्रस्त सुग्रीव से भी प्रभु अपने इसी विश्वास की खुली घोषणा करते हैं। विश्व में जितने निशाचर हैं अकेले लक्ष्मण उनका वध करने में समर्थ हैं। इसलिए यदि रावण ने विभीषण को भेद लेने के लिए भेजा हो तो भी भय की कोई आवश्यकता नहीं है :

भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा।।
जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते।।

ऐसे अवसर पर प्रभु को बालि-वध की स्मृति हो आती है। सुग्रीव के प्रति मैत्री-धर्म का पालन करते हुए श्रीराम ने बालि का वध ही नहीं किया अपितु ऐसा कलंक ले लिया जो अमिट है। विनयपत्रिका में इसे गोस्वामीजी "हत्यो बालि सहि गारी" कहकर याद करते हैं। बदले में सुग्रीव ने उन्हें पूरी तरह भुला दिया। ऐसी स्थिति में उन्हें लगता है कि यदि धर्म के विपरीत आचरण करने के कारण मैंने बालि को दण्डित करने में संकोच का अनुभव नहीं किया तो न्यायतः सुग्रीव ने भी मैत्री-धर्म का अनादर करके स्वयं को उसी श्रेणी में ला दिया। सुग्रीव और बालि दोनों के प्रसंग में प्रभु ने चार-चार का स्मरण किया।

सुग्रीव से उन्होंने कहा—

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी।
कपटी मित्र सूल सम चारी।।

बालि से भी प्रभु ने चार अपराधियों की समान श्रेणी का उल्लेख किया :

अनुज बधू भगिनी सुत नारी।
सुनु सठ कन्या सम ए चारी।।

यदि बालि चार के दूसरे वर्ग में सम्मिलित है तो सुग्रीव भी चार के प्रथम वर्ग में आते हैं। अतः जिस बाण से बालि को दंडित किया गया था यदि उसी बाण से सुग्रीव का वध भी किया जाए तो यह न्याय-परम्परा के अनुकूल होगा। ऐसे क्षणों में प्रभु को बालि के वाक्यों का स्मरण आया होगा जिसमें उसने प्रश्न किया

था कि सुग्रीव के प्रति प्रेम और मेरे प्रति वैर का क्या कारण है ? आप तो सम ईश्वर हैं :

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।।

सुग्रीव को उसी बाण से दंड दिये जाने पर बालि को भी सन्तोष होगा कि दोनों के प्रति मैंने समता का व्यवहार किया। प्रभु ने बालि और सुग्रीव दोनों के लिए ही 'मूढ़' शब्द का प्रयोग किया :

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करसि न काना।।

सुग्रीव को भी वे यही उपाधि प्रदान करते हैं 'तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली'। अपितु बालि की तुलना में सुग्रीव इस उपाधि का और भी बड़ा अधिकारी है। क्योंकि यदि बालि ने पत्नी के उपदेश की अवहेलना कर मूर्खता का परिचय दिया तो सुग्रीव ने साक्षात् भगवान् राम के उपदेशों को भुला दिया। बालि ने सुग्रीव को शरणागत समझकर भी उपेक्षा के इस अपराध के लिए उसे 'अधम अभिमानी' का विशेषण दिया :

मम भुजबल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी।।

बालि की अपेक्षा सुग्रीव को रघुवीर के बाहुबल का अधिक परिचय प्राप्त हो चुका है। यदि इसके बाद भी वह प्रभु को भुला देता है तो उसे किस श्रेणी में रखा जाना चाहिए। प्रत्येक दृष्टि से सुग्रीव का अपराध बालि की अपेक्षा अधिक गुरुतर था। फिर कृतघ्नता के रूप में एक और महान् अपराध वह कर रहा है। शास्त्रों ने कृतघ्नता को सबसे बड़ा पाप माना है। कहते हैं कृतघ्नता के पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। बात समझ में आने योग्य है। अपनी त्रुटि का भान होने पर ही व्यक्ति में पाप के प्रायश्चित्त का विचार आता है। कृतघ्नता सम्वेदन-शून्यता के कारण ही आती है। अतः एक सम्वेदनशून्य व्यक्ति मन में उस ग्लानि का अनुभव ही नहीं कर सकता है जो पाप के प्रायश्चित्त का प्रथम सोपान है।

सुग्रीव उस कृतघ्नता-रूप पाप का अपराधी सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में उसके प्रति कौन-सा व्यवहार किया जाना चाहिए ? मृत्युदण्ड को छोड़कर और कोई दण्ड अपराध के अनुरूप न होगा। न्याय की दृष्टि से प्रभु का निर्णय सर्वथा उपयुक्त था। लक्ष्मण इसे सुनकर प्रसन्न हुए हों, यह स्वाभाविक था। रामभद्र

की अतिशय उदारता उन्हें प्रिय नहीं लगती क्योंकि उन्हें प्रतीत होता है कि इस औदार्य का वे लोग अनुचित लाभ उठाते हैं जो इसके पात्र नहीं हैं। करुणा व्यक्ति को निश्चिन्त बना देती है, और व्यक्ति को यदि यह ज्ञात हो जाये कि उसे वड़े-से-वड़े अपराध के लिए क्षमा प्राप्त हो जाएगी तब वह निर्भय होकर अपराध करेगा, ऐसा लक्ष्मण का सुदृढ़ विश्वास था। वे किसी भी ओर से किये गए अनौचित्यपूर्ण व्यवहार को अक्षम्य मानते हैं। इसलिए वे महाराज श्री-दशरथ की आलोचना करने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते।

श्रीलक्ष्मण प्रभु की न्याययुक्त घोषणा से चाहे जितने प्रसन्न हुए हों पर वे उस छिपे हुए द्वार को देख रहे थे जो लगता है अपराधी के निकल भागने के लिए खुला छोड़ दिया गया था। वह द्वार 'कल' शब्द के रूप में खुला हुआ था। सुग्रीव के लिए दण्ड देने की व्यवस्था स्वीकार करते हुए भी उसे कल पर टाल देना लक्ष्मण को प्रिय नहीं लगा। वे प्रभु के स्वभाव से पूरी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि 'कल' सुग्रीव को बचाने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। इस द्वार को बन्द करने के लिए वे आतुर हो उठे। इसीलिए उन्होंने तत्काल धनुष-बाण चढ़ाकर स्वयं को, दण्ड देने के लिए प्रस्तुत किया। मानों उनकी यह माँग थी कि सुग्रीव को दण्ड तो अवश्य दिया जाना चाहिए किन्तु यह आपके स्थान पर मेरे द्वारा सम्पन्न होना चाहिए। न्यायिक दृष्टि से भी यही उपयुक्त होगा। यदि वड़े भाई के अपराध पर आप (बड़े भाई) ने उसे दण्ड दिया तो सुग्रीव को दण्ड देने का भार लघु भ्राता के रूप में मुझे प्राप्त होना चाहिए।

प्रभु का प्रस्ताव था कि सुग्रीव को उसी बाण से दण्डित किया जायेगा जो बालि के लिए प्रयुक्त हुआ था। श्रीलक्ष्मण इससे भी असहमत प्रतीत होते हैं। एक ही बाण का बार-बार प्रयुक्त किया जाना इस बात का लक्षण माना जायेगा कि शायद संहारक बाणों के अभाव के कारण ही एक बाण बार-बार कार्य में लाया जा रहा है। फिर आपका बाण बालि के रक्त से अपनी प्यास बुझा चुका है। (अंगद के द्वारा रावण के प्रति कथित वाक्य—"तव सोनित की प्यास, तृषित राम सायक निकर") किन्तु मेरे बाण बहुत दिनों से अतृप्त हैं। इसलिए इन्हें भी तृप्ति का अवसर दिया जाना चाहिए। 'कल' शब्द से तो वह पूरी तरह असहमत थे ही। ईश्वर-द्रोही पृथ्वी का भार है, वह भार जितनी शीघ्रता से हलका कर दिया जाये उतना ही कल्याणकारी होगा। किसी भार-ग्रस्त व्यक्ति से यह कहना कि कल तुम्हारे सिर से भार उतार दिया जायेगा, उसे कैसे आश्वस्त कर सकता है? इन सभी दृष्टियों से श्रीलक्ष्मण प्रभु से आदेश पाना चाहते थे। किन्तु वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। 'कल' शब्द इतना व्यापक बन बैठा कि उसमें न्याय और दण्ड देने की वृत्ति कहाँ खो गई इसका पता कौन लगा सकता था?

'कल' भविष्यवाचक शब्द है और यह प्रतिदिन खिसक ही जाता है। 'कल' 'आज' बनकर सामने आता है और फिर भी 'कल' बना ही रहता है। जीव के औदार्य की एक सीमा होती है। किन्तु कल का स्वामी असीम औदार्य के कारण सर्वदा भविष्य की प्रतीक्षा के लिए प्रस्तुत रहता है। इसलिए जीव की निराशा का कोई कारण नहीं है। कभी बन्द न होने वाला 'कल' का द्वार उसके लिए खुला हुआ है।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

सुनु हनुमंत संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा ।।

अर्थ—हे हनुमान ! सुनो, तुम तारा को साथ ले जाकर विनती करके राजकुमार को समझाओ (समझा-बुझाकर शान्त करो)।

यद्यपि लक्ष्मण सुग्रीव के वध के लिए प्रस्तुत हो गये थे, पर प्रभु का आदेश केवल भय दिखलाकर ले आने का था :

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।।

क्रोध में भरे हुए रामानुज के आगमन का समाचार सुनकर सुग्रीव काँप उठा। वह उनके समक्ष जाने का साहस नहीं बटोर पाया। उसने आञ्जनेय से अनुरोध किया कि वे तारा को लेकर सुमित्रानन्दन के पास जायें और विनती-पूर्वक उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करें।

अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी सुग्रीव का एक ऐसा अनोखा गुण था जो उनके लिए सदा कल्याणकारी सिद्ध हुआ। सुग्रीव उपयुक्त व्यक्तियों को परखने की कला में अत्यन्त निपुण थे, उपयुक्त व्यक्ति से उचित कार्य लेने की उनकी क्षमता सराहनीय थी। लगता है मानव-स्वभाव का उन्हें पूरा परिज्ञान था। किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ और अन्त, दोनों ही स्थानों पर उनका यह गुण सामने आता है।

सर्वप्रथम भगवान् राम और लक्ष्मण को देखकर जब वे भयभीत हुए तो उन्हें परखने के लिए आञ्जनेय को भेजकर उन्होंने अपनी इस अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया और इसी के परिणामस्वरूप उन्हें प्रभु की मित्रता प्राप्त हुई। और आज भी जब संकट की घड़ी उनके सामने आयी तब उन्होंने उसे टालने के लिए एक अनोखा चुनाव किया। वे पुनः हनुमानजी को ही यह कार्य सौंपते हैं। पर उसमें एक नया परिवर्तन था कि वे अकेले न जाकर साथ में तारा को भी ले जायें। बहिरङ्ग दृष्टि से उनका यह निर्णय असङ्गत और अटपटा प्रतीत होता है। पवननन्दन और तारा में कोई ऐसी समता नहीं थी जिससे इन दोनों की संयुक्त नियुक्ति की जाती। कहाँ परम विरागी बाल ब्रह्मचारी हनुमान और कहाँ मद विह्वलाक्षी तारा। फिर जिन्हें प्रसन्न करने के लिए भेजा जा रहा था उनका वैराग्य विश्व में विख्यात था। फिर भी विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होने वाला सुग्रीव का यह निर्णय सही सिद्ध हुआ और वे अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हुए। इस निर्णय के पीछे सुग्रीव की क्या भावनाएँ थीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

जहाँ तक पवननन्दन को भेजने का प्रश्न था उसके कुछ कारण स्पष्ट हैं। उनके प्रयास से ही प्रभु से मित्रता स्थापित हुई। यहाँ तक कि आञ्जनेय के स्कन्ध पर आरूढ़ होकर ही प्रभु और लक्ष्मण पर्वत-शिखर तक पहुँचे थे। मैत्री के समय भी मध्यस्थता का कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ था। विवाह-प्रसंग में दोनों पक्षों के बीच में सेतु का कार्य करने वाला मध्यस्थ बड़े महत्त्व का होता है। दोनों पक्षों में कोई भ्रान्ति उत्पन्न होने पर उसके निवारण का कार्य मध्यस्थ को ही सौंपा जाता है। मैत्री के पावन प्रसंग में भी जहाँ श्रीलक्ष्मण की भूमिका एकपक्षीय थी और उन्होंने केवल प्रभु की कथा सुनाकर उनका पक्ष उपस्थित किया, वहाँ यह आशा की जा सकती थी कि अञ्जनीनन्दन केवल सुग्रीव की कथा सुनायेंगे इसके विपरीत उन्होंने 'उभय दिसि' (दोनों ओर) की कथा सुनाई :

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

अतः हनुमान को भेजकर सुग्रीव ने यह सिद्ध किया कि वे एक ऐसे निष्पक्ष व्यक्ति को भेज रहे हैं जिसे दोनों पक्षों के हित की चिन्ता है। फिर जहाँ तक वचन-रचना की कुशलता का सम्बन्ध है, पवननन्दन से बढ़कर कोई दूसरा पात्र मानस में नहीं है। इस तथ्य को न केवल सुग्रीव अपितु प्रभु भी स्वीकार करते हैं। इसी-लिए बन्दिनी सीता और विरह व्याकुल भरत के पास संदेश पहुँचाने का कार्य प्रभु ने केवल उन्हीं को सौंपा। वाल्मीकि रामायण के अनुसार प्रभु आञ्जनेय की भाषा सुनकर चकित रह गये। उन्हें लगा कि इतनी शुद्ध भाषा बोलने वाला कोई अन्य

व्यक्ति उन्हें नहीं मिला। लक्ष्मण से सराहना करते हुए उन्होंने यही कहा कि इस ब्रह्मचारी की भाषा आठों प्रकार के व्याकरणों की दृष्टि से शुद्ध है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वचन-विनिमय में वे शीलसिंधु रामभद्र से भी आगे हैं। अतः इन सभी दृष्टियों से सुग्रीव के द्वारा इस कार्य के लिए हनुमानजी की नियुक्ति सर्वथा युक्तियुक्त है। पर तारा एक प्रश्नचिह्न हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि नारी-जाति के प्रति लक्ष्मण के संकोच से वे परिचित हैं। सम्भवतः जब सुग्रीव को सिंहासन पर अभिषिक्त करने के लिए रामानुज नगर में आये तब पग-पग पर उनके व्यवहार में सुग्रीव ने नारी-जाति के प्रति संकोच का अनुभव कर लिया होगा। चौदह वर्षों तक प्रभु के समीप रहते हुए जिसकी दृष्टि केवल भगवती सीता के श्रीचरणों तक ही सीमित रही हो वह किसी अन्य नारी की ओर कठोर या कोमल दृष्टि डाल सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

तारा को देखकर लक्ष्मण के हृदय में करुणा का उदय होगा, ऐसा सुग्रीव का दृढ़ विश्वास था और यह विश्वास मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूरी तरह ठीक था। कुछ मास पूर्व तारा को महान् दुःख झेलना पड़ा था, जब उसे पति की मृत्यु से वैधव्य का दुःख भोगना पड़ा। प्रभु ने उस समय तारा को स्वयं श्रीमुख से उपदेश देकर उसे मानों अपनी शिष्या के रूप में स्वीकार कर लिया। उसे प्रभु के चरण-स्पर्श का सौभाग्य मिला। इतना ही नहीं वह भक्ति का वरदान पाने में भी सफल हो गई :

उपजा ग्यान चरन तब लागी।
लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

अतः प्रत्येक दृष्टि से तारा प्रभु की कृपापात्री सिद्ध हुई। तारा के पति बालि का वध सुग्रीव की प्रेरणा से ही हुआ था। ऐसी स्थिति में तारा के मन में सुग्रीव के प्रति विद्वेष होता तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसने सुग्रीव के इस अपराध को भुला दिया। उसे लगा होगा कि सुग्रीव के प्रति विद्वेष भगवान् राम के कार्यों के प्रति भी उसकी अनौचित्यपूर्ण धारणा का समर्थक सिद्ध होगा। ठीक है, बालि-वध का अनुरोध सुग्रीव की ओर से किया गया था, पर प्रभु कोई अज्ञ तो है नहीं कि सुग्रीव के भुलावे में आकर कोई ऐसा कार्य कर बैठते जो उनकी दृष्टि में युक्तियुक्त न होता। यदि श्रीराम ईश्वर हैं तो उन्होंने कुछ भी किया उसमें अन्याय और अनौचित्य का तो प्रश्न ही नहीं आता। तब सुग्रीव के प्रति विद्वेष, कौशलेन्द्र के प्रति भी अनास्था का परिचायक माना जायेगा। तारा को भेजकर सुग्रीव यह सिद्ध करना चाहते थे कि जब प्रभु के श्रीचरणों का एक

बार स्पर्श करने वाली तारा इतनी उदार हो सकती है कि मेरे इतने बड़े अपराध को क्षमा कर दे तब आप जैसा महान् भक्त जो निरन्तर प्रभु की सेवा में संलग्न है क्या मेरे अपराध को क्षमा नहीं कर सकता है ? अतः तारा के चुनाव में सुग्रीव की गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।

तारा और हनुमान एक साथ जाकर सौमित्र के श्रीचरणों को पकड़ लेते हैं। तारा को देखते ही लक्ष्मण सावधान हो जाते हैं। उनके मुख से क्रोध के चिह्न अन्तर्धान हो गये। उधर अवसर पाते ही हनुमन्तलाल ने अपनी वाणी की मधुरिमा का उपयोग प्रारम्भ किया। आञ्जनेय समस्त कलाओं के महान् पंडित हैं। संगीत कला के वे अद्वितीय ज्ञाता माने जाते हैं। कहा जाता है कि उनके समक्ष गान विद्या के सर्वश्रेष्ठ गायक गन्धर्व भी पराजित हो गये। विनयपत्रिका में हनुमन्तलाल के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए गोस्वामिपाद इस गुण का उल्लेख करना नहीं भूलते। जिस पद में इन दिव्य गुणों का स्मरण किया गया है वह इस प्रकार है :

जयति निर्भरानंद-संदोह कपि-केसरी, केसरी-सुवन भुवनैक भर्त्ता।
दिव्य भूम्यंजना-मंजुलाकार-मणे, भक्त-संतापचिंतापहर्त्ता॥
जयति धर्मार्थ-कामापवर्गद बिभो, ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी।
बचन-मानस-कर्म सत्य-धर्मव्रती, जानकीनाथ-चरणानुरागी॥
जयति बिहगेस-बलबुद्धि-बेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन ऊर्ध्वरेता।
महानाटक-निपुन, कोटि-कविकुल-तिलक, गानगुण-गर्व-गंधर्व जेता॥
जयति मंदोदरी-केश-कर्षण, विद्यमान-दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुःख-संजात रोषांतकृत-जातना जंतु कृत जातुधानी॥
जयति रामायण-श्रवण-संजात-रोमांच, लोचन सजल, शिथिल वाणी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर, पाहि, दास तुलसीशरण, शूलपाणी॥

किन्तु वे इस गायन कला का उपयोग केवल प्रभु के गुण-चरित्र सुनाने के लिए ही करते हैं। उन्हें जिस वाणी में प्रभु का नाम सुनाई नहीं देता उसे वे सर्वथा व्यर्थ मानते हैं। रावण से भी उन्होंने यही कहा :

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी॥

दूसरी ओर लक्ष्मण-जैसे रामानुरागी, जो प्रभु के गुणों को छोड़कर अन्य कुछ

सुनना ही नहीं चाहते। आञ्जनेय ने ज्यों ही भगवद्यश सुनाना प्रारम्भ किया लक्ष्मण सब-कुछ भूलकर श्रवण में तदाकार हो गये। उन्हें यह भी स्मरण नहीं रहा कि प्रभु ने भय प्रदर्शित करने के लिए भेजा है :

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

पर सत्य तो यह है कि भय दिखाने की काई आवश्यकता भी नहीं रह गयी थी। यह कार्य उनके आगमन से पूर्व रुद्रावतार हनुमान कर चुके थे। उधर प्रभु के अन्तःकरण में संकल्प आया और इधर आञ्जनेय के हृदय में तत्काल यह सूचना प्राप्त हो गई। और यह स्वाभाविक भी तो था। हनुमानजी का हृदय प्रभु की आवासस्थली है :

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

जब तक सौमित्र वहाँ चलकर पहुँचे, हनुमान सुग्रीव के पास पहुँचकर उन्हें प्रभु के भय से संत्रस्त कर चुके थे :

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा।
चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
सुनि सुग्रीवँ परम भय माना।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥

इतना ही नहीं श्रीसीता जी का पता लगाने के लिए वंदरों के समूह भेजे जा चुके थे :

अब मारुतसुत दूत समूहा।
पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥
कहहु पाख महुँ आव न जोई।
मोरें कर ताकर बध होई॥
तब हनुमंत बोलाए दूता।
सब कर करि सनमान बहूता॥
भय अरु प्रीति नीति देखराई।
चले सकल चरनन्हि सिर नाई॥

लगता है यहाँ भी आञ्जनेय ने "तैं मय प्रिय लछिमन ते दूना" को सत्य सिद्ध कर दिखाया। श्रीलक्ष्मण के लिए कोई कार्य अविशिष्ट नहीं था। फिर औपचारिकता-मात्र ही शेष थी। कपिराज सुग्रीव चरणों में नमन करते हैं और लक्ष्मण उन्हें हृदय से लगा लेते हैं।



।। श्रीरामः शरणं मम ।।

यह गुन साधन तें नहिं होई ।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।।
तब रघुपति बोले मुसुकाई ।
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।।

अर्थ—यह सारे गुण साधना से नहीं होते, वह तो आपकी कृपा से कोई-कोई ही पाता है। तब भगवान् श्रीराम ने मुस्कराकर कहा कि तुम तो मुझे भरत के समान प्रिय हो भाई।

श्रीलक्ष्मण के साथ सुग्रीव प्रभु के श्रीचरणों में आकर नमन करते हैं, और आते ही सफाई देना प्रारम्भ कर देते हैं। और वह सफाई भी अनोखे प्रकार की थी जिसका श्रीगणेश इस वाक्य से होता है कि मेरा कोई दोष नहीं है। इसके बाद वे विषयों की भीषणता का राग अलापते हैं—हे नाथ ! आपकी माया अत्यंत प्रवल है, यदि आपकी कृपा हो जाये तभी व्यक्ति उससे छूट सकता है। देवता, मनुष्य तथा मुनि भी विषयों के द्वारा वस में कर लिये गए हैं, मैं तो अत्यन्त कामी तथा नीच पशु बन्दर हूँ। स्त्री का नेत्र-रूपी बाण जिसे न लगा हो, क्रोध-रूप तमोमयी, रात्रि में भी जो जाग्रत रहता है, जिसका गला लोभ-रूप रस्सी से नहीं बाँधा गया है वह तो सर्वथा आपके समान है। किन्तु यह स्थिति साधना द्वारा उपलब्ध नहीं होती, यह तो आपकी कृपा से कुछ व्यक्तियों को ही उपलब्ध होती है :

नाइ चरन सिरु कह कर जोरी ।
नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी ।।

अतिसय प्रबल देव तव माया।
छूटइ राम करहु जौं दाया॥
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥
नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

पूरे रामचरितमानस में यह प्रसङ्ग सर्वथा अनोखा है। जिसमें क्षमा-याचना के स्वर की मुख्यता नहीं है। सुग्रीव यह भी नहीं कहते हैं कि अब आगे से ऐसी भूल नहीं करूँगा। या तो वे सारा दोष माया के माथे मढ़ देते हैं या यह कहकर कि यह गुण आपकी कृपा से प्राप्त होता है, प्रभु द्वारा कृपा न किये जाने का उलाहना देते हैं। जहाँ भक्ति-सिद्धान्त की मान्यता यह है कि भक्त गुण प्रभु का समझता है और दोष अपना, वहाँ सुग्रीव इससे भिन्न दर्शन प्रस्तुत करते हैं। पर आश्चर्य तो तब होता है जब इसे सुनकर प्रभु मुस्करा पड़ते हैं और सुग्रीव को भरत के समान प्रिय बताते हैं। वस्तुतः सुग्रीव की वाणी में प्रभु ने सख्यरस का जो आनन्द पाया वह मानस में विरले अवसरों पर ही देखने को मिलता है। भगवान् राम के अधिकांश भक्त दास्य-भावना से प्रेरित हैं। और काकभुशुण्डि ने तो यह दावा ही कर दिया कि सेवक और सेव्य-भावना के बिना कोई संसार से तर ही नहीं सकता :

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

उपासना के ग्रन्थों में पाँच प्रकार की भावनात्मक सम्बन्धानुभूति से ईश्वर की उपासना का वर्णन किया गया है। वे पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य, (५) मधुर। दास्य-भाव समस्त भावों की आधारशिला है और निरभिमानिता के कारण यह सर्वथा निरापद भाव है। दास्य-भाव कितना भी मधुर और स्वादिष्ट क्यों न हो प्रत्येक भाव का अपना एक अलग स्वाद होता है। भोजन को सुस्वादु बनाने के लिए षड्रस का प्रयोग मानवीय स्वभाव को दृष्टिगत रखकर ही किया जाता है। रस-परिवर्तन से स्वाद में वृद्धि होती है। मिठाई

और मिर्च की कड़वाहट में भले ही भिन्नता हो, मधुर के साथ तिक्त को भी रस ही स्वीकार किया गया है। कटु, अम्ल, तिक्त को भी भोजन में वही स्थान प्राप्त है जो मधुर और लवण को। एक ही रस का आस्वादन करता हुआ व्यक्ति ऊब कर प्रिय-से-प्रिय भोजन में भी विरसता का अनुभव करता है। भावना के क्षेत्र में भी यह सिद्धान्त उपयोगी है। भोजन के षड्रस की भाँति भावना का यह पंच-रस परिवर्तन के द्वारा लीला-रस में वृद्धि करता है। दास्य-भावना के द्वारा की गई स्तुति का कितना भी महत्त्व क्यों न हो, उसका अतिरेक एकरसता उत्पन्न करता है। इसलिए जब राघव के समक्ष कोई स्तुति के स्थान पर बराबरी में आ-कर छेड़छाड़ करता है तब उन्हें अत्यधिक आनन्द आता है।

वनयात्रा में केवट की अटपटी वाणी में प्रभु ने जिस परमानन्द की अनुभूति की उसका रहस्य भी यही है। आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाले सेवकों से तो वे घिरे ही रहते हैं। पर जब कोई केवट के समान 'नहीं' कहने का साहस कर पाता है तब उसका यह साहस उन्हें संतुष्ट करता है। 'नेति नेति' और 'अनिर्वचनीयता' का प्रतिपादन भले ही महिमासूचक माना जाता हो, पर प्रभु को तो उसमें कभी-कभी पुनरुक्ति दोष का सा आभास होता है। एक ही बात बार-बार दोहराई जाये तो सुनने वाले को ऊब की अनुभूति होना आवश्यक है। इसीलिए जब केवट ने 'कहइ तुम्हार मरम मैं जाना' का प्रयोग किया तो उन्हें लगा, हाँ यह हुई कोई बात, सर्वथा मौलिक और अनूठी। इसलिए गंगातट पर उन्मुक्त हास्य का जो प्रवाह प्रकट हुआ वह अयोध्या में कहाँ ?

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करूनाऐन चितइ जानकी लखन तन।।

इसीलिए विनयपत्रिका में गोस्वामीजी बताते हैं कि मुनियों के द्वारा सहज स्वरूप की कथा सुनकर वे संकोच से सिर झुकाए बैठे रहते हैं। किन्तु केवट और कपि के द्वारा 'मित्र' शब्द सुनकर उन्हें महान् सुख की अनुभूति होती है :

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई।।

सुग्रीव प्रभु के सखा हैं और वे एक मित्र की भाँति बराबरी से बात करने के अधिकारी हैं। एक बार प्रारम्भ में वे भले ही मित्र के अभिनय से भयभीत हो उठे हों पर यहाँ पहुँचकर उनका खोया हुआ साहस पुनः लौट आया। और तब उन्हें लगा कि मैं इनसे क्षमा-याचना क्यों करूँ ? मेरा इनका नाता दाता और भिखारी का तो है नहीं। स्वयं मैत्री-धर्म का वर्णन करते हुए 'देत लेत मन संक न धरई'

की बात यदि सत्य है तो मुझे निःशंक होकर वार्तालाप करने का अधिकार है। वे दार्शनिक आधार पर प्रभु से तर्क करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उनके पूछने का तात्पर्य यह है कि जीव के अन्तःकरण में भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली माया का निर्माण किसने किया है ? अतः स्वयं भ्रान्ति की सृष्टि करना और बाद में भ्रम के लिए जीव को फटकारना, कैसे युक्तिसङ्गत सिद्ध हो सकता है ? काम, क्रोध, लोभ का निर्माण यदि आपके द्वारा हुआ है तो फिर इनकी निन्दा कैसी ? और यदि आपकी बनाई हुई सृष्टि में यह विकार बलात् घुस आये और आप ही इन्हें नहीं रोक पाये तो क्या जीव आपकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है ? और यदि समर्थ होते हुए भी आप जीव की सहायता नहीं करते, तो इसके लिए किसकी आलोचना की जानी चाहिए ? तर्कों के इस तीखेपन में प्रभु को एक नये स्वाद की अनुभूति हुई। वर्षों के बाद बराबरी से बोलने वाला कोई मित्र मिला। उनके मुस्कराने का रहस्य यही था और जब उन्होंने भरत से उनकी तुलना की तब उनका तात्पर्य यह था कि जैसे भरत के सामने मैं निरुत्तर हो जाता था, मित्र ! आज तुमने भी वही कर दिखाया।

सुग्रीव ने जिस साहस का परिचय दिया उससे प्रेरणा लेकर गोस्वामीजी-जैसे दैन्य भावापन्न भक्त भी प्रभु से उलझ पड़ते हैं। सुग्रीव के इन तर्कों की छाया विनयपत्रिका के अनेक पदों में दिखाई देती है। सुग्रीव की अपेक्षा भी अधिक खुले शब्दों में वे प्रभु से उलाहना देते हुए कहते हैं—सारे संत और शास्त्र विषयों की निन्दा करते हैं। व्यक्ति भी स्वयं इसे जानता है पर इतना होते हुए भी उसके प्रति जो आकर्षण है इसके पीछे आपकी ही प्रेरणा है :

दोष निलय यह बिषय शोकप्रद कहत संत श्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरे प्रेरे॥

कभी वे काम, क्रोध, लोभ की निन्दा करते हुए कहते हैं—इन दोषों की निन्दा किससे करूँ ? क्योंकि चोर और पहरेदार सब आपके ही हाथ हैं :

समाचार साथ के अनाथ नाथ कासों कहौं।
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहारु हैं॥

गोस्वामीजी प्रभु के गुण गाते-गाते कभी उन्हें चुनौती भी दे बैठते हैं। अब तक मैं आपकी करतूत को देखता रहा पर आपने कोई ध्यान नहीं दिया। अब मैं आपका पुतला बाँधूंगा। क्योंकि मुझसे संसार का उपहास नहीं सहा जाता :

हौं अब लौ करतूति तिहारिय चितवत हुतों न रावरे चेते।
अब तुलसी पुतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एते॥

भक्ति आस्था और सम्बन्ध का मार्ग है। उसमें प्रभु केवल पूजा की वस्तु नहीं हैं। उनसे रटी-रटाई भाषा में भक्त वार्तालाप नहीं करता, उसके मन में जो भी आता है वह अपने राघव से कह देता है। और प्रभु उसे भाषा, व्याकरण या तार्किक सुसङ्गति के आधार पर नहीं सुनते। सुग्रीव जो कहते हैं उसमें सम्बन्ध का बल है। उसमें उठाये प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। साधना के द्वारा काम, क्रोध, लोभ पर विजय प्राप्त की जा सकती है या नहीं। इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, यह सभी आध्यात्मिक ग्रन्थों का मत है। शास्त्रों में जिन विविध साधना-प्रणालियों का उल्लेख है उनका उद्देश्य भी अन्तःकरण की पवित्रता है। पर वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए जल का उपयोग किया जाता है किन्तु यदि वह स्वयं मलिन हो तो क्या वह वस्त्र को पूरी तरह स्वच्छ कर सकता है? सारी साधनाएँ किसी-न-किसी दोष से मिश्रित होने के कारण मलिनता से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। धर्म के क्रिया-कलापों को पूर्ण करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। तीर्थयात्रा, दान, उत्सव आदि द्रव्य पर ही आश्रित हैं। पर द्रव्य-शुद्धि असम्भवप्राय है। उसे पाने के लिए लोगों को कुछ-न-कुछ कष्ट पहुँचाना ही पड़ता है। अतः इस प्रकार के द्रव्य से सम्पन्न किया जाने वाला धर्म अन्तःकरण की शुद्धि में कैसे समर्थ हो सकता है ? तपस्या-जैसे साधन जिनका सम्बन्ध बाह्य द्रव्य से नहीं है, प्रारम्भ में दुर्गुणशून्य प्रतीत होते हैं। पर तपस्या सम्पन्न होने पर व्यक्ति बहुधा अहंकार-ग्रस्त हो जाता है। तपस्वियों के अहंकार की अगणित गाथाएँ पुराणों में उपलब्ध होती हैं। योग-जैसे साधन प्रारम्भ में प्रेरक और पवित्र प्रतीत होते हैं पर संयम-जनित एकाग्रता से मन को जो शक्ति प्राप्त होती है उससे योगी में सिद्धियों का प्रलोभन और उनके प्रदर्शन की आकांक्षा जाग्रत होती है। बहुत-कम साधक इन प्रलोभनों से बच पाते हैं। ज्ञान-दीपक की साधना में इन विघ्नों का उल्लेख किया गया है :

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई।
बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई॥
× ×
होइ बुद्धि जौं परम सयानी।
तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥

अतः प्रत्येक साधन आदि, मध्य अथवा अन्त में किसी-न-किसी दोष से दूषित है। इन साधनों के आश्रय से समग्र शुद्धि और शान्ति दोनों की सम्भावनाएँ नहीं हैं। इसलिए शरणागत साधन के स्थान पर प्रभु की कृपा का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। सुग्रीव भी प्रभु से परिचित होने पर उत्साह के अतिरेक में ''करिहउँ''

के अनेक दावे कर चुका था। उसने आश्वासन दिया था—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई" पर सेवा तो दूर उसे प्रभु का स्मरण भी नहीं आ सका। वह वैराग्य-भरे स्वर में कह उठा था :

सुख सम्पति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

पर इन्हें छोड़ने के स्थान पर वह इन्हीं में उलझता गया। अतः जब व्यक्ति चाहकर भी वह नहीं कर पाता तब वह किसे दोष दे। वह तो अपने प्रभु को ही उलाहना देता है और उनसे कहता है कि यदि आप कलङ्क से बचना चाहते हैं तो अपनी कृपा के द्वारा इन्हें दूर कीजिए। सुग्रीव की ढिठाई में अन्तर्व्यथा को प्रभु पहचान रहे थे इसीलिए वे सुग्रीव की बात सुनकर उत्तर देने के स्थान पर मुस्कराकर यही कहते हैं कि तुम मुझे भरत के समान प्रिय हो।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

पाछें पवन तनय सिरु नावा।
जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥
× ×
जद्यपि प्रभु जानत सब बाता।
राजनीति राखत सुर त्राता॥

अर्थ—सबसे पीछे पवनसुत श्रीहनुमान जी ने सिर नवाया। कार्य का विचार करके प्रभु ने उन्हें अपने पास बुलाया।

यद्यपि देवताओं की रक्षा करने वाले प्रभु सब बात जानते हैं, तो भी वे राजनीति की रक्षा कर रहे हैं (नीति की मर्यादा रखने के लिए सीताजी का पता लगाने को जहाँ-तहाँ वानरों को भेज रहे हैं)।

अन्य दिशाओं में मैथिली का अन्वेषण करने के लिए बन्दरों का समूह जा चुका था, किन्तु दक्षिण दिशा में जिन्हें भेजा जाना था, उनका चुनाव प्रभु की उपस्थिति में हुआ। यद्यपि बन्दरों का विविध दिशाओं में भेजा जाना व्यर्थ का कार्य जान पड़ता है, क्योंकि दक्षिण दिशा को छोड़कर किसी अन्य दिशा में वैदेही के होने की कोई सम्भावना नहीं थी। गीधराज के द्वारा श्रीसीता जी को दक्षिण दिशा में ले जाने का समाचार पहले ही ज्ञात हो चुका था, और फिर सुग्रीव भी अपनी आँखों से श्रीसीता जी के अपहरण का दृश्य देख चुके थे। इसके बाद भी अन्य दिशाओं में बंदरों का भेजा जाना सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है। दक्षिण दिशा में भी आञ्जनेय को छोड़कर अन्य वन्दरों को भेजा जाना कुछ समझ में न आने वाली प्रक्रिया है। विशेषतः तव, जब गोस्वामीजी यह बताते हैं कि प्रभु केवल हनुमानजी को निकट बुलाकर उन्हें मुद्रिका देते हैं और श्रीसीता

जी तक संदेश पहुँचाने का भार उन्हीं को सौंपते हैं; तब इतने लोगों से निरर्थक श्रम किस उद्देश्य से कराया जाता है ? आध्यात्मिक और आधिदैविक, दोनों ही दृष्टियों से यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है।

दार्शनिक दृष्टि से भगवान् राम और श्रीसीता एक-दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं। किन्तु रावण इस अभिन्नता में भिन्नता की सृष्टि करता हैं। रावण मूर्तिमान मोह है। अतः इसे यों कह सकते हैं कि मोह के कारण ही भेद और भिन्नता की अनुभूति होती है। तात्त्विक दृष्टि से श्रीसीता का अपहरण न होते हुए भी वही सबसे बड़ा सत्य बन बैठा। ज्ञान-दीपक की भाषा में यद्यपि बन्धन मृषा है, पर वह सर्वथा सत्य प्रतीत हो रहा है :

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

मृषा को मिटाने के लिए किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती है, पर ज्ञान-दीपक-प्रसङ्ग में ज्ञान-दीप जलाने के लिए कितनी कठिन साधना-पद्धति का वर्णन किया गया है, इसे पढ़ और समझकर अनुभव किया जा सकता है। यदि बन्धन है ही नहीं तो दीपक जलाकर उसके प्रकाश में ग्रन्थि के खोलने का जो विचित्र वर्णन किया गया है, वह सर्वथा असङ्गत प्रतीत होता है। सम्भवतः इस विरोधाभास को दृष्टिगत रखकर ही काकभुशुण्डि ने इस प्रसङ्ग का श्रीगणेश 'अकथ कहानी' के रूप में किया था :

सुनहु तात यह अकथ कहानी।
समुझत बनइ न जाति बखानी॥

'अकथ' शब्द का अर्थ है, जिसे कहा न जा सके, और कहानी का अर्थ है जो कही गई हो। बात कुछ ऐसी ही है। एक ओर बन्धन के मिथ्यात्व का प्रतिपादन और दूसरी ओर ग्रन्थि-उच्छेद के लिए इतना कठिन प्रयास—'अकथ कहानी' नहीं तो और क्या है ? यहाँ भी कुछ ऐसी ही मिलती-जुलती सी बात है।

वास्तविक सीता का अपहरण न होते हुए भी अरण्यकाण्ड से लेकर किष्किन्धा-काण्ड तक उनका पता पाने का प्रयास, विशाल सेना लेकर आक्रमण का अभियान, समुद्र पर सेतु-बन्धन, लंका का महान् युद्ध और श्रीसीता-राम का मिलन —यह सब कितना विचित्र-सा प्रतीत होता है। पर जीवन का यथार्थ ऐसा ही है। सत्य सबसे सरल होते हुए भी सर्वाधिक कठिन है। ईश्वर के समीप होते हुए भी उसका सबसे अधिक दूर प्रतीत होना—यही जीवन का यथार्थ है। विनय-पत्रिका में इस विरोधाभास का बड़ा ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। बुद्धि

के द्वारा समझ लेने पर भी संस्कार के कारण निर्भ्रान्त रूप से उसे मान पाना असम्भव-सा प्रतीत होता है :

हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी ।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥
अर्थ अबिद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‍यो कीर की नाईं ॥
सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥
श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, विपति सकै को टारी ॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै ।
तुलसीदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥

भ्रम की इस भीषणता का रामचरितमानस के इस दोहे से परिचय मिलता है—सीप में सूर्य की किरणों के द्वारा चाँदी की भ्रान्ति हो जाती है। मृग-तृष्णा का जल भी केवल स्थान-विशेष पर सूर्य की किरणों के कारण ही जान पड़ता है। यद्यपि यह दोनों वस्तुएँ त्रिकाल में मिथ्या हैं, पर भ्रम को कोई नहीं टाल सकता है :

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥

इस भ्रान्ति को मिटाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय यही है कि व्यक्ति स्वयं भ्रान्ति के मिथ्यात्व को प्रत्यक्ष देख ले। भ्रान्ति नेत्र के कारण उत्पन्न होती है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति शब्द के माध्यम से उसे मिटाने का प्रयास करे, तब भी मन में संशय तो बना ही रहता है। कान की अपेक्षा दृष्टि को अधिक प्रामाणिक मानने की परम्परा व्यवहार-क्षेत्र में सर्वमान्य-सी है। अतः दूसरे के द्वारा सुनकर मान लेने की अपेक्षा जब दृष्टि के द्वारा भी उसे प्रत्यक्ष देखकर मानना सरल और स्वाभाविक है। अथवा यों कह सकते हैं कि रज्जु में यदि सर्प का भ्रम हो गया हो तो उस सर्प को मारने के लिए लाठी की आवश्यकता नहीं है, पर इस मिथ्यात्व के निश्चय के लिए प्रकाश का प्रबन्ध तो करना ही होगा।

आधुनिक वेदान्ती मुक्ति अथवा ज्ञान के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं मानते। किन्तु मानस की इस विषय में सर्वथा भिन्न मान्यता है। भेद और बन्धन को मानस में भी मिथ्या ही स्वीकार किया गया है। किन्तु साथ-साथ यह

भी स्वीकार किया गया कि केवल वाक्य-ज्ञान से व्यक्ति इससे मुक्त नहीं हो सकता है । उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि स्वयं स्वीकार करते हैं—"भावनात्मक दृष्टि से माया रघुवीर की दासी है, और ज्ञान की दृष्टि से वह मिथ्या है; किन्तु प्रभु की कृपा के बिना इससे मुक्ति सर्वथा असम्भव है । इसे मैं दावे से कहता हूँ ।"

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ।।

भ्रान्ति के निवारण के लिए ईश्वर की कृपा चाहिए पर ईश्वर की कृपा कैसे प्राप्त होगी, यह दूसरा प्रश्न सामने आता है । और यहाँ भी वही भूल-भुलैया सामने आती है । ईश्वर अकारण कृपा-रूप है, यह बात अनेक बार मानस, विनयपत्रिका आदि ग्रंथों में दोहराई गई है, अहिल्योद्धार के प्रसंग में भगवान् की अकारण करुणा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल ।।

किन्तु इस दोहे में भी अनोखा विरोधाभास है । गोस्वामीजी कहते हैं—"प्रभु अकारण कृपामय और दीनबन्धु हैं । अरे मेरे मन ! तू कपट और जंजाल छोड़कर उनका भजन क्यों नहीं करता है ?" यहाँ भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रभु दीनबन्धु और अकारण कृपालु हैं तो फिर कपट-जंजाल छोड़कर उनके भजन की क्या आवश्यकता है ? तब यही कहना होगा कि कपट और जंजाल छोड़कर भजन करने के बाद ही ईश्वर की अकारण करुणा का ज्ञान होता है । अतः साधन की व्यर्थता का प्रतिपादन करने के बाद भी साधना के महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा । वानरों के द्वारा अन्वेषण की जो साधना की जाती है, उसका रहस्य इसी संदर्भ में समझा जा सकता है । "बन्दर आध्यात्मिक अर्थों में मोक्ष के विविध प्रकार के साधन हैं ।"

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट बिपुल ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतु ।
प्रबल बैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय, विषम वन भवनमिव धूमकेतू ।।

पुरुषार्थ की सीमा तक साधन करने के बाद ही व्यक्ति में दैन्य का उदय होता है और तभी वह भगवत्कृपा का अधिकारी बनता है । तात्त्विक दृष्टि से किसी बन्दर की आवश्यकता नहीं है । परन्तु प्रभु पग-पग पर इन साधनों को सम्मान देते हैं और रावण की मृत्यु के पश्चात् सारा श्रेय बन्दरों को ही प्रदान करते हैं और यह कहते हैं—मित्रो ! रावण का वध और विभीषण का राज्या-

भिषेक तुम लोगों के बल से ही हुआ है :

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‌यो।

यद्यपि वन्दर इस प्रशंसा को सुनकर भ्रान्ति में नहीं पड़ते हैं। उनको अपनी दुर्बलताओं का भान है। इसलिए वे उत्तर में विनम्रतापूर्वक यही कहते हैं—"हम तो आपकी बात सुनकर लज्जा के मारे मरे जा रहे हैं। क्या मच्छर भी गरुड़ का हित कर सकता है ? आप सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। हम लोगों को दीन समझ-कर आपने सनाथ किया है।"

दीन जानि कपि किए सनाथा।
तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥
सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं।
मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥

साधन केवल साधक की आकांक्षा और व्यग्रता को व्यक्त करते हैं। किसी को प्यास लगने पर वह चुप होकर कैसे बैठ सकता है। वह अवश्य व्याकुलता-भरे स्वर में सहायता के लिए पुकार करेगा, जल की खोज करेगा, और तब तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी, जब तक कि इसमें वह असमर्थ न हो जाये। साधक की स्थिति भी इसी प्रकार की है। भक्ति और भगवान् को पाने की व्यग्रता में वह सब-कुछ करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। भले ही वह अपनी साधनाओं के द्वारा भक्ति को न पा सके; किन्तु उसका प्रयास व्यर्थ नहीं जाता है। भौतिक कर्मों की तुलना में पारमार्थिक साधनाओं की यही विशेषता है। भौतिक कर्म अपनी समग्रता में ही फल की सृष्टि करते हैं और इसमें रंचमात्र छोटी-सी त्रुटि भी कर्मफल को विनष्ट करने वाली सिद्ध होती है। यह सिद्धान्त न केवल लौकिक कर्मों में है, अपितु सकाम वैदिक कर्मों की भी परिणति इसी प्रकार होती है। त्वष्टा इन्द्र के वध को दृष्टिगत रखकर पुत्र पाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने यज्ञ किया, किन्तु मंत्रोच्चारण की अशुद्धि से इन्द्र को मारने वाले पुत्र के स्थान पर इन्द्र के द्वारा मारा जाने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ।

भक्ति में इससे सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है। यहाँ भक्त को यह आश्वासन प्राप्त है कि प्रभु वाणी की ओर नहीं, अपितु हृदय की भावना की ओर दृष्टि देते हैं। प्रभु के स्वभाव का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी मानस के आरम्भ में कहते हैं—कहने में भले ही बिगड़ जाये, किन्तु यदि हृदय में सद्भाव है तो कोई चिन्ता की बात नहीं। श्रीराम जन के हृदय की बात जानकर रीझते हैं :

कहत नसाइ हिय होइ नीकी।
रीझत राम जानि जन जी की ॥

दोहावली में भी इसी मत की पुष्टि करते हुए गोस्वामीजी ने कहा— वाणी और वेश के द्वारा जो बनता है वह परिणाम में विनष्ट हो जाता है। किन्तु जो मन से बना हुआ है, वह सर्वदा कल्याणकारी सिद्ध होता है :

बचन बेष सो जो बनै सो बिगरे परिनाम।
तुलसी मन सो जो बनै बनी बनाई राम ॥

अतः सच्चे भाव से की जाने वाली अल्प-से-अल्प साधना भी कल्याण करने वाली सिद्ध होती है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने इसी मत का समर्थन किया— "इस कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है, और उलटा फल-रूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोग-रूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा कर लेता है।"

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

मैथिली की खोज के लिए सारी दिशाओं में बन्दरों का भेजा जाना व्यर्थ नहीं हुआ। किसी सांसारिक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए लक्ष्य की सही दिशा का ज्ञान अपेक्षित है। किन्तु भक्ति की सही दिशा कौन-सी है? प्रत्येक दिशा उनकी ही तो है। यद्यपि भौतिक अर्थों में वे इस समय दक्षिण दिशा में विद्यमान हैं, किन्तु उस अर्थ में तो दक्षिण दिशा में जाने वाले बन्दरों की यात्रा भी व्यर्थ कही जा सकती है। क्योंकि आञ्जनेय को छोड़कर लक्ष्य तक कोई दूसरा नहीं पहुँच पाया। पर यह यथार्थ नहीं है। इनमें से प्रत्येक बन्दर चाहे वह किसी भी दिशा में क्यों न गया हो, अन्त में जनकनन्दिनी का दर्शन पाकर धन्य होता है। इससे बढ़कर जीव के लिए क्या आश्वासन हो सकता है कि भले ही वह सही दिशा के ज्ञान के अभाव में भटक गया हो, पर अन्त में माँ की करुणा का पात्र बन जाता है। नन्हा बालक माँ की गोद में पहुँचने की व्यग्रता में हाथ फैलाकर उसकी ओर बढ़ता है। कुछ बालक माँ की गोद में पहुँच जाते हैं कुछ लड़खड़ाकर बीच में ही गिर पड़ते हैं। किन्तु माँ वात्सल्य-भरे हृदय से गिरे हुए बालक को भी गोद में उठा लेती है। इसलिए यह पथ ऐसा है जहाँ भटकना और गिर पड़ना भी सार्थक है। यह तो साधना के दृष्टिकोण से किया गया निरूपण है। किन्तु तुलसी इसे राजनीति के सन्दर्भ में

भी प्रस्तुत करते हैं। इसमें राजा राम का राजनैतिक दर्शन भी सामने आ जाता है।

श्रीराघवेन्द्र से पहले राजनीति का केन्द्र केवल राजा होता था। दो राजाओं के संघर्ष में अन्य सारे लोग उसके उपकरण-मात्र होते थे। विजय और पराजय केवल राजा की होती थी। राजभक्ति को धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना एक विचित्र विरोधाभास की सृष्टि करता था। जिस राजा के शासन में प्रजा रहती थी, उसकी निष्ठा केवल तब तक थी, जब तक उसका शासन होता था। शासक के बदलते ही उसकी निष्ठा का केन्द्र भी परिवर्तित हो जाता था। भगवान् राम राजनीति को एक भिन्न आदर्श प्रदान करते हैं, जिसका केन्द्र राजा न होकर सिद्धान्त है। जो अन्याय कर रहा है, यह विरोध करने योग्य है, भले ही वह कोई भी क्यों न हो? इसलिए विभीषण को मानस में एक महान् भक्त के रूप में स्वीकार किया गया है। उसे देशद्रोही या मातृद्रोही कहना मिथ्यावादी निष्ठा पर आधारित है। इसी तरह सफलता अथवा विफलता का आधार केवल राजा के अहंकार की विजय अथवा पराजय-मात्र नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति को उसमें अपनी जय अथवा पराजय का बोध होता है अथवा नहीं?

भगवान् राम राजनीति को जननीति के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। इसीलिए उनकी मैत्री के केन्द्र सर्वदा निर्बल, पराजित और पीड़ित व्यक्ति थे। उनकी सेना भी अन्य राजाओं की भाँति शस्त्रों से सुसज्जित और प्रशिक्षित नहीं थी। इस प्रकार का विषम युद्ध तब तक नहीं लड़ा जा सकता, जब तक उसके पीछे आदर्श की भावनात्मक शक्ति न हो।

रावण ने वैदेही का अपहरण कर केवल राजा राम का अपराध किया है, इस धारणा को प्रभु पूरी तरह मिटा देना चाहते हैं। यह अनोखी बात थी कि लङ्का के विरुद्ध किये जाने वाले संघर्ष में अयोध्या अथवा मिथिला का एक भी सैनिक नहीं था। श्रीसीता एक राजकुल में जन्म लेकर दूसरे राजकुल तक विवाहिता होकर जाने वाली एक महिला-मात्र नहीं हैं। उनके प्रति साधारण-से-साधारण व्यक्ति अपनत्व का बोध करता है, भगवान् राम की आदर्श राजनीति की सबसे बड़ी मूल्यवान् सम्पत्ति यही है। विजातीय गीध भी उन्हें पुत्री के रूप में देख पाते हैं। मैथिली का अपहरण उन्हें अपनी पुत्री के अपहरण के समान ही प्रतीत होता है। इसीलिए वृद्ध और जर्जर शरीर होते हुए भी वे लंकेश्वर को युद्ध की चुनौती देते हैं और श्रीसीता जी को अपने आश्वासन से आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं:

गीधराज सुनि आरत बानी।
रघुकुलतिलक नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हें जाई।
जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा।
करिहउँ जातुधान कर नासा॥
धावा क्रोधवंत खग कैसें।
छूटइ पबि परबत कहुँ जैसें॥

यदि केवल श्रीसीता को प्राप्त करना अभीष्ट होता तो प्रभु बालि की मित्रता के द्वारा इसे सरलता से कर सकते थे। किन्तु उन्हें प्रत्येक बन्दर की सहानुभूति अभीष्ट थी। प्रत्येक बन्दर को ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि श्रीसीता को खोकर वे माँ के वात्सल्य से वंचित हो गये हैं और उनका पता लगाकर उन्हें पुनः लौटाना स्वयं उनकी अपनी आवश्यकता है। इसीलिए मैथिली के अन्वेषण-अभियान में वे छोटे-से-छोटे बन्दर को भी भागीदार बनाना चाहते हैं। सारे बन्दरों ने इस अन्वेषण-अभियान में भाग लिया, समुद्र पर सेतु का निर्माण किया, लंका में लड़ाई लड़ी और अन्त में बन्दिनी वैदेही उनके बीच में आयीं। उन्हें राजकुल की वधू के रूप में सुन्दर शिविका पर बैठाकर श्रीरामभद्र के समक्ष लाया गया। किन्तु वे इस मर्यादा को अस्वीकार कर देते हैं। उनके लिए महत्त्व की बात यह नहीं थी कि सीता मिथिलेश्वर की प्राणप्रिया कन्या हैं। और न वे उन्हें इस दृष्टि से सम्मानित देखना चाहते थे कि वे चक्रवर्ती सम्राट् महाराज श्रीदशरथ की लाड़ली पुत्र-वधू हैं। उनकी दृष्टि में सबसे महत्त्व की बात यह थी कि साधारण-से-साधारण बन्दर मिथिलेशनन्दिनी और अपने बीच में सम्बन्ध का अनुभव कर रहा है या नहीं। इसलिए उन्होंने विभीषण को आदेश दिया कि श्रीसीता को शिविका से उतारकर पैदल ले आया जाये, जिससे प्रत्येक बालक अपनी माँ को देख सके :

कह रघुबीर कहा मम मानहु।
सीतहि सखा पयादें आनहु॥
देखहुँ कपि जननी की नाईं।
बिहसि कहा रघुबीर गोसाईं॥

राजनीति को श्रीराम जो नयी दिशा देना चाहते थे, उसको दृष्टिगत रखकर ही उन्होंने बन्दरों को सारी दिशाओं में भेजा। जिस प्रयास में व्यक्ति का स्वयं अपना श्रम लगता है उसकी सफलता को वह अपनी सफलता मानता है। बन्दरों

के अन्तःकरण में इसी अनुभूति को उत्पन्न करने के लिए प्रभु उन्हें सारी दिशाओं में भेजते हैं। बन्दरों की सेना इतनी विशाल थी कि भगवान् शंकर के शब्दों में 'जो उनकी गणना करना चाहे, वह मूर्ख है।' किन्तु उनमें से प्रत्येक ने यह अनुभव किया कि श्रीराम उससे प्रेम करते हैं, क्योंकि प्रभु प्रत्येक बन्दर से मिलकर उससे कुशल-प्रश्न पूछते हैं :

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरुख जो करन चह लेखा।।
आइ राम पद नावहिं माथा।
निरखि बदनु सब होहिं सनाथा।।
अस कपि एक न सेना माहीं।
राम कुसल जेहि पूछी नाहीं।।

हनुमानजी के द्वारा सबसे पीछे प्रणाम किये जाने का रहस्य भी यही था। वे प्रभु के स्वभाव से पूरी तरह परिचित हैं। सब बन्दरों के समक्ष आञ्जनेय से विशिष्ट व्यवहार उचित न होता। इसीलिए प्रभु के आन्तरिक भावों को पहचानकर वे सबसे पीछे प्रभु के पास आते हैं। उस समय तक सारे बन्दर जा चुके थे :

आयसु मागि चरन सिरु नाई।
चले हरषि सुमिरत रघुराई।।

इस तरह वे जहाँ भक्ताग्रगण्य पवननन्दन को विशिष्ट सम्मान देकर प्रीति का निर्वाह करते हैं, वहीं प्रत्येक बन्दर से समानतापूर्वक मिलकर राजनीति का समन्वय करने में समर्थ होते हैं। इसी विलक्षणता को दृष्टिगत रखकर गुरु वशिष्ठ ने उनके लिए यह कहा था कि नीति और प्रीति, स्वार्थ और परमार्थ को राम से बढ़कर यथार्थ रूप में कोई नहीं जानता :

नीति-प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ।।

रावण और बालि की राजनीति, प्रचलित अहंकार-केन्द्रित राजनीति थी। उसके स्थान पर प्रभु ने जिस नयी नीति का प्रतिपादन किया, उसे हम राजनीति से अधिक प्रेमनीति कह सकते हैं :

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना।
मरन चहत सब बिनु जल पाना॥
× ×
आगें कै हनुमंतहि लीन्हा।
पैठे बिबर बिलम्बु न कीन्हा॥

अर्थ—श्रीहनुमान जी ने मन में अनुमान किया कि जल पिये बिना सब लोग मरना ही चाहते हैं।

सबने हनुमानजी को आगे कर लिया और वे गुफा में घुस गये, देर नहीं की।

मैथिली के अन्वेषण की जो यात्रा प्रारम्भ हुई, उसमें आञ्जनेय सबसे पीछे थे। किन्तु उस यात्रा में कुछ दिनों के बाद ऐसी परिस्थिति आई कि हनुमंतलाल को सबसे आगे चलना पड़ा। 'आगे' और 'पाछे'—यह दोनों शब्द भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में पृथक् भाव की प्रतीति कराते हैं। 'आगे' शब्द से नेतृत्व अथवा मुखियापन का बोध होता है। अनेक लोग आगे चलने के लिए व्यग्र रहते हैं। इसके द्वारा वे अपने नेतृत्व और गौरव का प्रदर्शन करते हैं। ऐसी मनःस्थिति में यह अहंकार का प्रतीक बन जाता है। इसी तरह कुछ लोग आगे आने में घबराते हैं, क्योंकि उनमें आत्मविश्वास का सर्वथा अभाव होता है, और यह आशंका उन्हें भयभीत करती है कि आगे चलने से कहीं कोई विपत्ति न आ जाये और उस आपदा का प्रथम आघात उन्हें ही झेलना पड़े। तब यह 'पीछे' शब्द कायरता का वाचक बन जाता है। पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो श्रेय और सम्मान के साथ सर्वदा आगे रहना चाहते हैं; किन्तु विपत्ति की आशंका होते ही पिछली पंक्ति में छिप जाते हैं। यह पाखण्ड और बहुरूपियेपन का परिचायक है। किन्तु मरुत-

नन्दन का पावन चरित्र सर्वथा भिन्न रूप में सामने आता है। आगे अथवा पीछे के प्रति उनके अन्तःकरण में कोई आसक्ति नहीं है। स्वामी की सेवा ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। उनका वही जीवन-दर्शन है, जिसका प्रतिपादन श्री-भरत ने सेवक-धर्म के प्रसंग में किया है। सच्चा सेवक वही है जो स्वामी के हित की चिन्ता करे, चाहे इसके लिए उसे कलंकित ही क्यों न होना पड़े :

करइ स्वामि हित सेवकु सोई।
दूषन कोटि देइ किन कोई॥

आद्याशक्ति के अन्वेषण का सबसे अधिक उत्साह आञ्जनेय में हो, यह स्वाभाविक था। किन्तु उन्होंने आगे आकर उस उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया। इसमें उनकी निरभिमानिता का परिचय प्राप्त होता है। प्रभु के सर्वाधिक समीप होते हुए भी सबसे दूर खड़े हो जाना साधारण बात नहीं है। किन्तु श्रीहनुमान जी तो उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे जब प्रभु स्वयं कृपाकर उन्हें कार्य का आदेश प्रदान करें। साथ ही जैसा कि पूर्व लेख में कहा जा चुका है कि वे इस बात के प्रति भी जागरूक थे कि कहीं उनके आगे आने से प्रभु के समक्ष पक्षपात का संकट न उत्पन्न हो जाये। यदि वे कहीं प्रारम्भ में प्रभु के पास आते और प्रभु उनके मस्तक पर हाथ रखकर अपनी मुद्रिका प्रदान करते, तब इस दृश्य को देखकर अन्य बन्दरों का हतोत्साह हो जाना स्वाभाविक होता। उन्हें प्रतीत होता कि उनका जाना सर्वथा व्यर्थ है और प्रभु की विश्वस्तता केवल आञ्जनेय को ही उपलब्ध है। इस प्रकार की सावधानी प्रेममूर्ति श्रीभरत को छोड़कर किसी अन्य पात्र में प्राप्त नहीं होती। लंका-विजय के पश्चात् जब प्रभु लौटकर अवध में आते हैं तब श्रीभरत भी सबसे पीछे प्रभु को प्रणाम करते हैं। दर्शन की उत्कट आकांक्षा में भी उन्हें श्रीरामभद्र की मर्यादा का ध्यान बना रहा। चित्रकूट की वह घटना उन्हें विस्मृत नहीं हुई थी जब प्रभु उनके प्रेम में विह्वल होकर गुरुजनों की मर्यादा भी भूल गये थे और निषादराज को यह स्मरण दिलाना पड़ा था कि गुरु वशिष्ठ के साथ समस्त अयोध्यावासी उनकी आतुर प्रतीक्षा में मंदाकिनी-तट पर खड़े हैं :

परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

× ×

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥

तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि।
जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि ॥
नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग ॥

इस प्रकार का दृश्य अयोध्या में भी उपस्थित न हो जाये, इस भय के निवारण के लिए उनका पीछे प्रणाम करना उनके स्वाभाविक चरित्र के अनुरूप है। आञ्जनेय में यह सजगता श्रीभरत से भी अधिक है, यदि यह कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कम-से-कम चित्रकूट में ऐसे क्षण आ गये थे जब श्रीभरत स्वयं प्रेमविभोर होकर गुरुजनों के आगमन की बात भूल गये थे। किन्तु हनुमन्तलाल के चरित्र में कभी कोई ऐसी घटना हुई हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता है। इसलिए "पाछें पवन तनय सिरु नावा" की नन्ही-सी अर्धाली सेवाव्रती पवननन्दन की नम्रता और सजगता दोनों का परिचय देती है। संसार में पिछड़ जाने पर व्यक्ति घाटे में रहता है, किन्तु श्रीहनुमान जी पीछे आकर सबसे अधिक लाभ में रहे। प्रभु ने उन्हें समीप बुलाया। यह पढ़कर अटपटा-सा प्रतीत होता है। क्योंकि उनके चरणों में आञ्जनेय के प्रणाम का वर्णन यहाँ पर किया गया है। तब सामीप्य का तात्पर्य क्या है ? वस्तुतः इसका उत्तर गीतावली रामायण में प्राप्त होता है। चरणों में नत हनुमन्तलाल को वे इतने निकट चाहते हैं कि उनके कान में जो वाक्य कहें, उसे कोई दूसरा न सुन ले। वे क्षण इतने अमूल्य थे कि उनकी स्मृति ही आञ्जनेय को भाव-विभोर और विह्वल बना देती है। अशोकवाटिका में वे मिथिलेशनन्दिनी को प्रभु का संदेश सुनाते हुए उन अविस्मरणीय क्षणों का स्मरण करते हैं—"कहाँ मैं अत्यन्त चपल पशु वानर और कहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के भी वन्दनीय भगवान् राम ! किन्तु उनका वह हमारे कानों से लगना मुझे अब तक नहीं भूलता।"

सत्य वचन सुनु मातु जानकी।
जन के दुख रघुनाथ दुखित अति, सहज प्रकृति करुना निधान की ॥
तुव बियोग-संभव दारुन दुख, बिसरि गई महिमा सुबान की।
नतु कहु कँह रघुपति सायक-रवि, तम-अनीक कँह जातुधान की ॥
कँह हम पसु साखामृग चंचल, बात कहौं मैं विद्यमान की।
कँह हरि सिव-अज पूज्य ग्यानघन नहिं बिसरति यह लगनि कान की ॥
तुव दरसन सँदेस सुनि हरि को बहुत भई अवलंब प्रान की।
तुलसिदास गुन सुमिरि राम के प्रेम-मगन, नहि सुधि अपान की ॥

इस सामीप्य से श्रीआञ्जनेय धन्यता का अनुभव करने लगे। उन्हें लगा, "मेरे जन्म की सार्थकता अब सिद्ध हुई है।" वृक्ष जिस दिन आरोपित किया जाता है, उसी दिन से ही लगाने वाला उस क्षण की प्रतीक्षा करता है, जब वृक्ष अपनी पूर्णता तक पहुँचकर फलित होने लगेगा। और वृक्ष जब प्रथम बार फलित होता है, तब उस तरु को आरोपित करने वाला जिस प्रकार की कृत-कृत्यता का अनुभव करता है, ठीक वही मन:स्थिति श्रीआञ्जनेय की थी। इस तरु के आरोपण-कर्त्ता भगवान् शंकर थे। प्रभु की समग्र सेवा का सुख प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने कपि-शरीर ग्रहण करने का संकल्प लिया था। कपि-शरीर ग्रहण करने के इतने दिन बाद यह प्रथम अवसर था, जब प्रभु ने उन्हें अपनी ओर से सेवा का आदेश दिया। इसलिए आञ्जनेय के अन्त:करण में जो सुख प्राप्त हुआ, वह सर्वथा अवर्णनीय था :

पाछें पवन तनय सिरु नावा।
जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥
परसा सीस सरोरुह पानी।
करमुद्रिका दीन्हि जन जानी॥
बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥
हनुमत जन्म सुफल करि माना।
चलेउ हृदयँ धरि कृपानिधाना॥

इस यात्रा के प्रारम्भ में नेतृत्व का भार युवराज अंगद पर था। स्वभावत: आगे भी वही चल रहे थे। इस तरह अंगद और आञ्जनेय के अन्तराल में सारे बन्दर मैथिली के अन्वेषण के लिए उत्साहपूर्वक चले। वन, पर्वत, नदी और सरोवर का कोई कोना ऐसा नहीं था, जहाँ इन बंदरों ने वैदेही को खोजने का प्रयास न किया हो। उत्साह के अतिरेक में उन्हें भोजन और निद्रा की भी चिन्ता नहीं थी :

चले सकल बन खोजत, सरिता सरि गिरि खोह।
रामकाज लयलीन मन, बिसरा तन कर छोह॥

किन्तु यह उत्साह क्रमश: शिथिल पड़ने लगा। मन और तन का सम्बन्ध बड़ा ही अनोखा है। बहुधा मन और तन मिलकर ही जीवन का कार्य-व्यापार चलाते हैं। पर दोनों के सम्बन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। कभी मन तन पर शासन करता है तो कभी तन मन को अपनी इच्छानुकूल चलाने का प्रयास करता है। आनन्दा-

नुभूति का सम्बन्ध मन से है तो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी अपेक्षित है। साधक को मन और तन दोनों को सन्तुलित और स्वस्थ रखने का प्रयास करना चाहिए। अतिरेक सर्वदा असन्तुलन उत्पन्न करता है। स्वभावत: साधक में लक्ष्य तक पहुँचने की उत्कट आकांक्षा और शीघ्रता के कारण यह सन्तुलन जब कभी बिगड़ जाता है, तब उसके समक्ष तीव्र प्रतिक्रिया का भय उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने गीता में मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। जो उनके उपदेशों का अनुगमन करते हैं उनके लिए भोग सुखद सिद्ध होता है। भगवान् ने अर्जुन से कहा, "जो न तो अत्यधिक मात्रा में भोजन करते हैं और न सर्वथा उपवास करने बैठ जाते हैं, जो न तो जागते ही रहते हैं और न जिन्हें अति निद्रा ही प्रिय है, योगमार्ग उन्हीं के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।"

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

युवा एवं तेजस्वी अंगद के नेतृत्व में वंदरों ने उत्साह का प्रदर्शन तो अवश्य किया, पर वे सन्तुलित नहीं रह पाये। यद्यपि इस दल में जिन सदस्यों को भेजा गया था, उनमें वय:क्रम की दृष्टि से सभी अवस्था के लोग विद्यमान थे। किन्तु नेतृत्व युवराज अंगद को ही दिया गया था। वृद्ध को नेतृत्व देने में सबसे बड़ा भय यह रहता है कि कहीं विचार का अतिरेक पुरुषार्थ और कर्मशक्ति को पंगु न बना दे। वृद्ध जाम्बवान् ने इसीलिए स्वयं भी अंगद के नेतृत्व में चलना ही उपयुक्त माना होगा। किन्तु साधक त्रुटियों से भी शिक्षा ग्रहण करता है। उत्साह का अतिरेक भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जैसे भोजन को परिपक्व करते हुए प्रारम्भ में उसमें उफान आता है; पर यह उफान भी धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बंदरों की मन:स्थिति भी सामने आई। बन्दर तन्मयतापूर्वक खोज करते हुए भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये। अब शरीर ने स्वभावत: अपनी आवश्यकताओं का स्मरण दिलाना प्रारम्भ किया। प्यास के मारे बंदरों के प्राण जाने लगे। वन में चलते हुए वे भटकाव का अनुभव करने लगे :

लागि तृषा अतिसय अकुलाने॥
मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना।
मरन चहत सब बिनु जल पाना॥

व्याकुलता के इन क्षणों में एकमात्र आञ्जनेय ही सन्तुलित थे। जहाँ प्रत्येक वन्दर अपनी ही चिन्ता में निमग्न था, वहाँ पवनपुत्र की दृष्टि सभी बन्दरों पर जाती है। यहाँ स्पष्ट रूप से यह समझा जा सकता है कि वे अन्य कपियों की भाँति तृषातुर नहीं थे। यात्रा के प्रारम्भ में ही प्रभु-प्रदत्त मुद्रिका को मुख में रखकर उन्होंने दूरदर्शिता का परिचय दिया था। बुद्धिमान् यात्री यात्रा के प्रारम्भ में ही भोजन और जल का प्रवन्ध कर लेता है। आध्यात्मिक यात्रा के लिए जिस भोजन और जल की आवश्यकता थी, वह राम-नाम के रूप में उन्हें प्राप्त था। यह राम-नाम रस-रूप है। इसे वेद-समुद्र का मंथन कर अमृत के रूप में निकाला गया है। यह दिव्य अमृत रोग-निवारण और तृप्ति दोनों में समर्थ है। भगवान् शिव इसे निरन्तर अपने कंठ में धारण करते हैं। रामप्रिया मैथिली का तो यह जीवन ही है। वे पुण्यात्मा धन्य हैं, जो निरन्तर इस रस का पान करते रहते हैं :

ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं कलिमल प्रध्वंसनं चाव्ययं।
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा॥
संसारामयभेषजं सुखकरं श्री जानकीजीवनं।
धन्यास्ते कृतिनः पिवन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥

इस राम-नाम के मोदक के द्वारा ही जन्म-जन्मांतर की क्षुधा शान्त हो सकती है। विनयपत्रिका में तुलसी इन भाव-भरे शब्दों में नाम-महिमा का स्मरण करते हैं :

भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागिहै।
मन राम-नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥
राम-नाम को प्रभाउ जानि जूड़ी आगिहै।
सहित सहाय कलिकाल भीरु भागिहै॥
राम-नाम सों बिराग, जोग, जप जागिहै।
बामबिधि भाल हू न करम दाग दागिहै॥
राम-नाम मोदक सनेह सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार-द्वार बागिहै॥
राम-नाम काम-तरु जोइ-जोइ माँगिहै।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥

स्वयं तृप्त होते हुए भी मारुति बन्दरों की समस्या सुलझाने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। वनभूमि में जल का स्रोत न दिखाई देने पर अचानक उनकी दृष्टि समीपस्थ पर्वत-शिखर पर जाती है, और वे तत्काल चोटी पर चढ़ जाते हैं। जीवन

में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब व्यक्ति को समस्या का समाधान प्राप्त नहीं होता है। ऐसी स्थिति में संत-गिरि का आश्रय लेना चाहिए :

संत विटप सरिता गिरि धरनी।
परहित हेतु इन्हनि की करनी॥

वहाँ पर उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा। प्रत्यक्ष रूप से जल न दिखायी देने पर भी कुछ ऐसे चिह्न थे, जो निकट में ही कहीं जल की उपस्थिति की सूचना दे रहे थे। वहाँ पर्वत की ऐसी गुफा दिखाई पड़ी, जिसमें विविध प्रकार के जल-विहग आ-जा रहे थे। चक्रवाक, बक, हंस-जैसे पक्षियों को भीतर प्रविष्ट होते देखकर आञ्जनेय को प्रसन्नता हुई। उन्होंने सभी बन्दरों को बुलाकर यह दृश्य दिखाया :

चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा।
भूमि बिबर एक कौतुक पेखा॥
चक्रबाक, बक, हंस उड़ाहीं।
बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं॥
गिरि ते उतरि पवनसुत आवा।
सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा॥

यहीं से नेतृत्व के क्रम में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। अंगद सबसे आगे गुफा में प्रविष्ट होने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। इसका एक कारण तो यह था कि वे अपने नेतृत्व की विफलता का अनुभव कर चुके थे। उन्हें लगा कि मेरे पीछे चलकर बन्दर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये। जो व्यक्ति स्वयं मार्ग से अनभिज्ञ हो, वह दूसरों को मार्ग दिखाने का दावा कैसे कर सकता है। मार्ग में आने वाली समस्याओं का समाधान भी अंगद नहीं कर पाये। अतः उन्होंने सोचा कि जल का स्रोत खोजकर अपनी महान् योग्यता का परिचय जिन्होंने दिया है, उन्हीं के नेतृत्व में भविष्य की यात्रा कल्याणकारी सिद्ध होगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी वे गुफा में प्रविष्ट होते हुए खिन्नता का अनुभव करते हैं। सुग्रीव और बालि के संघर्ष का कारण गुफा ही थी।

श्रीहनुमान जी के व्यक्तित्व में आगे और पीछे के प्रति कोई आग्रह नहीं है। वे तो स्वभावतः पीछे चलते हैं; किन्तु यह उनकी कायरता नहीं, अपितु नम्रता का चिह्न है। पीछे रहकर भी वे दल की सुरक्षा का कार्य सम्पन्न करते हैं, तथा दूसरों को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इसीलिए उस प्रसङ्ग में गोस्वामीजी "पाछें **पवन तनय** सिरु नावा" का प्रयोग करते हैं। जब वायु यात्रा

करने वाले व्यक्ति के पीछे से आती है, तब उसे चलने में गति प्राप्त होती है। किन्तु आज वे 'पवनतनय' न होकर 'हनुमान' हैं। बाल्यावस्था में सूर्य को फल समझकर उनको मुख में धारण कर लेने वाले आञ्जनेय को देखकर क्रुद्ध इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया। पवननन्दन की ठोढ़ी में वज्र आकर लगा और वह नीचे गिरकर चूर्ण-विचूर्ण हो गया। अमोघ वज्र के प्रहार से मारुति की ठोढ़ी कुछ टेढ़ी तो हो गई। संस्कृत में ठोड़ी के लिए 'हनु' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वज्रप्रहार को झेलने की अमित सामर्थ्य के कारण उनका नाम हनुमान पड़ गया। बन्दरों का नेतृत्व करते हुए आगे चलने में हनुमन्तलाल को किसी प्रकार के भय की अनुभूति नहीं होती है। इन्द्र के प्रहार को झेलने वाला जब स्वयं ही आगे चल रहा हो, तब बन्दरों के भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विनयपत्रिका में तो गोस्वामीजी श्रीहनुमान जी के स्मरण-मात्र से ही समस्त विघ्न-बाधाओं के विनष्ट हो जाने की घोषणा करते हैं—जिसके एकमात्र आश्रय हनुमान हैं, उसकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। यह सिद्धान्त हीरे की लकीर के समान अमिट है। असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव बनाने वाला विरद हनुमान का ही है। श्रीहनुमान जी की आनन्दमयी मूर्ति का स्मरण करते ही सारे संकट और शोक मिट जाते हैं। सब प्रकार के कल्याणों की खानि श्रीहनुमान जी की कृपा-दृष्टि जिस पर है, हे तुलसीदास ! उस पर पार्वती, शंकर, लक्ष्मण, श्रीराम और जानकीजी सदा कृपा किया करती हैं :

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैंज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की।।
अघटित-घटन, सुघट-विघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच-बिमोचन, मूरति मोद निधान की।।
तापर सानुकूल गिरजा, हर लखन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा बिलोकनि, खानि सकल कल्यान की।।

आध्यात्मिक दृष्टि से आगे और पीछे का यह क्रम साधना के क्रमिक विकास का परिचय देता है। अंगद रजोगुण-मिश्रित सत्त्व के प्रतीक हैं। वे बालि-तनय हैं और पिता के सारे संस्कार उनमें किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं। बालि ने मृत्यु के समय स्वयं यही कहते हुए उन्हें प्रभु के कर-कमलों में समर्पित किया था :

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ।।

साधना के प्रारम्भ में जिस तीव्र उत्साह की आवश्यकता है, वह रजोगुण के द्वारा ही सम्भव है। पर साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, रजोगुण मन्द पड़ता जाता है। सांसारिक कर्मों की सफलता में रजोगुण की भूमिका सर्वाधिक प्रभावशाली होती है। किन्तु भक्ति-पथ में यह एक सीमा तक ही सहायक सिद्ध होता है। आञ्जनेय को किसी एक ही प्रतीक की सीमा में बाँधना असम्भव है। उनकी विचित्रता ही यह है कि वे स्वयं को अवसर के अनुरूप परिवर्तित कर लेते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उनकी भूमिका विश्वास के रूप में है। अन्य दिशाओं में जाने वाले वन्दर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये। सफलता केवल दक्षिण दिशा में जाने वालों को ही प्राप्त हुई। क्योंकि इनके साथ विश्वासावतार श्रीआञ्जनेय थे। विश्वास के अभाव में कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता है, और भक्ति की उपलब्धि तो विश्वास के अभाव में सर्वथा असम्भव है :

कवनेउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरि भजन कि भव भय नासा॥

× ×

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहि न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम॥

रजोगुण-मिश्रित सन्त जहाँ उत्साह से भरा हुआ होता है, वहाँ असफलता में उसका निराश होना भी स्वाभाविक है। असफलता के समय इस प्रकार के अन्तः-करण वाला साधक संशयग्रस्त हो जाता है। अंगद के नेतृत्व में चलने वाले कपि-समूह के वन में भटक जाने का तात्पर्य भी यही है। संशय को मानस में वन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

मोह महाघन पटल प्रभंजन।
संसय विपिन अनल सुर रंजन॥

अन्तरङ्ग भगवत्कृपा ही गुफा में छिपा हुआ जल-स्रोत है। जब भगवत्कृपा प्रत्यक्ष होती है, तब उसका रस ग्रहण करना कठिन नहीं होता है। पर जब प्रभु की कृपा प्रत्यक्ष नहीं होती है, तब साधारण साधक को भविष्य की अंधकार-भरी गुफा की कल्पना से भय प्रतीत होता है। उसे लगता है कि इस अंधकार के अन्त-राल में न जाने कितनी बड़ी विपत्ति छिपी हुई है। अतः वह आगे बढ़ने से हिच-किचाता है। एकमात्र विश्वास ही निर्भीक होकर अन्धकार में प्रवेश कर सकता है। क्योंकि उसे ज्ञात है कि अन्धकार और प्रकाश में सर्वत्र समान रूप से उसके प्रभु का राज्य है। वे सर्वत्र निवास करते हैं :

सरग नरक अपबर्ग समाना।
जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना ।।

जीवन के विकट अवसरों पर एकमात्र विश्वास ही व्यक्ति को यह आश्वासन दे सकता है कि भगवत्कृपा का सरोवर समीप है, जहाँ पहुँचकर साधक को नया जीवन प्राप्त होता है। इसलिए गुफा में प्रविष्ट होते हुए बन्दरों के द्वारा श्री-हनुमानजी को आगे कर लेना स्वयंसिद्ध सत्य था।

अन्धकार से वही भयभीत होता है, जिसके पास प्रकाश का कोई साधन न हो। आञ्जनेय के पास तो प्रकाश का वह दिव्य रूप विद्यमान है, जो हवा के बड़े-से-बड़े झोंकों से भी नहीं बुझता है। प्रबल पुरुषार्थ से जलाया हुआ ज्ञान-दीप भी विषय-वायु के प्रवाह से बुझ जाता है। कभी माया ठगिनी अञ्चल के द्वारा उसे बुझा देती है :

कल बल छल करि जाहिं समीपा।
अंचल बात बुझावहिं दीपा ।।
× ×
इन्द्री द्वार झरोखा नाना।
तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं बिषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी ।।
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई।
तबहिं दीप बिग्यान बुझाई ।।

किन्तु पवन-पुत्र के पास राम-नाम का वह दिव्य मणि-दीप है, जो प्रत्येक परिस्थिति में अविचल प्रकाशित होता है :

राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
'तुलसी' भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर ।।

यह दीप जिह्वा की देहरी पर रखा जाता है। देहरी के दीपक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह भीतर और बाहर सर्वत्र प्रकाश करता है। ज्ञान-दीप जहाँ अन्तःकरण के अन्धकार को ही मिटाता है, मुक्ति देता है, वहीं भगवन्नाम के द्वारा साधक की लौकिक-पारलौकिक—सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है। यह दिव्य दीप, नाम की मुद्रिका के रूप में श्रीहनुमन्तलाल के पास था। इसीलिए उन्हें आगे कर सारे बन्दर गुफा में प्रविष्ट हो जाते हैं।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

तेहिं सब आपनि कथा सुनाई।
मैं अब जाब जहाँ रघुराई॥
मूदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥

अर्थ—तब उसने अपनी सब कथा सुनाई और कहा कि मैं अब वहाँ जाऊँगी जहाँ श्रीरघुनाथ जी हैं। तुम लोग आँखें मूँद लो और गुफा को छोड़कर बाहर जाओ। तुम सीताजी को पा जाओगे, पछताओ नहीं।

गुफा में प्रविष्ट होकर बन्दरों ने जिस तपस्विनी महिला का दर्शन किया उनका नाम स्वयंप्रभा था। उस गुफा में सरोवर और उपवन दोनों विद्यमान थे :

दीख जाइ उपबन बर सर बिगसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज॥

बन्दरों ने तपस्विनी देवी को दूर से प्रणाम किया। इस दूरी में अनादर की भावना नहीं थी। स्वयंप्रभा के प्रति उनके अन्तःकरण में जो संभ्रम और आदर उत्पन्न हुआ उसके कारण उन्हें निकट जाने में संकोच हुआ। वे उन क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे थे जब स्वयंप्रभा स्वयं उन्हें सन्निकट आने का आदेश प्रदान करें। स्वयंप्रभा का कोई विशेष परिचय रामचरितमानस में उपलब्ध नहीं होता है। यहाँ तक कि मानस में उनके नाम की भी कोई चर्चा नहीं है। लेख में दिया गया नाम अन्य ग्रन्थों की सूचना के आधार पर ही है। मानस में स्वयंप्रभा का विशेष परिचय न दिया जाना उनके प्रति उपेक्षावृत्ति का सूचक नहीं है। इसके पीछे भी

गोस्वामीजी की अपनी भावुकता कार्य कर रही है। वे मानों इसके माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि भगवत्कृपा की अनुभूति कब किसके माध्यम से होगी इसे कोई भी नहीं बता सकता। महत्त्व व्यक्ति के नाम अथवा परिचय का नहीं है। भगवत्कृपा की अनुभूति जिसके माध्यम से भी हो वह अज्ञात-कुलहीन होते हुए भी वन्दनीय है। शबरी और स्वयंप्रभा दोनों के ही प्रसङ्गों में यह सिद्धान्त समान रूप से प्रतिपादित किया गया। शबरी यदि प्रभु को श्रीसीता जी की उपलब्धि का मार्ग बताती है तो स्वयंप्रभा के द्वारा बन्दरों को मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। दोनों ही प्रसङ्गों में परिचय का समान अभाव है।

बन्दरों के द्वारा उनका समाचार सुनकर स्वयंप्रभा ने यह अनुभव कर लिया कि इस समय इनकी सबसे बड़ी आवश्यकता भोजन और जल की उपलब्धि है। सत्सङ्ग और सद्विचार की बातें भी व्यक्ति को तभी प्रिय लगती हैं जब वह शारीरिक आवश्यकताओं से सतुष्ट हो। "भूखे भजन न होहिं गोपाला" की प्रसिद्ध लोकोक्ति अनुभूति और वास्तविकता पर ही आश्रित है। इसलिए भक्तिपथ में शरीर और उसकी आवश्यकताओं की कभी उपेक्षा नहीं की गई। "तन बिनु बेद भजन नहिं बरना" में शरीर को साधन के रूप में विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। स्वयंप्रभा का आदेश पाकर बन्दरों ने सुस्वादु फलों का भोजन कर, सरोवर के मधुर जल को पीकर तृप्ति का अनुभव किया :

मज्जनु कीन्ह मधुर फल खाए।
तासु निकट पुनि सब चलि आए॥

प्रारम्भ में बन्दरों ने स्वयंप्रभा को दूर से ही प्रणाम किया था। किन्तु परि-तृप्ति के बाद वे स्वयंप्रभा के सन्निकट आते हैं। तपस्वियों के साथ जुड़ी हुई उग्रता की अनेक गाथाओं के कारण ही बन्दर निकट जाने का साहस नहीं जुटा पाये थे। कोरे तपस्वी तेजस्विता के कारण क्रोधी स्वभाव के होते हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? किन्तु स्वयंप्रभा का जीवन भक्ति-रस की मिठास से ओत-प्रोत है। उनकी तपस्या का उद्देश्य सिद्धियों की उपलब्धि-मात्र नहीं है। पात्र में पवित्र रस रखने के लिए जैसे पहले उसे शुद्ध कर लिया जाता है उसी प्रकार भक्त तपस्या की अग्नि में अपने अन्तःकरण को शुद्ध करता है। जिससे भगवद्रस उसमें ग्रहण किया जा सके। स्वयंप्रभा का जीवन भी इसी भावना से ओत-प्रोत था। स्वयंप्रभा द्वारा किये गये वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से बन्दरों को उनके हृदय का परि-चय प्राप्त हुआ। इसीलिए पूर्ण परितृप्ति और आशा के साथ उन्हें अपनी समस्या सुनाई। स्वयंप्रभा ने उनका उद्बोधन करते हुए कहा कि आप लोगों को निराश नहीं होना चाहिए। मैथिली का दर्शन आप लोगों को प्राप्त होगा। मैं स्वयं भी अब

राघवेन्द्र का दर्शन करने के लिए उनके निकट जाऊँगी :

तेहिं सब आपनि कथा सुनाई।
मैं अब जाब जहाँ रघुराई॥
मूदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥

स्वयंप्रभा अपना दृष्टान्त देकर बन्दरों को आश्वस्त करना चाहती हैं—मैं भी आप लोगों की तरह ही एक साधिका हूँ। आप यदि भक्ति की खोज में संलग्न हैं तो मैं भगवान् की। आप लोगों ने मुझे भगवान् का पता बताया है, मैं भी आप लोगों को भक्ति-देवी की उपलब्धि का सांकेतिक मार्ग बता रही हूँ। साधकों का मिलन सर्वदा एक-दूसरे का सहायक सिद्ध होता है। इसके द्वारा वे परस्पर एक-दूसरे की समस्याओं से परिचित होते हैं। एक-दूसरे के अनुभवों को जानकर वे परस्पर लाभ के आदान-प्रदान की भावना से एक-दूसरे से लाभ उठाते हैं। साधकों में भी सब एक जैसी स्थिति में नहीं होते। स्वयंप्रभा निश्चित रूप से साधना की दृष्टि से इन बन्दरों से आगे थीं। वे भक्ति-रूपा सीता का रहस्य जान चुकी हैं और उन्हें "ज्ञान अखण्ड एक सीताबर" प्रभु को प्राप्त करना है। बन्दर ज्ञानधन राम के पास से आ रहे हैं और उन्हें भक्ति-देवी को पाना है। इन दोनों के परस्पर वार्तालाप के माध्यम से गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं को भी स्पष्ट किया है।

बहुधा यह प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद रहा है कि ज्ञान का फल भक्ति है अथवा भक्ति का फल ज्ञान।

गोस्वामीजी इस विषय में अपनी समन्वयी वृत्ति का परिचय देते हुए एक-दूसरे की उपलब्धि के माध्यम से दोनों की पूर्णता का क्रम स्वीकार करते हैं। ज्ञान के अभाव में भक्ति अपूर्ण है और भक्ति के अभाव में ज्ञान भी उतना ही अधूरा है। भगवान् राम और श्रीसीता को ज्ञान और भक्ति के घनीभूत रूप में स्वीकार करने के बाद यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। अब यह साधक के संस्कार और स्वभाव पर निर्भर है कि वह ज्ञान और भक्ति में किसे प्राथमिकता देता है। भावुक भक्ति को प्राथमिकता दे यह स्वाभाविक है। भक्ति की उपलब्धि के बाद वह चाहे अथवा न चाहे उसे ज्ञान प्राप्त होता ही है। उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि का चरित्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे प्रारम्भ में ज्ञानोपदेश को सुनने में अभिरुचि का प्रदर्शन नहीं करते हैं। फिर भी भगवान् राम अपनी बाल-लीला में उन्हें विज्ञान का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराते हैं। इसी प्रकार परमज्ञानी लोमश को भी काकभुशुण्डि के सान्निध्य से भक्ति-रस की विलक्षणता का बोध होता है। विनय-

पत्रिका में भी वे इसी समन्वय-सिद्धान्त का परिचय देते है। एक पद में वे स्वीकार करते हैं कि सारे दुःखों की जड़ द्वैत है। यदि मन अपने विकारों का परित्याग कर दे तो संशय, शोक आदि से उसे मुक्ति मिल जाती है। शत्रु, मित्र और उदासीन की कल्पना मन ने बलात् कर ली है और फिर इन्हीं को वह त्याग, राग और उपेक्षा का पात्र मान लेता है। अपने ही कल्पित विभाजन को वह सर्प, स्वर्ण और तिनके के समान यथार्थ मानकर इनसे ऐसा ही व्यवहार भी करता है। जैसे मणि में भोजन, वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार की वस्तुएँ रहती हैं उसी प्रकार स्वर्ग, नरक और विविध लोक भी मन में निवास करते हैं। जैसे वृक्ष में पुत्तलिका तथा सूत में बिना बनाये ही निर्मित वस्त्र रहा करता है वैसे ही मन में भी अनेक शरीर निवास करते हैं और उचित अवसर पाकर प्रकट होते हैं। भगवान् के भक्ति रूपी जल से जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब यह सत्य बिना प्रयास ही समझ में आ जाता है। तुलसीदास कहते हैं यह सृष्टि चैतन्य का विलास है, यह सत्य धीरे-धीरे समझ में आता है :

जौ निजमन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा॥
सत्रु मित्त मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए॥
रघुपति भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत-बूझत बूझै॥

इस पद में भक्ति के पश्चात् ज्ञान के उदय का वर्णन किया गया है। किन्तु दूसरी ओर वे ज्ञान के पश्चात् भक्ति की आवश्यकता का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—हे राघव ! मुझे तो कुछ ऐसा समझ में आता है कि बिना आपकी कृपा के मोह और माया दोनों नहीं छूट सकते। जो लोग महाकाव्य के श्रवण-मात्र से मुक्ति स्वीकार करते हैं, उसे अस्वीकार करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं, महाकाव्य, में निपुण हो जाने से ही कोई संसार को पार नहीं कर सकता। ठीक उसी प्रकार से जैसे दीपक के दिव्य वर्णन से अन्धकार दूर नहीं होता। एक दरिद्र वस्त्र और भोजन के अभाव में यदि दुःख पा रहा हो तो उसके घर में कल्पतरु और कामधेनु का चित्र बना देने से उसकी विपत्ति नष्ट नहीं हो जाती है। कोई व्यक्ति यदि

भोजन का वड़ा सुस्वादु वर्णन करे तो उससे क्षुधा शान्त नहीं हो सकती। दूसरा व्यक्ति भले ही वर्णन न कर रहा हो किन्तु भोजन करते ही तृप्ति प्राप्त कर लेता है, ठीक इसी तरह केवल भाषण देने से नहीं अपितु भक्ति के द्वारा ही इस दिव्य स्थिति का दर्शन किया जा सकता है। जब तक अपने हृदय में प्रकाश नहीं हो जाता और मन में विषयों की आशा बनी रहती है तब तक विविध योनियों में भटकता हुआ व्यक्ति स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता :

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु ! दास हित ! मोह न छूटै माया॥
वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीपकी बातन्ह तम निबृत्ति नहि होई॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति असन हीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै॥
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥

स्वयंप्रभा ने भक्तिदेवी की उपलब्धि के लिए बन्दरों को जो महामन्त्र प्रदान किया वह था—"मूँदहु नयन बिवर तजि जाहू, पैहहु सीतहि जनि पछिताहू।" इस पंक्ति को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सीता की प्राप्ति होगी, (२) पश्चात्ताप न करो, (३) नेत्र मूँदो और (४) विवर का परित्याग करो। साधक के जीवन में भक्ति की उपलब्धि का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। संशयालु व्यक्ति की यात्रा कभी पूर्ण नहीं होती, क्योंकि वह आगे पग बढ़ाकर फिर पीछे लौट आता है। वह सोचता है "इस घर का परित्याग करने के बाद कहीं ऐसा न हो कि वह मिले नहीं और यह चला जाये।" इसीलिए कबीर ने व्यंग्य किया जो अपना घर फूंक दे वही मेरे साथ चल सकता है :

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूंकै आपनो चलै हमारे साथ॥

सुदृढ़ विश्वास के अभाव में व्यक्ति संसार की आसक्ति को जला ही नहीं सकता है। भक्तिदेवी के चरणों में आसक्ति को अर्पित करने के लिए उसे संसार से मन को हटाना होगा। जिसे लक्ष्य की उपलब्धि में संशय है वह आगे बढ़ ही नहीं सकता।

पश्चात्ताप के मूल में पुरानी भूलों की स्मृति होती है। जहाँ तक यह आत्म-निरीक्षण और भविष्य की सजगता के लिए प्रयुक्त होता है, साधक के लिए कल्याण-कारी है। पर पश्चात्ताप का अतिरेक साधक को निराश बना देता है। यदि मार्ग में चलते हुए व्यक्ति को कहीं ठोकर लग जाये तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यात्री लौटकर बार-बार उस पत्थर को देखकर हाय-हाय करता हुआ चले। उसे तो आगे की ओर दृष्टि रखनी चाहिए जिससे फिर ठोकर न लगे। बन्दरों को विगत के चिन्तन की आवश्यकता नहीं है। यदि वे यह सोचने लगें कि हाय-हाय एक मास व्यर्थ गया, नहीं तो अब तक जनकनन्दिनी का पता लगाकर लौट आये होते तो यह निरर्थक पश्चात्ताप है। पश्चात्ताप का स्वरूप वह है जिसका वर्णन गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका के पद में इस रूप में किया है—अब तक भले ही जीवन नष्ट हुआ हो अब उसे नष्ट नहीं होने दूँगा। श्रीराम की कृपा से संसार-रूपी रात्रि बीत गयी है (मैं संसार की मायारात्रि से जाग गया हूँ)। अब जागने पर फिर (माया का) बिछौना नहीं बिछाऊँगा (अब फिर माया के फन्दे में नहीं फसूँगा) मुझे राम-नाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि मिल गया है। उसे हृदय-रूपी हाथ से कभी नहीं गिरने दूँगा। अथवा हृदय से राम-नाम का स्मरण करता रहूँगा, और हाथ से राम-नाम की माला जपा करूँगा। श्रीरघुनाथ जी का जो पवित्र श्यामसुन्दर रूप है उसकी कसौटी बनाकर अपने चित्त-रूपी सोने को कसूँगा, अर्थात् यह देखूँगा कि श्रीराम के ध्यान में मेरा मन सदा-सर्वदा लगता है कि नहीं। जब तक मैं इन्द्रियों के वश में था तब तक इन्होंने मुझे मनमाना नाच नचाया अब अपने ऊपर अधिकार कर लेने पर उनकी हँसी का पात्र नहीं बनूँगा। अब तो अपने मन-भ्रमर को प्रभु के चरण-कमलों में लगा दूँगा। उसे अन्यत्र नहीं जाने दूँगा :

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिन्तामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

"विवर तजि जाहू" से साधक को मध्यमार्ग में न रुकने की प्रेरणा दी गयी है। इस गुफा में सुस्वादु फलों के वृक्ष हैं। मधुर जल से पूर्ण सरोवर है। बन्दरों को लग सकता है कि पता नहीं जनकनन्दिनी का दर्शन होगा या नहीं, अतः आगे बढ़ने का श्रम क्यों करें? पीछे लौटने में सुग्रीव के द्वारा मृत्युदण्ड दिये जाने का भय है अतः क्यों न इस गुफा में बस जाया जाये। वस्तुतः प्रत्येक साधक के समक्ष इस

प्रकार की समस्या आती है। सबसे पहले साधक में नैराश्य और संशय का उदय होता है पर इसके बाद भी यदि साधक बढ़ता ही जाये तो उसके समक्ष अनेक आकर्षक प्रलोभन आते हैं। इन प्रलोभनों को छोड़कर आगे बढ़ पाना सबसे कठिन कार्य है। प्राचीनकाल से अब तक अनगिनत साधक इस प्रलोभन से डिगकर लक्ष्य से विरत होते रहे हैं। आज के युग के तथाकथित चमत्कारी सिद्धों में अधिकांश इसी श्रेणी में आते हैं। यह समस्या प्रेममूर्ति श्रीभरत और भक्ताग्रगण्य आञ्जनेय के समक्ष भी आई। दोनों भिन्न-भिन्न पद्धतियों से इस प्रलोभन पर विजय प्राप्त करते हैं। महर्षि भरद्वाज के द्वारा किया जाने वाला श्रीभरत का स्वागत इसी श्रेणी में था। श्रीभरत ने महर्षि द्वारा दिया जाने वाला आमन्त्रण पुरवासियों को दृष्टिगत रखकर ही स्वीकार कर लिया। महर्षि के प्रति समादर प्रकट करने के लिए भी यह आमन्त्रण स्वीकार करना पड़ा। किन्तु प्रलोभनों से दूर श्रीभरत उस रात्रि को इस प्रकार व्यतीत करते हैं जैसे कौतुक के लिए चक्रवाक को चक्रवाकी के साथ रात्रि में बन्दी बना दिया जाये किन्तु प्रकृति के नियमों के कारण वे एक-दूसरे से सर्वथा विमुख ही बने रहें :

संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार॥

पवननन्दन ने मैनाक पर्वत द्वारा दिये गए आमन्त्रण को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। यदि पथ में चलता हुआ पथिक प्रत्येक छायादार वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे तो वह लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकता है। विनयपत्रिका में भी गोस्वामीजी अपने मन को सावधान करते हुए यही उपदेश देते हैं—अरे मेरे मन, तू राम-नाम का जप कर, राम-नाम रट और राम-नाम में ही रमण कर। राम-नाम रूप मेघ के लिए तू हठपूर्वक पपीहा बन जा। अन्य सारे साधन कुएँ, सरोवर, नदियों और समुद्र के समान हैं। पर तू तो राम-नाम स्वाति-सुधा का प्यासा बन। साधना के पथ पर तू एकाङ्गी प्रेम को आदर्श बनाकर चल। मार्ग के प्रत्येक छायादार वृक्ष के नीचे विश्राम न कर। तेरा भला तो राम-नाम से विशुद्ध और कपटरहित प्रेम करने में ही है :

राम-राम रमु, राम-राम रटु, राम-राम जपु जीहा।
राम-नाम नव-नेह-मेह को मन! हठि होहि पपीहा॥
सब साधन-फल कूप-सरित-सर सागर-सलिल-निरासा।
राम-नाम-रति स्वाति-सुधा-सुभ सीकर प्रेम पियासा॥

गरजि, तरजि, पाषान बरषि पबि, प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक-अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै।।
राम-नाम-गति, राम-नाम-मति, राम-नाम-अनुरागी।
ह्वै गये, हैं, जे होंहिगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड़भागी।।
एक अंग मग अगमु गवन कर, बिलमु न छिन-छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं।।

स्वयंप्रभा का सबसे महत्त्वपूर्ण उपदेश था—"मूँदहु नयन" नेत्र मूँद लो। यह मानस का महामन्त्र है जो मानस के प्रत्येक घाट में मान्य है।

ज्ञानघाट के महान् आचार्य भगवान् शिव तो बहुधा नेत्र मूँदे हुए ही रहते हैं। अपने ही अनास्थ स्वरूप में संलग्न शिव की दृष्टि बाहर जा भी कैसे सकती है। उनकी अखण्ड समाधि के वर्ष ही अपनी विशालता से अभिभूत कर लेते हैं :

संकर सहज सरूप सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा।।
× ×
बीते संबत सहस सतासी।
तजी समाधि संभु अविनासी।।

भगवान् शिव की दृष्टि में "मूँदहु नयन" का अर्थ है अन्तर्मुख होकर स्वरूप के अनुसन्धान में संलग्न हो जाना अथवा स्व-स्वरूप में अवस्थिति। व्यक्ति की बहिर्मुखी दृष्टि बाहर की ओर ही देख पाती है। सुख की खोज में भटकने वाली यह दृष्टि जहाँ-तहाँ अटककर भी लक्ष्य को ढूँढ़ पाने में असमर्थ रहती है। इसे मूँदकर जब अपने ही स्वरूप का अनुसन्धान साधक करता है तब उसे ज्ञात हो जाता है कि आनन्द का वह केन्द्र तो स्वयं उसके भीतर ही था :

आनन्द सिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कत मरसि पियासा।।

दृष्टि के माध्यम से ही जो साक्षात्कार करना चाहते हैं वे दृष्टि की सीमाओं से ही परिचित नहीं हैं। इसीलिए रामचरितमानस में जिन लोगों ने श्रुति की अवहेलना की और दृष्टि को ही सर्वाधिक प्रामाणिक मान लिया उन्हें भ्रमित होकर दुःख उठाना पड़ा। इसमें सती-जैसी पतिव्रता और रावण-जैसा मिथ्याचारी दोनों ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। दोनों ने भगवद्रहस्य को न सुनकर मानों 'श्रुति' की ही अवहेलना की। सती महर्षि अगस्त्य के द्वारा कथित

भगवत्कथा की अवहेलना करती हैं, और रावण मारीच के द्वारा बताये गये अनुभवों की पूर्ण उपेक्षा करता है।

दोनों ही प्रत्यक्ष को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। सती इसी दृष्टि से परीक्षा लेने के लिए जाती हैं, किन्तु वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी त्रुटि को स्वीकार कर लिया। इसीलिए वे प्रभु का दिव्य ऐश्वर्य देखकर आँखें मूंद लेती हैं :

सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।
देखि सती अति भईं सभीता॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं।
नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥

किन्तु रावण अपनी दृष्टि को प्रामाणिक मानकर जीवन-भर भगवान् राम को एक साधारण मनुष्य मानता रहा। इसीलिए रावण को अन्धे और बहरे की उपाधि प्रदान की गई। जो व्यक्ति श्रुति की अवहेलना कर दृष्टि के माध्यम से प्रभु के विषय में भ्रान्त हो गया, अंगद ने उसे बीस आँख वाला अन्धा तथा बीस कान वाला बधिर कहकर केवल अपमानित करने का प्रयास ही नहीं किया था :

हम कुल घालक सत्य तुम्ह कुल पालक दससीस।
अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस॥

विनयपत्रिका में गोस्वामीजी नेत्र मूंदने का सांकेतिक दर्शन इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—समस्त विश्व-प्रपंच को अपने उदर में समेटकर निद्रा छोड़कर सोने वाला योगी ही उस हरिपद का अनुभव कर सकता है जो द्वैत प्रपंच से सर्वथा दूर है :

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।

कर्मशास्त्र में भी "नयन मूंदि" की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यवहार में जो व्यक्ति अनदेखा करना नहीं जानता वह निरन्तर संघर्ष की सृष्टि करता हुआ स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी पीड़ा पहुँचाता है। जनक की सभा में क्रुद्ध परशुराम ने जब लक्ष्मण को आँखों से दूर कर देने के लिए कहा तब रामानुज ने 'स्वगत' जिस व्यंग्य का प्रयोग किया उसमें इसी तथ्य की ओर इङ्गित किया गया है :

बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा।
देखत छोट खोट नृप ढोटा॥

बिहसे लखनु कहा मन माहीं।
मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं॥

भक्ति और दैन्य में तो "मूँदहु नयन" सर्वोत्कृष्ट स्थान रखता है। यह भक्ति-शास्त्र में समर्पण और विश्वास का प्रतीक है। नेत्र व्यक्ति के विवेक और पुरुषार्थ का प्रतीक है। आँख मूँद लेने का अर्थ है स्वयं की असमर्थता को स्वीकार करते हुए प्रभु के प्रति समर्पित हो जाना। स्वयंप्रभा का संकेत इसी ओर था। वन्दरों ने समग्र पुरुषार्थ का प्रयोग करते हुए अब तक भक्तिदेवी को पाने का प्रयास किया किन्तु वे इस प्रयत्न में असफल रहे। भक्तिदेवी की उपलब्धि किसी प्रयत्न और पुरुषार्थ से सम्भव नहीं है। उन्हें विश्वास और समर्पण के माध्यम से ही पाया जा सकता है। स्वयंप्रभा का यह उपदेश प्रत्येक साधक के लिए शाश्वत रूप में प्रेरक है।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥
× ×
कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥

अर्थ—अंगद बार-बार सबसे कहते हैं कि अब मरण हुआ इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अंगद ने मन में विचारकर कहा—अहा ! जटायु के समान धन्य कोई नहीं है।

स्वयंप्रभा की आज्ञा से नेत्र मूँदते ही बन्दर गुफा के स्थान पर स्वयं को समुद्र के तट पर पाते हैं। किन्तु स्वयंप्रभा की भविष्यवाणी बन्दरों को सत्य होती हुई प्रतीत नहीं हुई। क्योंकि उन्हें आश्वासन मिला था, "पैहहु सीतहिं" किन्तु सामने विशाल समुद्र लहरा रहा था। बन्दरों को ऐसा लगा कि आगे जाना अब सम्भव नहीं है। धरित्री-सुता के जहाँ तक पाये जाने की सम्भावना थी वह सीमा समाप्त हो चुकी है। चरम निराशा की मनःस्थिति में वे शरीर के परित्याग का संकल्प करते हैं। इस यात्रा में बन्दरों की मनःस्थिति में नैराश्य के जो दो दौर आते हैं उनमें यह सबसे भयानक था। प्रथम दौर में वे संशयग्रस्त थे अतः चरम नैराश्य का क्षण उस अवसर पर नहीं आया। एक प्रकार की अन्तर्द्वन्द्वमयी दुविधा वहाँ विद्यमान है। किन्तु इस समय बन्दरों की जो मनःस्थिति थी उसे चरम नैराश्य का क्षण कह सकते हैं। स्वयंप्रभा के द्वारा बन्दरों को जो आश्वासन प्राप्त हुआ था उसके कारण बन्दरों के मन में एक नयी आशा जाग्रत हो गई थी। उनके वाक्यों का बन्दर सही अर्थ नहीं ले पाये। उन्होंने यह कल्पना कर ली कि नेत्र मूँदने के

तत्काल बाद मिथिलेशनन्दिनी की उपलब्धि हो जायेगी। उस बालक की भाँति जो पृथ्वी में बीज डालने के पश्चात् उतावलेपन के कारण कुछ क्षणों में ही उनके अंकुरित होने की आशा करे और अंकुर को प्रत्यक्ष न देखकर उसे अँगुली से कुरेद कर देखने की चेष्टा करे। नेत्र मूँदने और मैथिली को पाने के बीच की प्रक्रिया का वर्णन स्वयंप्रभा ने ही किया था। वे अपनी भूमिका से परिचित थीं, उन्होंने सङ्केत-मात्र दिया था। कहते हैं, देवता परोक्षप्रिय होते हैं "परोक्ष प्रिया देवा:", इसलिए उनका वर्णन बहुत स्पष्ट रूप में नहीं किया जाता है। अत: स्वयंप्रभा ने संध्या भाषा का प्रयोग किया।

साधक के जीवन में आचार्य के वचनों पर प्रगाढ़ विश्वास की अपेक्षा है और उस विश्वास के फलित होने के लिए असीम धैर्य भी अपेक्षित है। शबरी का जीवन इस दृष्टि से महान् प्रेरणा प्रदान करने वाला है। महर्षि मतंग ने उन्हें यह आशीर्वाद प्रदान किया था कि प्रभु का दर्शन कर वे धन्य होंगी। उन वचनों को आधार मानकर ही वे प्रतिदिन प्रभु की प्रतीक्षा करती रहीं। न जाने कितने वर्ष तक प्रभु का पथ निहारते हुए भी वे निराश नहीं हुईं। और जब लम्बी प्रतीक्षा के बाद प्रभु के मङ्गलमय श्रीचरणों का साक्षात्कार हुआ तब वे महर्षि मतङ्ग के वचनों को स्मरण कर गद्‌गद हो उठीं :

सबरी देखि राम गृहँ आए।
मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥

बन्दरों की मन:स्थिति इस प्रकार की नहीं थी। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण था। सुग्रीव के द्वारा दी जाने वाली एक मास की अवधि के कारण ही बन्दर उतावले हो उठे थे। यद्यपि सुग्रीव ने यह नहीं कहा था कि एक मास में ही मैथिली का साक्षात्कार किया जाना चाहिए। उनका कहना तो केवल यह था कि एक मास की अवधि के पश्चात् भी जो मैथिली की बिना सुधि प्राप्त किये लौटेंगे उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा। बन्दरों के लिए यह अवधि ही सर्वाधिक महत्त्व की थी और समय व्यतीत होने के साथ-साथ उनकी निराशा भी बढ़ती ही गई। साधक के जीवन में दोनों ही प्रकार के पतन की आशंकाएँ हैं। यदि समय की कोई सीमा निर्धारित न की जाये तो उसमें तमोगुण और आलस्य के आने की सम्भावना रहती है, किन्तु समय की अवधि दिये जाने से वह हतोत्साह हो सकता है। साधक को इन दोनों चरम बिन्दुओं से बचने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु बन्दर नैराश्य के चरम बिन्दु पर पहुँचकर प्राण परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण नेता का नैराश्य है। अङ्गद के नेतृत्व में ही

यह दल जनकनन्दिनी की खोज में चला था। गुफा में प्रविष्ट होते हुए यद्यपि आञ्जनेय को ही आगे कर लिया गया था किन्तु व्यवस्था के अनुसार नायकत्व अब भी अङ्गद के ही हाथ में था। अङ्गद कुछ मानसिक ग्रन्थियों में उलझे हुए थे। सुग्रीव के प्रति उनके अन्तःकरण में रञ्चमात्र आदर नहीं था। पिता की मृत्यु में वे मुख्य रूप से सुग्रीव को ही प्रेरक मानते थे। प्रभु के कार्य में दोष न दिखाई देते हुए भी वे कभी सुग्रीव को क्षमा नहीं कर पाये। सुग्रीव के द्वारा तारा के पुनर्वरण से उनका आक्रोश और भी उमड़ पड़ा हो यह स्वाभाविक था। सुग्रीव के प्रत्येक कार्य में अङ्गद को अपने प्रति विद्वेष दिखाई देता था। प्रभु के द्वारा युवराज-पद दिलाये जाने पर जहाँ उनके अन्तःकरण में प्रभु के प्रति कृतज्ञता की भावना का उदय हुआ वहाँ उन्हें यह आशंका भी सताने लगी कि सुग्रीव उन्हें अपने मार्ग से हटाने के लिए कोई-न-कोई षड्यन्त्र रच रहे होंगे। स्वयं के नेतृत्व और एक मास की अवधि को भी वे इसी सन्दर्भ में देखते हैं। उन्हें लगने लगा कि मुझे मृत्युदण्ड देने के लिए इससे अधिक उपयुक्त कोई बहाना नहीं हो सकता। जब नेता इस मनःस्थिति से पीड़ित हो तब दल पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। गोस्वामीजी इन पंक्तियों में अङ्गद और उनके दल की मनःस्थिति का वर्णन करते हैं :

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।
बीती अवधि काज कछु नाहीं॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता।
बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता॥
कह अंगद लोचन भरि बारी।
दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई।
उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥
पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही॥
पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥

अङ्गद की इस मनःस्थिति से उन्हें उबारने का प्रयास जाम्बवान् ने किया। जाम्बवान् ब्रह्मा के अंश से उद्भूत माने जाते हैं। बुद्धि के देवता ब्रह्मा के विचार के माध्यम से उस नैराश्य को दूर करने की चेष्टा की जो सारे बन्दरों में अङ्गद की वाणी सुनकर उत्पन्न हो गई थी। अङ्गद विचित्र विरोधाभास से पीड़ित हैं। एक

ओर वे श्रीराम की सराहना करते हैं तो दूसरी ओर सुग्रीव की निन्दा करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। यदि श्रीराम के विवेक पर उन्हें विश्वास है तो यह मानना कैसे उपयुक्त हो सकता है कि वे सुग्रीव से प्रभावित होकर ही बालि का वध करते हैं। यदि उन्हें प्रभावित किया जा सकता है तो उनके विवेक में त्रुटि भी स्वीकार करनी होगी। यदि बालि-वध के लिए सुग्रीव दोषी हैं तो राघवेन्द्र का दोष और भी गुरुतर हो जाता है। बालि और सुग्रीव में परस्पर मनोमालिन्य था। सुग्रीव को घर से निष्काषित किया गया था। उनकी पत्नी और सम्पत्ति से उन्हें वञ्चित कर दिया गया था। ऐसी स्थिति में बालि के प्रति उनका द्वेष अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। पर राघव की कोई हानि बालि के द्वारा नहीं हुई थी। वे बालि से परिचित तक नहीं थे। तब भी उन्होंने बालि पर छिप-कर प्रहार किया। इसलिए तार्किक आधार पर राम को ही अधिक दोषी माना जाना चाहिए। किन्तु सुग्रीव के प्रति अङ्गद के मन में इतना गहरा द्वेष था कि वे सारा दोष सुग्रीव पर ही मढ़ना चाहते हैं। वस्तुत: राम को एक व्यक्ति मानकर ही ऐसी विरोधाभासपूर्ण मनोवृत्ति में रहा जा सकता है। राम के साक्षात् ब्रह्मत्व को समझ कर ही इस समस्या को सही सन्दर्भ में समझा जा सकता है। जिसे स्वयं प्रभु राम ने अपने सख्य का सम्मान दिया हो, जिन्हें शरण में लेकर उन्होंने बालि-वध किया हो उन सुग्रीव के प्रति विद्वेष प्रभु का ही असम्मान है। इसी दृष्टि से जाम्बवान् ने राम के ईश्वरत्व की ओर सङ्केत करते हुए अङ्गद को सावधान करने का प्रयास किया—प्रिय युवराज ! राम को मनुष्य नहीं मानना चाहिए। वे तो निर्गुण और अजित ब्रह्म हैं। हम सब बड़े भाग्यशाली हैं जो सगुण ब्रह्म के चरणों में हमारा स्नेह है। भगवान् अपनी ही इच्छा से देवता, पृथ्वी और गो-ब्राह्मण का हित करने के लिए अवतार लेते हैं। उस समय सगुणोपासक भक्त भी मोक्ष-सुख का परित्याग करके उनकी लीला में भाग लेने के लिए आते हैं :

जामवंत अंगद दुःख देखी।
कहीं कथा उपदेस बिसेषी।।
तात राम कहुँ नर जनि मानहु।
निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।।
हम सब सेवक अति बड़भागी।
संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।।

अङ्गद राम को ईश्वर न मानते हों ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु ऐसा सुदृढ़

विश्वास जो संशय से आच्छन्न न हो बड़ा कठिन है। साधक के अन्तर्मन में संशय-विश्वास का यह क्रम आता-जाता रहता है। भगवान् भुवनभास्कर सूर्य का प्रकाश भी धूल या बादल के कारण कभी-कभी आच्छन्न-सा प्रतीत होता है। बादल और धूल के कारण सूर्य विनष्ट नहीं होता किन्तु उससे कुछ समय के लिए प्रकाश से अवश्य वञ्चित होना पड़ता है। भगवान् शिव पार्वती के संशय का समाधान करते हुए यही दृष्टान्त सामने रखते हैं :

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥

× ×

उमा राम बिषइक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

आकाश में कभी धूल या बादल हो ही नहीं, यह असम्भव है। इसी तरह साधक के हृदय में भी तम और रज के अंश का सर्वथा अभाव सम्भव है। अङ्गद भी उन साधकों में से एक हैं जिनका अन्तःकरण कभी-कभी तमोगुण और रजोगुण से आक्रान्त हो जाता है। आज भी वे इसी मनःस्थिति में थे। जाम्बवान् की दिव्य वाणी से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। सत्सङ्ग की जो इतनी महिमा गाई जाती है उसका रहस्य यही है। वायु का झोंका जैसे बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है और सूर्य अपने सहज रूप में प्रकाश देने लगता है उसी तरह सन्त की वाणी भी 'मोह महाघन पटल प्रभञ्जन' बनकर साधक को भ्रान्ति-मुक्त कर देती है। अङ्गद पर इस समय सत्सङ्ग का कितना प्रभाव पड़ा यह आगे पढ़ने को मिलता है। प्रारम्भ में स्वयं निराश अङ्गद बाद में सारे बन्दरों को भय से मुक्त करने में समर्थ होते हैं। यह भय सम्पाती की ओर से आया।

बन्दरों के वार्तालाप को गिरि-कन्दरा में बैठे हुए गीध ने सुना। गिरि-गुहा से बाहर निकलकर बन्दरों की विशाल भीड़ को उसने समुद्र-तट पर बैठे हुए देखा। उसे ऐसा लगा कि सम्भवतः ब्रह्मा ने उसके लिए विशाल भोज की व्यवस्था की है। उसकी प्रसन्नता वाणी के माध्यम से भी व्यक्त हुई। वह कहने लगा—बहुत दिनों से मैं अल्पाहार से पीड़ित था। आज एक साथ ही मुझे इतने बन्दर प्राप्त हो गये हैं मैं इन्हें खाकर अपनी क्षुधा शान्त करूँगा :

एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती।
गिरि कंदराँ सुनी संपाती॥

बाहेर होइ देखि बहु कीसा।
मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।।
आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ।।
कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा।
आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा।।

गीध की वाणी सुनते ही सारे बन्दर आतंकित हो गये। कुछ क्षण पहले जो वाक्य अकेले अङ्गद दुहरा रहे थे वही प्रत्येक बन्दर के मुख से निकलने लगा। अङ्गद ने व्याकुलता-भरे स्वर में एक ही वाक्य बार-बार दुहराया कि हम लोगों की मृत्यु अवश्यम्भावी है :

पुनि-पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं।।

अङ्गद के द्वारा यह वाक्य बार-बार दुहराये जाने पर भी उस समय किसी बन्दर के द्वारा उसका समर्थन न किया जाना बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है। पर सन्दर्भ को देखकर इसे बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। अङ्गद सुग्रीव की आलोचना के साथ-साथ इस वाक्य को जोड़ देते हैं। अधिकांश बन्दर अङ्गद के द्वारा की जाने वाली आलोचना से सहमत नहीं थे, और यदि कुछ सहमत भी रहे हों तो इस भय के मारे समर्थन नहीं कर सकते थे कि यह बात सुग्रीव के पास पहुँचकर उनके लिए संकट का कारण बन सकती है। किन्तु सम्पाती के रूप में मृत्यु का जो भय उनके सामने उपस्थित हुआ उस समय सारे बन्दर अङ्गद के वाक्य की ही पुनरावृत्ति-सी करने लगे :

डरपे गीध बचन सुनि काना।
अब भा मरन सत्य हम जाना।।

मृत्यु जीवन का अमिट सत्य है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। पर उस मृत्यु की अपरिहार्यता को बार-बार दुहराना बहुत विवेक-सङ्गत नहीं कहा जा सकता है। जो परिहार्य है उसका हम जीवन में कैसे स्वागत करें, सर्वाधिक महत्त्व का प्रश्न यह है। मृत्यु के नाम पर आँसू बहाना या आतङ्कित होना व्यर्थ है। मृत्यु स्वयं भी बाध्य है। वह किसी के प्रार्थना करने या गिड़गिड़ाने से द्रवित होकर लौट नहीं सकती है। तब मुस्कराते हुए उसका स्वागत करने वाला ही सच्चा वीर है। दक्षिण दिशा की ओर जाने वाले सारे बन्दर महान् वीर

थे। उनका इस प्रकार आतङ्कित होना कई अध्येताओं को बड़ा अस्वाभाविक प्रतीत होता है। समर्थ शक्तिशाली वन्दरों का एक बूढ़े गीध को देखकर आतङ्कित होना विचित्र भले ही लगे पर यह अस्वाभाविक नहीं था। चरम नैराश्य के क्षणों में व्यक्ति स्वयं आत्म-विस्मृत हो जाता है। मानस में जीव को ईश्वर का अंश बताया गया है। और वह भी अंशी के गुणों से युक्त है। वह चेतन अविनाशी और सुखस्वरूप हैं :

ईश्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

किन्तु वह भी तो अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को देह मान लेता है। तभी उसे मृत्यु का भय सताता है। वन्दरों के समक्ष उस समय अपने बल को गीध से तोलने का प्रश्न नहीं था। वे गीध को साक्षात् काल के प्रतीक के रूप में देख रहे थे। एक बलवान या बुद्धिमान व्यक्ति अपशकुन देखकर जब भयभीत होता है तब उसका भी मनोविज्ञान यही होता है। बिल्ली या शृगाल के द्वारा मार्ग काट दिये जाने पर उसके घबरा जाने का कारण यह नहीं है कि ये जन्तु उससे शक्तिशाली हैं। वह इसे भावी की सूचना मानकर आतङ्कग्रस्त होता है। बन्दरों की मनःस्थिति भी इसी प्रकार की थी। मृत्यु की चर्चा जब चल रही हो उसी समय गीध का दिखाई देना भविष्य का परिचायक-सा प्रतीत हुआ। गीध की आत्म-विश्वास-भरी वाणी 'आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ' ने इस आतङ्क को और बढ़ा दिया। पर अङ्गद ऋक्षपति की वाणी से उस समय तक आतङ्क और भ्रम से मुक्त हो चुके थे इसका प्रमाण तब मिला जब अङ्गद ने विचारपूर्ण वाणी में जटायु का स्मरण किया—जटायु के समान धन्य कौन होगा, जिसने राम-कार्य के लिए देह का परित्याग कर दिया। फलस्वरूप भाग्यशाली गीध प्रभु के धाम में गया :

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥
राम काज कारन तनु त्यागी।
हरि पुर गयउ परम बड़भागी॥

अङ्गद की वाणी में नीति और प्रीति दोनों ही का समन्वय था। गीध को बन्दरों ने अपशकुन के रूप में देखा था। अङ्गद उनकी इस धारणा को मिटाने के उद्देश्य से गीधराज जटायु का स्मरण करते हैं। गीध संसार के लोगों के लिए भले ही अपशकुन हो, भक्ति-मार्ग के पथिकों के लिए उनसे बढ़कर पावनता का प्रतीक कौन होगा ? जिसको देखकर भगवान्, भक्त और भक्ति की स्मृति हो। भक्त

उसकी तुलना में किसे पूज्य मान सकता है ? इस गीध को देखकर भक्तराज जटायु की स्मृति हो आई। जिनकी स्मृति से जुड़ी हुई है जनकनन्दिनी और प्रभु के पावन प्रेम की गाथा। इस प्रसङ्ग में महाभारत की उस विलक्षण गाथा की स्मृति आती है जिसमें आञ्जनेय और भीमसेन के अनोखे मिलन का वर्णन किया गया है।

द्रौपदी की प्रसन्नता के लिए भीमसेन सौगन्धिक पुष्प लाने के लिए कदली वन की ओर प्रस्थान करते हैं। भीम कहीं कोई अपराध कर महापुरुषों के कोप-भागी न बनें यह सोचकर आञ्जनेय बूढ़े कपि के रूप में मार्ग रोककर लेट गये। उद्दण्ड भीम ने तिरस्कारपूर्वक बूढ़े बन्दर से मार्ग छोड़ देने के लिए कहा। वृद्ध कपि ने मुस्कराते हुए कहा—"वीर, वृद्धावस्था के कारण मैं उठने में असमर्थ हो गया हूँ। तुम मेरी पूँछ हटाकर चले जाओ।" महान् योद्धा भीम जब सारी शक्ति लगाकर भी पूँछ को टस-से-मस नहीं कर पाये तब उन्होंने नत होकर वृद्ध कपि से उनका परिचय पूछा। मारुतिनन्दन से उनका परिचय जानकर भीम उनके चरणों में गिर पड़े। मारुति ने उठाकर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। भीम को प्रतीत हुआ कि आञ्जनेय ने मुझे छोटे भाई के रूप में देखकर मुझ पर कृपा की है। किन्तु हनुमान ने कहा कि तुम्हें हृदय से लगाकर मैं अपने नर-रूपधारी प्रभु के सामीप्य का अनुभव कर रहा हूँ :

ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चामि राघवम्।
रामाभिद्यानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम्।।

वस्तुतः आञ्जनेय के इस उत्तर में ही भक्त की सच्ची भावना का परिचय प्राप्त होता है। गीध अथवा काक, लोकदृष्टि से भले ही अपावन हों पर रामभक्त के लिए इन दोनों की स्मृति जटायु और काकभुशुण्डि से सम्बद्ध कर देती है। इस तरह अङ्गद ने जहाँ भक्तराज जटायु की स्मृति से बन्दरों को आश्वस्त करने का प्रयास किया वहाँ युवराज के रूप में राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय देते हुए सम्पाती को बन्दरों के प्रति सहानुभूतियुक्त बनाने की चेष्टा की। "यदि एक गीध मैथिली की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर सकता है तो दूसरा उसी का जाति-बन्धु सीता के अन्वेषण में तत्पर बन्दरों को खाने का प्रयास कैसे कर सकता है ?" फिर जटायु की स्मृति से प्रेरणा प्राप्त करने का दर्शन भी अङ्गद बन्दरों के समक्ष रखना चाहते हैं—"यदि जर्जर जटायु भी माँ मैथिली की रक्षा करने के लिए अपने को बलिदान कर देते हैं तो हम लोग उन्हीं के पथ का अनु-सरण करते हुए क्या अपने प्राणों का उत्सर्ग नहीं कर सकते हैं ? गीधराज जटायु की भाँति ही माँ मैथिली के अन्वेषण में यदि हम लोग स्वयं को समर्पित कर सकें तो मृत्यु हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।"

अङ्गद के इस उद्बोधन ने न केवल बन्दरों को आश्वस्त बनाया अपितु सम्पाती के मन में भी अपने छोटे भाई के चरित्र के श्रवण की तीव्र उत्कंठा उत्पन्न कर दी। जामवन्त के उद्बोधन को उन्होंने सचमुच ही चरितार्थ कर सत्सङ्ग की महिमा को प्रकट किया।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।
राम कृपाँ कस भयउ सरीरा॥

अर्थ—मुझे देखकर मन में धैर्य धारण करो। श्रीराम की कृपा से मेरा शरीर कैसा हो गया है।

हताश और किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन्दरों का उद्‌बोधन करने के लिए सम्पाती ने उन लोगों को अपनी ओर देखने के लिए कहा। कुछ पात्र इतने महान् होते हैं कि व्यक्ति उन्हें देखकर श्रद्धा से अभिभूत तो हो सकता है किन्तु उनसे प्रेरणा प्राप्त करने में स्वयं को असमर्थ पाता है। एक दुर्बल व्यक्ति जब किसी ऐसे पात्र को सामने पाता है जिसके व्यक्तित्व में कभी दुर्बलता का उदय न हुआ हो तब वह अपनी ओर देखकर निराश हो जाये यह स्वाभाविक ही है। किन्तु इसके स्थान पर जब कोई ऐसा इतिहास आता है कि जिसका नायक एक ऐसा व्यक्ति जो दुर्बल होते हुए भी प्रयास और साधना के द्वारा ऊपर उठा हो तब व्यक्ति आश्वस्त होता है और यह सोच सकता है कि वह भी ऊपर की ओर उठ सकता है। सम्पाती का जीवनचरित्र भी इसी प्रकार का था। इसीलिए उसने बन्दरों से यह अनुरोध किया कि वे उसकी ओर दृष्टि डालें। सम्पाती ने अपनी जीवन-गाथा इस रूप में प्रस्तुत की—हम और जटायु दोनों सगे भाई हैं। युवावस्था में हम दोनों ने सूर्य तक पहुँचने का संकल्प किया किन्तु सूर्य के असह्य तेज से व्याकुल होकर जटायु पृथ्वी की ओर लौट आया और मैं अभिमान के कारण सूर्य की ओर बढ़ता

ही गया। अन्त में ताप से झुलसकर मैं पृथ्वी पर आ गिरा। महर्षि चन्द्रमा के अन्त:करण में मुझे देखकर दया उत्पन्न हुई। उन्होंने उपदेश देकर मुझे देहाभिमान से मुक्त कर दिया। साथ ही उन्होंने मुझे यह आश्वासन दिया कि त्रेतायुग में ब्रह्म मनुज-शरीर धारण करेगा। उस समय उनकी पत्नी का अपहरण राक्षसराज रावण के द्वारा किया जायेगा। उनकी खोज के लिए जो बन्दर भेजे जायेंगे उन्हें तुम मिथिलेशनन्दिनी का पता बतला देना, इससे तुम्हें नवीन पङ्ख प्राप्त हो जायेंगे। महर्षि की वाणी आज सत्य सिद्ध हुई। आप लोग अब मेरे वाक्यों को सुनकर उसी के अनुकूल कार्य करें :

अनुज क्रिया करि सागर तीरा।
कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा॥
हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई।
गगन गए रबि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा।
मैं अभिमानी रबि निअरावा॥
जरे पंख अति तेज अपारा।
परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥
मुनि एक नाम चंद्रमा ओही।
लागी दया देखि करि मोही॥
बहु प्रकार तेंहि ग्यान सुनावा।
देह जनित अभिमान छड़ावा॥
त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही।
तासु नारि निसिचर पति हरिही॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता।
तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता।
तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।
सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू॥

गीध की आत्मकथा साधकों के लिए अत्यन्त प्रेरक है। उनका संस्मरण उस तरह प्रारम्भ नहीं होता जिस तरह परम्परा से प्रचलित गाथाओं में देखा जाता है। न तो वे अपने माता-पिता का परिचय देते हैं, न जन्मभूमि का। बाल्यावस्था से युवावस्था तक की अपनी जीवनी सुनाने की भी वे कोई आवश्यकता नहीं

समझते हैं। चन्द्रमा मुनि के सत्सङ्ग का ही यह प्रभाव था कि सम्पाती ने आत्म-विज्ञापन से दूर जीवनचरित्र ही बन्दरों को सुनाया। सम्पाती की प्रारम्भिक मनोवृत्ति आत्मविज्ञापन से भरी हुई थी। सूर्य तक पहुँचने का प्रयास भी अहं की ख्याति के लिए ही तो था। सूर्य प्रकाश के देवता हैं। आस्तिक उनका प्रत्यक्ष दर्शन करता है। संध्या के द्वारा उनकी आराधना करता है। उसका सारा कार्य-व्यापार भी सूर्य के द्वारा सञ्चालित होता है। किन्तु वह सूर्य के निकट पहुँचने का प्रयास नहीं करता है। सम्पाती के अन्तःकरण में सूर्य पर विजय पाने की आकांक्षा थी, वह स्वयं को सूर्य की अपेक्षा अधिक तेजस्वी सिद्ध करना चाहता था। उसने अपने अभिमान में छोटे भाई जटायु को भी सम्मिलित कर लिया। अवश्य ही जटायु का स्वभाव सम्पाती से भिन्न था किन्तु सङ्ग का रङ्ग तो व्यक्ति पर चढ़ता ही है। फिर सम्पाती ने बड़े भाई के रूप में अपने अधिकार का प्रयोग भी किया होगा। सौम्य स्वभाव के कारण अपने रजोगुणी बड़े भाई का प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार कर लिया। अभियान का प्रारम्भ बड़े ही उत्साह से हुआ, किन्तु मध्य मार्ग से जटायु ने लौटने का निर्णय किया। उन्होंने अभियान की व्यर्थता का अनुभव कर लिया। सूर्य तक पहुँचकर भी अहं की तृप्ति को छोड़कर अन्य कोई उपलब्धि होने वाली नहीं थी। दूसरी ओर सूर्य के ताप से झुलस जाने पर जीवन व्यर्थ हो जायेगा। संकोच को छोड़कर जटायु लौट आये। किन्तु सम्पाती आगे की ओर बढ़ता गया। बहिरङ्ग दृष्टि से सम्पाती वीर और जटायु कायर जान पड़ते हैं किन्तु सम्पाती ने आत्मविश्लेषण करते हुए स्वयं के न लौटने का कारण अपना अभिमान बताया—"मैं अभिमानी रबि निअरावा"। इस आत्म-विश्लेषण से ही सम्पाती की सजग दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। व्यक्ति स्वभाव से ही स्वयं के दोषों को नहीं देख पाता है। फिर जहाँ दोष गुण के वेश में आया हो वहाँ उसे पहचान पाना असम्भव-सा हो जाता है। सम्पाती का अभिमान शौर्य और धैर्य का वेश बनाकर ही उनके जीवन में प्रविष्ट हुआ था। किन्तु चन्द्रमा मुनि के सत्सङ्ग से उन्होंने जो नयी दृष्टि प्राप्त की थी उससे उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई कि अभिमान ही उन्हें ऊपर उठने की प्रेरणा दे रहा था। वस्तुतः ऊपर की ओर उठना प्रत्येक सच्चे साधक की अभि-लाषा होती है, किन्तु यह ऊपर उठना क्या है?

नाम और रूप की आसक्ति से ऊपर उठ जाना ही उत्थान का सच्चा अर्थ है। इसके स्थान पर जब कोई व्यक्ति शरीर को ही ऊपर उठा ले जाना चाहता है तब वह तात्त्विक अर्थों में और भी अधिक नीचे उतरने का प्रयास करता है। महा-राज त्रिशंकु ने भी इसी मनोवृत्ति के कारण स्वयं को संकट में डाल लिया। स्वर्ग को पुण्य का परिणाम माना जाता है। उस पवित्र स्थान में जाने के लिए व्यक्ति

को शरीर का परित्याग करना पड़ता है। जब किसी देवमन्दिर में दर्शन के लिए जाते हैं तब पदत्राण बाहर निकालकर ही वहाँ प्रविष्ट होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह आग्रह करे कि वह तो पदत्राण सहित मन्दिर में जायेगा तब ऐसा व्यक्ति देवता के दर्शन से वञ्चित कर दिया जाता है। त्रिशंकु का आग्रह भी ठीक इसी प्रकार का था। वह सशरीर स्वर्ग जाने के लिए व्यग्र था। गुरु वशिष्ठ ने सामर्थ्य होते हुए भी त्रिशंकु के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। तब उसने अपने अहं की पूर्ति के लिए वशिष्ठ के चिर प्रतिद्वन्द्वी महर्षि विश्वामित्र का आश्रय लिया। और कुछ क्षणों के लिए यह लगा कि त्रिशंकु अपने संकल्प में सफल हो गया। किन्तु अन्त में उसे मध्य आकाश में अधोमुख होकर लटकना पड़ा। क्योंकि देवताओं ने उसके कार्य को स्वर्ग के नियमों के विरुद्ध मानकर उसे नीचे की ओर ढकेल दिया। दूसरी ओर क्रुद्ध महर्षि विश्वामित्र ने उसे नीचे गिरने से रोकने के लिए अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया और त्रिशंकु के लिए नये स्वर्ग के निर्माण का संकल्प कर लिया। किन्तु अन्त में उन्हें अपने संकल्प से विरत होना पड़ा। त्रिशंकु उसी तरह मध्य आकाश में लटकता रहा। सम्पाती की प्रारम्भिक मनोवृत्ति भी त्रिशंकु के समान थी। किन्तु अन्त में वह त्रिशंकु की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली सिद्ध हुआ। क्योंकि वह मध्य में लटकते रहने के स्थान पर नीचे गिर पड़ा, यह पतन ही उसके लिए सबसे बड़ा वरदान सिद्ध हुआ। उसे शरीर की सामर्थ्य और सीमाओं का सही ज्ञान प्राप्त हो गया। फिर उसे एक महान् मुनि का साहचर्य प्राप्त हुआ जिन्होंने उसके देहाभिमान को अपनी वाणी के द्वारा विनष्ट कर दिया। उत्थान में पतन और पतन में उत्थान की यह गाथा साधक को निरन्तर सावधान रखने के लिए ही है। अभिमानी व्यक्ति प्रारम्भ में ऊपर उठता हुआ ही प्रतीत होता है। किन्तु आश्रय के अभाव में उसका पतन अवश्यम्भावी है। संसार जिसे पतन कहता है वह भी उत्थान का हेतु बन सकता है यदि व्यक्ति सत्सङ्ग के आश्रय से उत्थान और पतन के वास्तविक रहस्य को हृदयङ्गम् कर सके। उत्थान और पतन क्या हैं ?

सांसारिक दृष्टि से किसी विशेष स्थान की अवस्थिति ऊपर हो सकती है। किन्तु आध्यात्मिक अर्थ में ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड के कण-कण में समान रूप से व्याप्त है। अतः व्यक्ति जहाँ भी है ब्रह्म के सन्निकट है। उसकी दृष्टि में न तो स्वर्ग ऊपर है और न नरक नीचे। उसे तो सर्वत्र धनुष-बाणधारी अपने प्रभु का दर्शन होता है :

नरक सरग अपबरग समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥

सम्पाती को अभिमान के कारण नीचे गिरना पड़ा। किन्तु सन्त के सङ्ग से उसे नया जीवन प्राप्त हुआ। फिर भी वह पक्षहीन था। पक्षी का सबसे बड़ा बल उसका पङ्ख है। वह बल उससे छिन गया। पर यही निर्बलता उसके परम कल्याण की भूमिका सिद्ध हुई। मुनि ने उसे ज्ञान प्रदान किया। इससे उसका अभिमान नष्ट अवश्य हो गया, पर पूर्णता के लिए जिस भक्ति की आवश्यकता थी अभी उसका उदय उसके अन्तःकरण में नहीं हुआ था। वैदेही का दर्शन करने के बाद ही यह नवीन पक्ष उसे प्राप्त होगा, ऐसा चन्द्रमा मुनि ने उसे बताया था। पुरुषार्थ का पक्ष नष्ट हो जाने पर साधक निष्पक्ष हो जाता है। ज्ञान की शोभा निष्पक्षता में है। अतः ज्ञानी मुनि ने उन्हें उपदेश दिया कि उसे पक्ष के अभाव में स्वयं को हीन नहीं समझना चाहिए। हाँ, जिस पक्ष में शोभा है वह तुम्हें भक्तिपथ में चलते हुए प्राप्त होगा।

सम्पाती में भक्ति रस का उदय अपने भाई जटायु के चरित्र का श्रवण करने के पश्चात् ही हुआ। भक्ति के लिए हृदय में द्रवता की आवश्यकता है, वह द्रवता उत्पन्न हुई महाभाग जटायु के आत्म-बलिदान की दिव्य गाथा से—"मेरा छोटा भाई भक्ति-स्वरूपा मैथिली की रक्षा के लिए बलिदान हो गया" यह सुनते ही वे गद्‌गद हो उठे। उन्हें लगा हम दोनों भाइयों के पक्ष नष्ट हुए किन्तु उद्देश्य की भिन्नता के कारण मैं पिछड़ गया। मेरा भाई पङ्खरहित होकर इतना ऊपर उठा कि प्रभु की मङ्गलमयी गोद तक जा पहुँचा। मैं अभिमान के कारण ही पिछड़ गया। जटायु की कथा से ही उसे रामभद्र प्रभु के सुकोमल स्वभाव का परिचय प्राप्त हुआ। प्रभु से प्रत्यक्ष परिचय न होते हुए भी उसके अन्तःकरण में वह चित्र साकार हो उठा जिसमें राघव गीध को गोद में लिये हुए उनके घावों को सहलाकर उन्हें पीड़ा-मुक्त करते हैं। आँखों से आँसू बहाते हुए प्रभु उनसे जीवित रहने का अनुरोध करते हैं। किन्तु परम धीर गीध उसे अस्वीकार करते हुए कहते हैं—अब जीवन रखने का कौन-सा उद्देश्य शेष है। जिनका नाम स्मरण करते हुए मुनि प्राणों का परित्याग करना चाहते हैं, आप सामने खड़े हैं। फिर आपको ढूँढ़ने कहाँ जाऊँगा :

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हों ॥
सनहु, लषन ! खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यौ ॥
बहु बिधि राम कह्यौ तनु राखन परम धीर नहिं डोल्यौ।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन-बिधु, बचन मनोहर बोल्यौ ॥

तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुम्हहि कहाँ पुनि पैहौं॥

सम्पाती के अन्तःकरण में भगवत्प्रेम का प्राकट्य हुआ। उन्हें नवीन पक्ष प्राप्त हुआ, उन्होंने बन्दरों से अपनी ओर देखने का अनुरोध किया—यदि मुझ जैसा अधम खग प्रभु की कृपा का पक्ष पाकर धन्य हो सकता है तो आप जो उनके आदेश से भक्तिदेवी की खोज में आये हैं क्यों निराश होते हैं ? महान्-से-महान् पापी भी जिनके नाम-स्मरण से भवसागर पार कर लेता है उनका स्मरण कीजिए। कायरता छोड़कर उपाय कीजिए, जनकनन्दिनी का दर्शन अवश्य होगा :

पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं।
अति अपार भवसागर तरहीं॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई।
राम हृदयँ धरि करहु उपाई॥



॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।
का चुप साधि रहेहु बलवाना॥

अर्थ—ऋक्षराज ने कहा, हे हनुमान ! हे बलवान ! तुमने यह क्या चुप साध रखी है।

सम्पाती के जाने के बाद बन्दरों में यह विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ कि इस विशाल महोदधि को पार करना किसके लिए सम्भव होगा। प्रत्येक बन्दर ने अपने बल का वर्णन किया किन्तु समुद्र को पार करने में कोई समर्थ न था। एकमात्र अङ्गद ने यह दावा किया कि वे जलधि को लाँघ सकते हैं पर लौटकर आ सकने में उन्हें भी सन्देह था। जामवन्त ने वृद्धावस्था के कारण जाने में असमर्थता प्रकट की किन्तु अङ्गद की असमर्थता को उन्होंने वाणी के चातुर्य से ढक दिया। उन्होंने कहा—"युवराज आप लौटने में भी समर्थ हैं किन्तु आप हमारे नायक हैं, अकेले आपको भेजना किसी भी प्रकार से उपयुक्त न होगा।"

अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ।
तिन्ह कें मन अति बिसमय भयऊ॥
निज निज बल सब काहूँ भाषा।
पार जाइ कर संसय राखा॥
जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।
नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा॥

जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी।
तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ॥
अंगद कहइ जाउँ मैं पारा।
जियँ संसय कछु फिरती बारा॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक।
पठइअ किमि सबही कर नायक॥

सम्पाती के द्वारा उद्बोधित और उत्साहित किये जाने पर भी बन्दर उससे सही प्रेरणा नहीं ले पाये। उन्हें केवल इतना स्मरण रहा कि चार सौ कोस के समुद्र को लाँघने वाला ही इस कार्य को कर सकेगा। पात्रता का महत्त्व ऐसे प्रसङ्गों में विशेष रूप से सामने आता है। उत्कृष्टतम महापुरुषों के द्वारा दिया जाने वाला उपदेश भी इसीलिए सबको समान रूप से प्रेरित नहीं कर पाता। समुद्र में कितनी ही अगाध जलराशि क्यों न हो व्यक्ति उससे उतना ही जल ग्रहण कर सकता है जितना बड़ा पात्र उसके पास होगा। कथा का उद्देश्य प्रभु की महिमा और सामर्थ्य का प्रतिपादन ही तो है। सम्पाती ने भी यही किया था। पर सुनने वाले अपने सीमित अहं के आगे नहीं देख पाये। वे अपने बल की सीमाओं में घिरे हुए प्रभु की अतुल सामर्थ्य को भूल चुके थे। "मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा" का महामन्त्र भी वे स्मरण नहीं रख पाये। बस स्मरण रहा एकमात्र 'निज-निज बल'। भगवान् और भक्त दोनों ही उनकी दृष्टि से ओझल हो चुके थे। इसलिए वे काल के समक्ष निरुपायता का अनुभव कर रहे थे। ऋक्ष-राज को अपने पुराने बल की स्मृति हो आई जब वे युवा थे। जब भगवान् वामन ने विराट् त्रिविक्रम बनकर बलि से सारी पृथ्वी का दान लिया था। उस समय इन्होंने दो घड़ी में उनकी सात प्रदक्षिणा करके दिव्य पौरुष का परिचय दिया :

जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।
नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा॥
जबहि त्रिबिक्रम भए खरारी।
तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ॥

'तब' और 'अब' में अन्तर होता ही है। शरीर का स्वभाव प्रतिक्षण क्षीण

होना है। अतः शारीरिक बल क्रमशः नष्ट होता जाये इसमें क्या आश्चर्य है। 'तब' और 'अब' में जहाँ अन्तर नहीं होता वह एकमात्र ईश्वर है। "जो तिहुँ काल एक रस अहई" कहकर उसी का वर्णन किया जाता है। अन्य बन्दरों के पास तो गर्व करने के लिए भूतकालीन इतिहास भी नहीं था। उन्हें अपनी क्षमता की सीमाओं का ज्ञान था। सर्वसमर्थ के सामर्थ्य को वे यदि देख पाते तो शायद साहस करते। "तृण ते कुलिस कुलिस तृण करई" का स्मरण उन्हें नहीं आया। अङ्गद भविष्य को लेकर चिन्तित थे। वे समुद्र लाँघ सकते हैं ऐसा उन्हें विश्वास था, पर केवल समुद्र लाँघना ही तो नहीं था। महाप्रतापी लङ्केश्वर के दुर्ग में पहुँचकर क्या लौटना सरल था ? यदि मेघनाद ने पिता के अपमान का बदला लेने के लिए उन्हें नागपाश में जकड़ लिया तो वे क्या स्वयं को बचा सकेंगे ? अङ्गद बालि-तनय थे। बालि जो देवराज इन्द्र का प्रतिनिधित्व कर रहा था, इन्द्र को भी मेघनाद ने बन्दी बनाकर पिता के चरणों में डाल दिया था। ऐसी स्थिति में अङ्गद लौटने की कल्पना नहीं कर पाते हैं। पर अङ्गद का ध्यान एक क्षण के लिए भी महाशक्ति की ओर जाता तो उनका भय समाप्त हो जाता। सारी सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करने वाली वैदेही के चरणों में पहुँचने पर भय कैसा ? वे तो सकल क्लेशहारिणी हैं, सर्व श्रेयस्करी हैं :

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

पर प्रत्यक्ष को भुला पाना सरल नहीं है। राम साक्षात् ब्रह्म हैं यह अङ्गद ने सुना है पर उनकी प्रिया का अपहरण हुआ है उनका पता लगाना है, यह भी एक तथ्य है। सीता महाशक्ति हैं पर वे लङ्केश्वर के द्वारा बन्दिनी बना ली गई हैं। ऐसी स्थिति में श्रद्धा और विश्वास को अविचल रखना कठिन कार्य है। अङ्गद या कोई भी बन्दर इस अन्तर्द्वन्द्व से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाया है। इसलिए गोस्वामीजी सगुण को अतीव दुरूह बताते हैं। बड़े-बड़े मुनियों के अन्तःकरण में भी भ्रान्ति का उदय हो जाता है :

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण न जानइ कोइ।
सगुण अगुण नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

किन्तु इन अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त वानरों के बीच एक ऐसे विलक्षण वीर विराजमान थे जो इस समस्त वार्तालाप से दूर न जाने कहाँ खोये हुए थे। यह थे पवननन्दन श्रीहनुमन्तलाल। जाम्बवान् की दृष्टि उन पर पड़ी और वे आश्चर्यचकित हो उठे। इन महावीर का मौन उन्हें सहन नहीं हुआ। सचमुच ही आञ्जनेय का यह

मौन सर्वथा आश्चर्यजनक था। बन्दरों की प्यास का बिना बताये ही जिन्होंने अनुमान कर लिया, उसके निवारण के लिए जल-स्रोत तक ले गये, वे आज इस विषम परिस्थिति में मौन क्यों हैं ? सम्पाती की वाणी सुनकर संत्रस्त बन्दरों को भी उन्होंने धैर्य नहीं धारण कराया। यह कार्य अङ्गद को करना पड़ा था। अङ्गद के विचलन के क्षणों में भी मारुति मौन थे। जाम्बवान् के द्वारा धैर्य बँधाने की चेष्टा की गई। हनुमन्तलाल का यह मौन स्वयंप्रभा की गुफा से ही प्रारम्भ हो गया था।

स्वयंप्रभा के उपदेश को एकमात्र पवननन्दन ही पूरी तरह हृदयङ्गम कर पाये थे। भावनामयी स्वयंप्रभा ने 'मूँदहू नयन' के द्वारा जो सन्देश दिया था उसका शाब्दिक अर्थ ही शेष बन्दर ग्रहण कर पाये थे। नेत्र मूँदने का तात्पर्य केवल आँखों को मूँद लेना ही नहीं था। यह तो समस्त इन्द्रियों का उपलक्षण था। मन-सहित सारी इन्द्रियों का निरोध ही इसका वास्तविक तात्पर्य था। फिर यह विरोध नकारात्मक ही तो नहीं था। नेत्र के द्वारा व्यक्ति सृष्टि-व्यापार को देखता है। जब यह कहा जाता है कि ईश्वर का ध्यान नेत्र मूँदकर करना चाहिए तब उसका अभिप्राय भी यही होता है। आञ्जनेय नेत्र मूँदकर प्रभु के मङ्गलमय श्री-विग्रह के ध्यान में ऐसे तन्मय हुए कि बाहर क्या हो रहा है, उन्हें इसका भान भी नहीं रह गया। समुद्र-तट से लेकर सम्पाती के सारे वार्तालाप में उनका शरीर भले ही उपस्थित रहा हो पर वे मानसिक दृष्टि से वहाँ नहीं थे। सम्पाती ने बन्दरों के समक्ष जो-कुछ कहा था आञ्जनेय उससे भी अपरिचित थे। विशेष रूप से इसकी पुष्टि मारुति के द्वारा किये जाने वाले मैथिली के अन्वेषण से प्रकट होती है। लङ्का के प्रत्येक घर में प्रविष्ट होकर वे जानकीजी की खोज करते हैं। जब कि सम्पाती यह बता चुका था कि वे अशोक उपवन में शोकग्रस्त बैठी हुई हैं :

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।
तहँ रह रावन सहज असंका॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई।
सीता बैठि सोच रत अहई॥

यदि अञ्जनीनन्दन ने यह सुना होता तो वे सारी रात्रि मैथिली को लङ्का के महलों में न ढूँढ़ते। उन्हें विभीषण के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वैदेही अशोक वाटिका में है। और उन्हीं की बतायी गई युक्ति से वे जगज्जननी के सन्निकट पहुँचने में समर्थ होते हैं। दक्षिण दिशा में जो कपिप्रवर भेजे गये थे, उनमें भी हनुमन्तलाल की मनःस्थिति अन्यों से सर्वथा भिन्न थी। मायानाथ के द्वारा अपने को छिपाने की चेष्टा करने पर भी वे प्रथम दृष्टि में ही प्रभु को पहचान गये। उनका

विश्वास इतना अविचल था कि प्रभु भी उन्हें डिगा सकने में असमर्थ थे। स्वयं-प्रभा-प्रसङ्ग के बाद उनकी अन्तर्मुखता के द्वारा दो उद्देश्यों की पूर्ति की गई। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि इतनी साधना के बाद भी वन्दर लङ्का तक क्यों नहीं पहुँच पाये ? सम्पाती-प्रसङ्ग के माध्यम से वह उत्तर प्राप्त हो जाता है। सम्पाती के द्वारा मैथिली का पता उन्हें प्राप्त हो गया। गीध के जीवन में उन लोगों ने नवीन पंख के माध्यम से प्रभु की कृपा को प्रत्यक्ष देखा था। फिर भी वे निःसंशय होकर भक्ति-पथ में नहीं चल पाये। दूसरी ओर आञ्जनेय प्रगाढ़ विश्वास लेकर अकेले लङ्का की यात्रा करते हैं, और अज्ञात देश में भी माँ के निकट पहुँचने में समर्थ होते हैं।

मारुति की इस अन्तर्मुखता से सम्पाती को भी सेवा का सौभाग्य मिला। वह भी 'बचन सहाय' के द्वारा स्वयं को धन्य बना सका। इसलिए गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में आञ्जनेय की वंदना इन शब्दों में करते हैं :

जयति धर्मांशु-संदग्ध-संपाती-नव-पक्ष लोचन दिव्य देहदाता।
काल कलि-पाप संताप-संकुल सदा प्रणत तुलसीदास तात-माता ।।

अर्थात् आप, सूर्य की किरणों के द्वारा जिस सम्पाती के पङ्ख नष्ट हो गये थे उसे नवीन जीवन-पङ्ख और दृष्टि प्रदान करते हैं। यों प्रत्यक्ष रूप से मारुति के द्वारा सम्पाती को नवीन जीवन दिये जाने का कोई इतिहास मानस में उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस विशेषण का अभिप्राय यही हो सकता है कि सम्पाती ने वचनों के द्वारा जो बन्दरों की सहायता की उसकी वस्तुतः कोई उपयोगिता नहीं थी। सम्पाती के द्वारा जिन्हें उद्बोधन दिया गया वे भी उद्बुद्ध नहीं हुए। यदि अञ्जनीनन्दन बाह्य विश्व में होते तो भी इस उद्बोधन की कोई अपेक्षा नहीं थी। उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि प्रभु की कृपा से, उनके माध्यम से यह कार्य होने ही वाला है। अतः पवननन्दन की अन्तर्मुखता ने ही सम्पाती को सहायता का लाक्षणिक अवसर प्रदान किया। जिससे उन्हें नवीन जीवन और पक्ष प्राप्त हो सका। इसलिए गोस्वामीजी इसका श्रेय भी मारुति को ही प्रदान करते हैं।

जामवन्त ने आञ्जनेय का मौन तोड़ने के लिए उनकी प्रशंसा की, पवनपुत्र होने का स्मरण कराया। किन्तु इन उपायों से जब वे चैतन्य नहीं हुए तब उन्हें रामकार्य का स्मरण दिलाया गया और इसका तत्काल विलक्षण प्रभाव पड़ा। पवननन्दन का श्रीविग्रह पर्वताकार हो गया और वे गर्जना करते हुए सारे बन्दरों को प्रोत्साहित करने लगे :

पवन तनय बल पवन समाना।
बुधि बिबेक बिग्यान निधाना ।।

कवन सो काज कठिन जग माहीं।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा।
सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥
कनक बरन तन तेज बिराजा।
मनहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा।
लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा॥
सहित सहाय रावनहि मारी।
आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता ।
चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥

अर्थ—जिस पर्वत पर श्रीहनुमान जी पैर रखकर चले (जिस पर से वे उछले) वह तुरन्त ही पाताल में धँस गया।

बन्दरों से विदा लेकर आञ्जनेय लंका की ओर प्रस्थान के लिए प्रस्तुत होते हैं। छलाँग लगाने के लिए वे पर्वत की चोटी पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से वे ज्यों ही उछले, पर्वत पाताल में चला गया। कवितावली रामायण में गोस्वामीजी ने इसका बड़ा ही सजीव चित्र उपस्थित किया है—

जब अंगदादि वानरों की गति और बुद्धि मंद पड़ गई (अर्थात् किसी ने पार जाना स्वीकार नहीं किया) तब वायुकुमार हनुमानजी को कूदने में पलमात्र की भी देर नहीं हुई। वे साहसपूर्वक कौतुक से ही पर्वत पर आकर चारों ओर देखने लगे। इससे शत्रुओं की शान्ति भंग हो गई। गोस्वामीजी कहते हैं कि रसातल से जल निकल आया, वाराह भगवान् कलमला गये तथा शेष और कच्छप बलहीन हो गये। चारों चरणों से जोर से दबाने से पर्वत पृथ्वी से चिपट गया, और फिर उनके कूदने पर पर्वत भी चार अंगुल उचक गया :

जब अंगदादिन की मति गति मन्द भई,
पवन के पूत को न कूदिबे को पलु गो।

साहसी ह्वै सैल पर सहसा सकेलि आई,
चितवत चहुँ ओर औरनि को कलु गो।
तुलसी रसातल को निकसि सलिलु आयो,
कोलु कलमल्यो अहि कमठ को बल गो।
चारिहु चरन के चपेट चाँपे चिपिट गो,
उचके उचकि चारि अंगुल अंचलु गो॥

कवितावली रामायण के स्वाभाविक और जीवन्त वर्णन के समक्ष मानस की पंक्ति संक्षिप्त और फीकी-सी प्रतीत होती है। किन्तु इस अन्तर का कारण दोनों ग्रन्थों के उद्देश्य की भिन्नता में ढूँढ़ा जा सकता है। रामचरितमानस सिद्धान्त और दर्शन की मुख्यता के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। कवितावली रामायण में काव्य की एक प्रचलित विधा के माध्यम से मानस के कुछ प्रसंगों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। एक तरह से कवितावली और गीतावली मानस के पूरक ग्रन्थ के रूप में लिखे गये जान पड़ते हैं। रामचरितमानस में वीर रस के वैसे सजीव चित्र उपलब्ध नहीं हैं, जैसे कवितावली रामायण में पढ़ने को मिलते हैं। इसी प्रकार करुणा और भावना का जो रस-प्रवाह गीतावली में पढ़ने को मिलता है वह मानस की तुलना में अधिक हृदयद्रावक है। काव्य की रसात्मक अनुभूति की दृष्टि से गीतावली और कवितावली के अनेक प्रसङ्ग मानस की तुलना में भले ही अधिक आकर्षक प्रतीत होते हों पर सैद्धान्तिक पूर्णता की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए मानस की शैली कहीं अधिक उत्कृष्ट है। कवितावली रामायण में किया गया वर्णन पढ़कर मनश्चक्षुओं के समक्ष पवननन्दन का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र खिंच जाता है जो ओज और शौर्य से भरा हुआ है। किन्तु मानस का वर्णन "चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता" की ओर पाठक का ध्यान अधिक आकृष्ट करता है। वह उसे सोचने की प्रेरणा प्रदान करता है कि पर्वत पाताल की ओर क्यों चला जाता है? इसके द्वारा गोस्वामीजी कौन-सा सन्देश देना चाहते हैं? इसका रहस्य हृदयंगम करने के लिए पर्वत के प्रतीक की ओर ध्यान देना होगा। मानस और विनय-पत्रिका में जिन पर्वतों का वर्णन किया गया है वे सभी एक ही प्रतीक की सीमा में नहीं लाये जा सकते। कहीं पर्वत अचलता का प्रतीक है, हिमाचल को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा का प्राकट्य अचल अन्तःकरण में होता है। यह बताना ही उसका उद्देश्य है। चित्रकूट पवित्र चित्त का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें "सिय रघुबीर बिहारु" चलता रहता है:

सतीं मरत हरि सन बरु माँगा।
जनम जनम सिव पद अनुरागा॥

तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई।
जनमीं पारबती तनु पाई।।

× ×

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु।।

इस तरह पर्वत को जहाँ इन दोनों प्रसंगों में सद्‌गुणों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है वहाँ इसके प्रतिकूल कई स्थानों पर दुर्गुण के प्रतीक के रूप में यह सामने आता है। मानससर की यात्रा में अवरोध के रूप में उपस्थित होने वाला पर्वत व्यावहारिक प्रपंचयुक्त गृह-कार्य का प्रतीक है। जिसे पार कर राम-कथा के मानससर तक पहुँचना अत्यधिक कठिन हो जाता है :

गृह कारज नाना जंजाला।
ते अति दुर्गम सैल बिसाला।।

प्रस्तुत प्रसंग में पर्वत अहंकार का प्रतीक है, जो सिर उठाये अकड़कर खड़ा है। जो झुकना जानता ही नहीं और जिसके अन्तराल में न जाने कितने दुर्गुण भरे पड़े हैं। विनयपत्रिका में इसे इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

प्रबल अहंकार दुरघट महीधर महामोहगिरि-गुहा निबिड़ांधकारं।
चित्त बेताल मनुजाद मन प्रेत गन रोग भोगौध वृश्चिक विकारं।।

इस संसार-वन में अहंकार रूपी बड़ा विशाल पर्वत है, जो सहज में लाँघा नहीं जा सकता। इस पर्वत में महामोह-रूपी गुफा है जिसके अन्दर घना अन्धकार है। यहाँ चित्त-रूपी वेताल, मन-रूपी मनुष्य-भक्षक राक्षस, रोग-रूपी भूत-प्रेतगण और भोग-विलास रूपी बिच्छुओं का जहर फैला हुआ है।

लम्बी छलाँग लगाने के लिए उच्च शिखर की आवश्यकता है। अहंकार के इस सर्वोच्च शिखर का आश्रय अनेक व्यक्ति लेते हैं। पर उनका उद्देश्य समुद्र को पार करना नहीं होता। एक ही छलाँग में समुद्र को पार करने का साहस तो दूर इसकी कल्पना भी वे नहीं कर सकते। शिखर का आश्रय वे केवल अपनी क्षुद्रता को छिपाने के लिए लेते हैं। नन्हे-से-नन्हा व्यक्ति जो समतल भूमि पर दूसरों की तुलना में लघु प्रतीत होता है, शिखर पर खड़े होकर असाधारण रूप में दूसरों से भिन्न और बड़ा लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग हीनभावना से ग्रस्त होते हैं वे किसी-न-किसी प्रकार के अहंकार का आश्रय लेकर स्वयं को दूसरों से ऊँचा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। गोस्वामीजी स्वयं को ही इस मनोवृत्ति से पीड़ित व्यक्ति के रूप में प्रकट करते हैं :

नाथ सों कौन बिधि बिनती कहि सुनावौं।
त्रिबिध बिधि अमित अवलोकि अघ आपने।
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं॥
बिरचि हरि भगति को वेष बर टाटिका।
कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं॥
नाम लगि लाइ लासा ललित बचन कहि।
ब्याध ज्यों विषय-बिहँगनि बझावौं॥
कुटिल सतकोटि मेरे रोमपर वारियहि।
साधु गनती में पहलेहि गनावौं॥
परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्वत चढ़्यो।
अग्य सर्बग्य जन मनि जनावौं॥
साँच किधौं झूठ मोको कहत कोउ।
कोउ राम! रावरो हौं तुम्हरो कहावौं॥
बिरद की लाज करि दास तुलसिहिं देव।
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं॥

आञ्जनेय इतने महान् हैं कि उन्हें स्वयं अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए किसी अहंकार के आश्रय की अपेक्षा नहीं है। फिर भी वे लंका की ओर प्रस्थान करने के लिए पर्वत के शिखर का आश्रय लेते हुए से प्रतीत होते हैं। अभी कुछ क्षण पहले पवननन्दन ने बन्दरों के समक्ष गर्जना करते हुए जो वाक्य कहे थे, वे बहिरंग दृष्टि से अहंकार से भरे हुए प्रतीत होते हैं। जब वे पर्वताकार बनकर सिंहनाद करते हैं, समुद्र को खेल में ही लाँघने का दावा करते हैं, रावण का वध कर त्रिकूट को उखाड़ लाने की घोषणा करते हैं, तब यही प्रतीत होता है कि कोई घोर अहंकारी आत्मप्रशंसा और आत्मविज्ञापन में तल्लीन है :

सिंहनाद करि बारहिं बारा।
लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा॥
सहित सहाय रावनहि मारी।
आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥

किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य वन्दरों को नैराश्य से मुक्त करना था। इसलिए इस सिंहनाद के तत्काल बाद जाम्बवान् के सामने प्रणत होकर उनसे प्रश्न करते हैं—"आप मुझे उचित शिक्षा दें और बतायें कि मेरा कर्त्तव्य क्या है ?"

जामवंत मैं पूंछउँ तोही।
उचित सिखावनु दीजहु मोही ।।

यह उनकी निरहंकारिता का सबसे बड़ा प्रमाण है। समुद्र-तट से प्रस्थान करते हुए जब वे पर्वत-शिखर पर आरूढ़ होते है तब उनके पदाघात के द्वारा पर्वत का पाताल चले जाना अहंकार-विजय का प्रतीक है। वे लंका-विजय की भावना लेकर प्रस्थान नहीं करते हैं। इसके द्वारा वे दूसरों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहते हैं। वे माँ मैथिली के पाद-पद्मों की वन्दना करने और उनसे वात्सल्य-सुख प्राप्त करने के लिए ही लंकानगरी में जा रहे हैं। इसी-लिए गर्व-शिखर उनके चरणों का स्पर्श होते ही पाताल में चला गया। इस प्रसंग में बलि की कथा का स्मरण आता है।

दैत्यराज बलि समस्त विश्व पर अधिकार करने के पश्चात् एक विशाल यज्ञ का आयोजन करते हैं, और उसमें याचकों को यथेष्ट दान देने की घोषणा करते हैं। उनके इस गर्व को विनष्ट करने के लिए भगवान् वामन के रूप में आकर तीन पग भूमि की याचना करते हैं। बलि को यह याचना प्रारम्भ में हास्यास्पद प्रतीत हुई किन्तु वामन ने विराट् बनकर बलि को उसकी सीमाओं का स्मरण दिला दिया। बलि अवशिष्ट आधे पग के लिए स्वयं को ही प्रस्तुत करता है। प्रभु ने भी उसके मस्तक पर चरण-कमल स्थापित किया और उसे पाताल जाने का आदेश दिया। स्वर्ग के स्वामित्व के स्थान पर पाताल भेजने का उद्देश्य उसके अहंकार को नष्ट करके उसे धन्य बनाना था। सतयुग में भगवान् के चरणस्पर्श से बलि का अहंकार नष्ट हुआ था। त्रेतायुग में भक्त शिरोमणि हनुमन्तलाल के चरणों के स्पर्श से भी वही कार्य सम्पन्न हुआ। भक्त और भगवान् की कृपा से ही अहंकार का विनाश हो सकता है, यही बताना इन कथाओं का उद्देश्य है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥

× ×

राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

अर्थ—सुरसा ने सौ योजन का मुख किया तब हनुमानजी ने अत्यन्त छोटा रूप धारण कर लिया।

"तुम श्रीरामचन्द्र जी का सब कार्य करोगे क्योंकि तुम बल-बुद्धि के भंडार हो," यह आशीर्वाद देकर वह चली गई। तब हनुमानजी हर्षित होकर चले।

स्वर्ण पर्वत मैनाक आञ्जनेय से अपने यहाँ विश्राम करने का अनुरोध करता है, किन्तु नम्रता-भरी दृढ़ता से वे उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं :

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

इस दृश्य को देखकर स्वर्गस्थ देवताओं को यह विश्वास हो गया कि स्वर्णमयी लंका का कोई प्रलोभन आञ्जनेय को विचलित नहीं कर सकता है, किन्तु लंका में प्रलोभन की तुलना में भय कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान है। रावण प्रलोभन की नीति पर विश्वास नहीं करता है। उसका मुख्य अस्त्र भय और आतंक है। प्रलोभन से किसी को आकृष्ट करने में प्रलोभन देने वाले की न्यूनता सिद्ध होती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे देकर दूसरे को सन्तुष्ट करने वाला सामने वाले की तुलना में कुछ भय का-सा अनुभव कर रहा हो। रावण इस प्रकार की

नीति को जिससे उसमें लघुता आरोपित की जाये, स्वीकार करना उपयुक्त नहीं मानता। दंड-नीति में दंड देने वाले की ही उत्कृष्टता जान पड़ती है। इसलिए वह मुख्य रूप से दंड-नीति के आश्रय से ही लोगों को अपनी इच्छा के अनुकूल चलने के लिए बाध्य करता है। इसीलिए प्रलोभन-विजेता अञ्जनीनन्दन को देखकर देवता पूरी तरह आश्वस्त नहीं होते हैं, और वे उनकी परीक्षा लेने का निर्णय करते हैं। परीक्षक के रूप में उन्हें सुरसा ही सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़ी। अनेक दृष्टियों से यह निर्णय उपयुक्त था।

परीक्षक यदि सहृदय और कोमल स्वभाव का हो तो वह विद्यार्थी को सहज ही उत्तीर्ण कर देगा, ऐसी आशंका बनी रहती है। हनुमान जिस नगर में जा रहे हैं वहाँ सहृदयता की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। इसलिए परीक्षक के रूप में ऐसे पात्र को चुना गया जिसकी क्रूरता विश्व में अतुलनीय है। सर्प भी क्रूर ही होता है, किन्तु सर्पिणी की क्रूरता उससे बहुत आगे है। वह अपने ही पुत्रों को खा जाने वाली है। संस्कृत साहित्य में उसे "पुत्रहता सर्पिणी" कहकर स्मरण किया गया है। जो अपने पुत्रों के प्रति निर्दय है उससे दूसरों के प्रति सदय होने की कल्पना नहीं की जा सकती। नारी स्वभावत: कोमल प्रकृति की मानी जाती है किन्तु लंका में राक्षसों की तुलना में राक्षसियाँ ही अधिक क्रूर जान पड़ती हैं। शूर्पणखा इसका ज्वलन्त प्रमाण थी। उसकी तुलना भी गोस्वामीजी ने सर्पिणी से ही की है :

सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।।

शूर्पणखा की क्रूरता खर-दूषण और त्रिशिरा की अपेक्षा भी अधिक है। यह मानस से भी हृदयंगम किया जा सकता है। खर-दूषण और त्रिशिरा राम का सौन्दर्य देखकर उन्हें क्षमादान देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं और यह मान लेते हैं कि उन्होंने ऐसी सुन्दरता का कभी दर्शन नहीं किया। इनका अपराध अत्यन्त गुरुतर है फिर भी यह वध के पात्र नहीं हैं :

सचिव बोलि बोले खर दूषन।
यह कोउ नृपबालक नर भूषन ।।

× ×

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखी नहिं असि सुन्दरताई ।।
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।।

किन्तु शूर्पणखा का हृदय इस प्रकार का नहीं है। वह अपने अहं की रक्षा के लिए अपने ही चौदह हजार बन्धुओं को विनष्ट करा देने में संकोच का अनुभव नहीं करती है, और इतना कुछ हो जाने पर भी वह रावण को संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। केवल उसी के कारण सारी लंका के राक्षस विनष्ट हो जाते हैं। अतः यदि प्रभु की चुनौती का श्रीगणेश शूर्पणखा से होता है तो आञ्जनेय की परीक्षा के लिए साक्षात् सर्पिणी को ही सामने भेज दिया गया।

सुरसा मृत्यु और क्रूरता की प्रतीक के रूप में सामने आ जाती है। उसने आते ही पवनपुत्र से चतुरता-भरे वाक्य कहे, "आज देवताओं ने मुझे आहार दिया है।"

सुरसा नाम अहिन्ह कै माता।
पठइन्हि आइ कही तेहि बाता॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।

एक ही वाक्य में वह आञ्जनेय के बल और बुद्धि दोनों की परीक्षा लेना चाहती है। यदि वह यह कहती है कि मैं तुम्हें खाऊँगी तो इस वाक्य के द्वारा उनके शौर्य और निर्भयता की परीक्षा तो हो सकती थी किन्तु इससे उनके विवेक को कसौटी पर कसना सम्भव नहीं था। इस नन्हे-से वाक्य में सुरसा की प्रतिभा का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। आञ्जनेय की लंका-यात्रा यों तो "रामकाज" के लिए हुई थी किन्तु इस कार्य में देवताओं का अपना स्वार्थ भी निहित था। रावण की मृत्यु उन्हें अभीष्ट थी। अतः यह सुनकर पवनपुत्र को यह सोचकर आघात लगना चाहिए कि जिन देवताओं का कार्य पूर्ण करने के लिए वे लंका की ओर जा रहे हैं वे ही उन्हें मृत्यु के मुख में ढकेलना चाहते हैं। यदि ऐसा हुआ होता तो सुरसा समझ लेती कि इस बन्दर को दाम-नीति से भले ही प्रभावित न किया जा सके पर भेद-नीति के द्वारा इसे परास्त कर पाना सम्भव है। भेद-नीति के द्वारा बहुधा सद्भाव-सम्पन्न मित्र भी परस्पर-विरोधी बन जाते हैं। इसी वाक्य के द्वारा सुरसा परीक्षा के साथ-साथ स्वयं की सुरक्षा का भी प्रबन्ध कर लेती है। महावीर के अतुलित पराक्रम से वह सर्वथा अपरिचित नहीं थी। उसे यह भय रहा होगा कि आञ्जनेय कहीं मुझे रावण की दूती समझकर मृत्युदंड न दे दें। सुरसा को विश्वास था कि देवताओं का नाम लेने पर एक तो मैं निर्दोष सिद्ध हो जाऊँगी और दूसरी ओर कपिराज भी धैर्यपूर्वक विचार करने के लिए बाध्य हो जायेंगे। सुरसा के इस वाक्य से आध्यात्मिक रहस्य का भी उद्घाटन होता है। दुर्गुणों के द्वारा साधक को खा लिये जाने का भय तो होता ही है पर साधक सद्गुणों का भी ग्रास बन सकता है। ऐसी स्थिति में साधक के विवेक की यह

परीक्षा है कि वह इन दोनों प्रकार की समस्याओं का समाधान कैसे ढूँढ़ता है। साधक को दुर्गुण और सद्‌गुण से एक ही जैसा व्यवहार करना चाहिए अथवा भिन्न-भिन्न पद्धतियों के आश्रय से इन पर विजय प्राप्त की जानी चाहिए ? इस तरह एक ही वाक्य में सुरसा पवननन्दन के राजनैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय भी प्राप्त करना चाहती है। सुरसा की इस परीक्षा में अञ्जनीनन्दन पूरी तरह खरे सिद्ध हुए।

सुरसा के वाक्य का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया—माँ मैं रामकार्य के लिए लंका जा रहा हूँ। मुझे वहाँ प्रभु का सन्देश मैथिली को सुनाना है। वहाँ से लौट-कर मैं जनकनन्दिनी की सुधि रामभद्र को सुनाऊँगा। उसके बाद आपके मुख में स्वयं प्रविष्ट हो जाऊँगा। यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कह रहा हूँ इसलिए आप मुझे अभी जाने दें :

राम काजु करि फिरि मैं आवौं।
सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।।
तब तव बदन पैठिहउँ आई।
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई।।

आञ्जनेय ने सुरसा को माँ के सम्बोधन से सम्बोधित किया। यह सम्बोधन सुरसा के इस वाक्य के उत्तर में था कि "देवताओं ने मुझे भेजा है"। देवताओं के प्रति अश्रद्धा या विद्वेष के स्थान पर पवननन्दन ने उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था प्रकट की। उनका तात्पर्य यह था कि "यदि देवताओं ने आपको भेजा है तो आप माँ को छोड़कर और कुछ हो ही नहीं सकती हैं। बालक को कठिन पथ पर जाते देखकर उसे रोकने के लिए वह कभी-कभी विपरीत शब्दों का भी प्रयोग करती है। लगता है लंका के पथ पर मुझे बढ़ता देखकर आपका वात्सल्य मेरे प्रति उमड़ पड़ा है, और आप नहीं चाहतीं कि मैं वहाँ जाऊँ। वस्तुत: जब आप यह कहती हैं कि मैं तुम्हें खा लूँगी तो इसका तात्पर्य यह होगा कि जब मैं लंका में जाऊँगा तो राक्षसियाँ मुझे अवश्य खा लेंगी। आपके इस व्यंग्यात्मक आक्रोश को मैं समझता हूँ लेकिन कार्य की गुरुता का अनुभव करते हुए आप मुझे आशीर्वाद प्रदान करें कि मैं जगन्माता के पास जाकर प्रभु का कार्य सिद्ध कर सकूँ।"

माँ का सम्बोधन वहिरंग दृष्टि से अटपटा प्रतीत होता है। सर्पिणी अपने पुत्रों को खा जाती है। उसका पुत्र बनना मानों स्वयं ही ग्रास बनने के लिए प्रस्तुत होना है। किन्तु पवननन्दन ने बड़ी दूरदर्शिता से इसका प्रयोग किया। सर्पिणी भले ही पुत्रों को खा जाती हो पर वह भी सभी पुत्रों को नहीं खाती। यदि ऐसा न होता तो संसार में सर्पजाति की सत्ता ही शेष न रह जाती। सर्पिणी

द्वारा खाये जाने पर भी उसके जो पुत्र बच रहते हैं उन्हें महान् सौभाग्यशाली मानना होगा। आञ्जनेय का तात्पर्य यह था कि मैं भी उन्हीं सुरक्षित और सौभाग्यशाली पुत्रों में रहना चाहता हूँ।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह आञ्जनेय की कठिन परीक्षा है। देवताओं के द्वारा भेजी गई सुरसा सद्प्रवृत्ति के प्रतीक के रूप में सामने आती है। परोपकार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, ऐसी शास्त्रों की मान्यता है। भूखे को भोजन देना सज्जनों का कर्त्तव्य है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि परोपकार और दूसरों की क्षुधा-शान्ति के लिए अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिए या नहीं? विशेष रूप से रन्तिदेव, शिव और दधीचि-जैसे महापुरुषों का दृष्टान्त पुराणों में प्रसिद्ध है। जिन्होंने परोपकार के लिए शरीर और प्राण का अर्पण करने में संकोच का अनुभव नहीं किया। हनुमन्तलाल परोपकार की महिमा को अस्वीकार नहीं करते। पर धर्म भी सापेक्ष सत्य के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। कभी-कभी धर्म की यह द्वन्द्वात्मक स्थिति साधक के लिए समस्या बन जाती है। पर चतुर साधक उसे सुलझा लेता है। शास्त्र का आदेश है कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। पर प्रश्न तो यह है कि जब दोनों का आदेश सर्वथा भिन्न रूप में हो तब साधक का क्या कर्त्तव्य है? ऐसी स्थिति में साधक को तारतम्य अथवा निष्ठा में से एक का आश्रय लेना पड़ता है, कौशल्या अम्बा ने इसी सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए राघवेन्द्र से कहा था कि यदि केवल तुम्हारे पिता ने वन जाने का आदेश दिया हो, तो मुझे तुम्हें रोकने का अधिकार है। किन्तु यदि माता (कैकेयी) और पिता दोनों ने ही तुम्हें वन जाने के लिए कहा है तो वन ही तुम्हारे लिए शत-शत अयोध्या के समान है।

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

सुरसा यदि भूखी है तो उसे भोजन कराना धर्म हो सकता है। किन्तु इस परोपकार की तुलना में प्रभु का कार्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुरसा को भोजन देने में जहाँ केवल उसका हित है, वहाँ राम-कार्य में सारे विश्व का हित समाया हुआ है, अतः क्रमानुकूल ही धर्म को महत्त्व देना सच्चे साधक का कर्त्तव्य है, आञ्जनेय उसी क्रम का संकेत करते हुए कहते हैं कि प्रभु का कार्य करने के पश्चात् मैं स्वयं तुम्हारे मुख में प्रविष्ट हो जाऊँगा।

सुरसा आञ्जनेय के उत्तर से प्रभावित हो चुकी थी, पर अभी परीक्षा का

व्यावहारिक रूप शेष था। सैद्धान्तिक दृष्टि से उनका उत्तर सर्वथा युक्तिसंगत था। किन्तु वह उनके बुद्धि-बल को प्रत्यक्ष और क्रियात्मक रूप में देखना चाहती थी, इसलिए उसने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में हनुमंतलाल सुरसा की चुनौती स्वीकार कर लेते हैं। तब तुम मुझे खाकर देखो :

कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना।
ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना।।

सुरसा एक योजन का मुख फैलाती है। हनुमानजी ने अपना शरीर दो योजन का बना लिया। सुरसा ने अपने मुख को सोलह योजन का बना लिया तो आञ्जनेय बत्तीस योजन का शरीर धारण कर लेते हैं। सुरसा अन्त में सौ योजन तक मुख फैलाती है। अचानक मारुति अत्यन्त नन्हा रूप बनाकर सुरसा के मुख में प्रविष्ट होकर बाहर निकल आये :

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा।
कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा।।
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ।
तुरत पवन सुत बत्तिस भयऊ।।
जस-जस सुरसा बदनु बढ़ावा।
तासु दून कपि रूप देखावा।।
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।।
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।

सुरसा और अञ्जनीनन्दन का यह संघर्ष बड़ा ही अनोखा प्रतीत होता है। लगता है जैसे दो जादूगरों की जादुई लड़ाई का चित्र प्रस्तुत किया गया हो। किन्तु, तात्त्विक दृष्टि से यह प्रसंग बड़े ही गम्भीर रहस्यों से भरा हुआ है। सुरसा देवताओं की ओर से भेजी गयी है। अतः उसे सात्विक प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। असद्-प्रवृत्तियों का भय तो साधक के समक्ष होता ही है, पर बहुधा साधक सद्-प्रवृत्तियों का ग्रास भी बन जाता है। सत्कार्यों के द्वारा व्यक्ति को सराहना प्राप्त होती है। और यदि साधक में प्रशंसा सुनने की लोकेषणामयी वृत्ति का जागरण हुआ तो वह निश्चित रूप से सत्प्रवृत्तियों का ग्रास बने बिना नहीं रह सकता है। ऐसी मनःस्थिति में साधक अपने वास्तविक लक्ष्य को भूलकर लोगों के द्वारा प्रशंसा सुनने के लिए लौकिक कर्मों में ही उलझ जाता है। इसलिए लोकमान्यता को 'तप' रूपी वन के लिए अग्नि के समान बताया गया है :

अब लगि मोहि न मिलेहु कोउ मैं न जनावउँ काहु ।
लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु ।।

इसलिए आञ्जनेय परोपकार की प्रशंसा पाने की भावना से अत्यन्त दूर हैं, उन्हें लक्ष्य की स्मृति बनी हुई है, किन्तु जब न चाहकर भी सत्प्रवृत्ति का सामना करना पड़े, तब व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है ?

सुरसा के मुख का फैलते जाना प्रवृत्ति के विस्तार का परिचायक है। प्रवृत्ति की प्रकृति ही यही है कि वह क्रमशः फैलती जाती है। दृष्टान्त के रूप में दान की प्रवृत्ति को ले सकते हैं। दान सत्प्रवृत्ति है। एक बार यदि कोई दान देने का निर्णय करे तो दान पाने वालों के द्वारा की जाने वाली प्रशंसा अन्य याचकों को भी दान पाने के लिए प्रेरित करती है। क्रमशः भीड़ बढ़ती ही जाती है। याचना और दान के इस क्रम का कोई अन्त नहीं है। ऐसी स्थिति में दानदाता में द्रव्य देने की असीम सामर्थ्य होनी चाहिए अन्यथा या तो वह दान के लिए लोभ को स्वीकार कर असद्-प्रवृत्ति का ग्रास बन जायेगा अथवा न दे पाने की ग्लानि से वह स्वयं को अत्यन्त हीन बना लेगा। दोनों ही स्थितियों में साधक का पतन अवश्यम्भावी है। आञ्जनेय के चरित्र के द्वारा प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करने का रहस्य हृदयङ्गम किया जा सकता है।

मारुति में स्वयं के विस्तार की असीम सामर्थ्य है। प्रवृत्ति उन्हें परास्त नहीं कर सकती है, यह असीम सामर्थ्य ईश्वर के एकत्व के द्वारा ही उपलब्ध होती है। यदि धन व्यक्ति का है तो उसकी सीमा का होना भी अवश्यम्भावी है। अनन्त वैभव का स्वामी तो एकमात्र ईश्वर ही है। अत: जो ईश्वर से सर्वथा अभिन्न हैं वे ही पवनपुत्र की भाँति स्वयं का असीम विस्तार कर सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरण कर लेना आवश्यक है कि हनुमानजी एक साधारण साधक-मात्र ही नहीं हैं, वे तो सिद्धों के भी सिद्ध हैं। साधक के रहस्य को प्रकट करने के लिए ही वे साधक के समान आचरण करते प्रतीत होते हैं। असीम विस्तार की यह सामर्थ्य किसी साधक में हो भी कैसे सकती है। तब साधक के समक्ष दूसरा ही विकल्प शेष रह जाता है। सुरसा के द्वारा सौ योजन का मुख बना लिये जाने पर साधारण क्रम के अनुकूल यही कल्पना की जा सकती थी कि पवनसुत भी अपने शरीर का दूना विस्तार कर लेंगे। किन्तु इसके स्थान पर उन्होंने स्वयं को 'अति लघु' बना लिया। वे इतने छोटे बन जाते हैं कि सुरसा पैनी दृष्टि से ढूँढ़ने पर भी उन्हें खोज नहीं पाती है। साधक के लिए समग्र रूप से निरापद यही मार्ग है। जब तक व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में आने की चेष्टा करता है तभी तक प्रवृत्ति के द्वारा उसके खाये जाने का भय बना रहता है। आत्मप्रदर्शन से शून्य होते ही वह

प्रवृत्ति से निर्भय हो जाता है। दैन्य और लघुता का मार्ग ही साधक के लिए सर्व-श्रेष्ठ है।

बहिरङ्ग दृष्टि से लङ्का शत योजन विस्तीर्णा है। महावीर को उस नगर में जाकर सकुशल लौट आना है, आञ्जनेय की इस योग्यता की परीक्षा के लिए ही सुरसा को नियुक्त किया गया था। सुरसा के द्वारा अपने मुख का शत योजन विस्तार लङ्का के स्वरूप को ही प्रकट कर रहा था। यदि हनुमानजी को अपनी ही जय अथवा पराजय की चिन्ता होती तो वे अपने शरीर का विस्तार दो सौ योजन का बना लेते। किन्तु दो सौ योजन का शरीर लेकर सौ योजन के विस्तार में प्रविष्ट होने का प्रयास कोई अविवेकी ही कर सकता है। आञ्जनेय रामभद्र का कार्य करने के लिए लङ्का जा रहे हैं। अतः उनके समक्ष अनमनीयता का प्रश्न ही नहीं है। प्रभु के कार्य को सम्पन्न करने के लिए वे विशाल से विशालतर और लघु से लघुतम बन सकते हैं। सच्चे सेवक का लक्षण भी यही है। लोगों के द्वारा कोटि-कोटि दोषारोपण किये जाने पर भी जिसकी दृष्टि स्वामी के हित पर रहती है वही सच्चा सेवक है :

करइ स्वामि हित सेवक सोई।
दूषन कोटि देइ किन कोई।।

हनुमन्तलाल सेवा-धर्म के साकार रूप ही हैं। उनके जीवन में अहंकार का स्पर्श भी नहीं हुआ है। इसलिए वे सुरसा के मुख में प्रविष्ट होकर भी अछूते लौट आये। किन्तु इतना होने पर उनकी नम्रता दर्शनीय है। सुरसा को उन्होंने पूरी तरह पराजित कर दिया था। पराजित ही विजेता के समक्ष नत होता है किन्तु यहाँ विजेता ने पराजित होकर प्रणाम किया :

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।
मागा बिदा ताहि सिरु नावा।।

सुरसा का हृदय गद्‌गद हो उठा और उसने आञ्जनेय को आशीर्वाद देते हुए कहा, "तुम श्रीरामभद्र के सारे कार्य सम्पन्न कर सकोगे क्योंकि तुम बल और बुद्धि के निधान हो।"

राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान।।

"सारे राम-कार्य करोगे"—यह कहकर मानों सुरसा ने भविष्यवाणी की कि यद्यपि तुमने केवल एक ही कार्य बताया था कि तुम प्रभु का सन्देश मैथिली

को सुनाने जा रहे हो, पर इसके साथ-साथ तुम और भी अनेक कार्य करके लौटोगे। इस भविष्यवाणी को सुनकर आञ्जनेय को अपार प्रसन्नता हुई, यह भविष्य का भी परिचायक था, कि इस यात्रा में शत्रुओं के द्वारा भी मित्रता के आचरण की सम्भावना है। घटने और बढ़ने के क्रम द्वारा यह भी सूचना प्राप्त हुई कि इस यात्रा में अनेक बार रूप-परिवर्तन करना होगा। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि जब सर्पिणी में भी माँ शब्द के द्वारा वात्सल्य जाग्रत हो गया तो जगन्माता की करुणा कैसे प्राप्त नहीं होगी ? इस तरह सुरसा का प्रसङ्ग भविष्य के कार्यों की सूक्ष्म भूमिका के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।



॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई॥
× ×
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा।
तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा॥

अर्थ—समुद्र में एक राक्षसी रहती थी जो माया के द्वारा आकाश-मार्ग से जाते हुए पक्षियों को खाती थी। उसने वही छल हनुमानजी से भी किया किन्तु हनुमानजी ने उसके कपट को तुरन्त ही पहचान लिया।

लङ्का की यात्रा में हनुमानजी के समक्ष पग-पग पर विघ्न आये, और वह विघ्न भी ऐसे जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकार के थे। किन्तु सजग आञ्जनेय प्रत्येक विघ्न को पराजित करते हुए जगज्जननी के श्रीचरणों तक पहुँच जाते हैं। इन विघ्नों में से ही एक विलक्षण विघ्न था जो छायाग्रहणी निशाचरी के रूप में आया। मानस में इसका कोई परिचय नहीं दिया गया है किन्तु रामाज्ञाप्रश्न में इसे राहु की माता बताया गया है। इसका नाम सिंहिका है :

राहु मातु माया मलिन मारी मारुत पूत।
समय सगुन मारग मिलहिं छल मलीन खलधूत॥

इसने सृष्टि के असम्भव व्यापार को भी सम्भव कर दिखाया था। व्यक्ति की गति अवरुद्ध होने से छाया भी रुक जाये यह दृश्य संसार में प्रतिदिन दिखाई देता रहता है। किन्तु छाया पकड़कर किसी व्यक्ति की गति को अवरुद्ध किया जा सकता है यह सर्वथा अविश्वसनीय-सी प्रतीत होने वाली बात लगती है। पर

सिंहिका में यह चमत्कार विद्यमान था। लङ्का का वर्णन करते हुए उसे गोस्वामीजी ने 'बंका' कहकर स्मरण किया है। सचमुच यह बड़ी ही टेढ़ी नगरी है। इसमें प्रविष्ट होना असम्भवप्राय था। जिस नगर में बाहर और भीतर सुरक्षा का इतना सुदृढ़ प्रबन्ध हो, जहाँ सिंहिका और लङ्किनी-जैसी अद्‌भुत क्षमतासम्पन्न राक्षसियाँ रक्षा के लिए सन्नद्ध हों वहाँ रावण का निःशंक होकर निवास करना स्वाभाविक ही था। लङ्का का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने उसका ऐसा ही अनोखा चित्र प्रस्तुत किया है :

भोगावति जसि अहिकुल बासा।
अमरावति जसि सक्रनिवासा॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका।
जग बिख्यात नाम तेहि लंका॥
खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव।
कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥

× ×

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।
तहँ रह रावन सहज असंका॥

समुद्र की विशालता के कारण जलमार्ग से लङ्का तक पहुँचना असम्भव था। आकाश-मार्ग से आने वालों के लिए सिंहिका अवरोध के रूप में विद्यमान थी। इन अवरोधों को पार करना ही सम्भव नहीं था, पर यदि कोई इसमें सफल भी हो जाये तो लङ्किनी की दृष्टि से बचकर लङ्का में प्रवेश पाना तो सर्वथा असम्भव था।

आकाश-मार्ग से जाते हुए आञ्जनेय को अपनी गति में अवरोध की अनुभूति हुई। किन्तु उस अवरोध का कारण कहीं अन्यत्र था। समुद्र के अन्तराल में छिपे हुए इस अवरोध को पहचान पाना रुद्रावतार हनुमान के लिए ही सम्भव था। आध्यात्मिक दृष्टि से सिंहिका ईर्ष्या की प्रतीक है। ईर्ष्या की यह वृत्ति ऐसे लोगों में भी विद्यमान रहती है जो समुद्र के समान विशाल हृदय के प्रतीत होते हैं। ईर्ष्या का मनोविज्ञान बड़ा ही अनोखा है, जो वस्तु एक स्थान पर प्रिय प्रतीत होती है वही अन्यत्र अत्यन्त अप्रिय लगती है। एक ओर व्यक्ति उत्थान के लिए सद्‌गुणों का संचय करता है, पर वही सद्‌गुण दूसरे व्यक्ति में देखकर व्यक्ति ईर्ष्या से भर उठता है। इस तरह उसके दो रूप सामने आते हैं—एक ओर वह सद्‌गुणों का समर्थक है तो दूसरी ओर उनका विरोध कहीं अधिक उत्साह से करता है। सिंहिका की मनोवृत्ति भी इसी प्रकार की है। आकाश में राहुग्रह की कोई अवस्थिति नहीं मानी जाती है। उसे ज्योतिष-शास्त्र में छायाग्रह कहा

जाता है। उस छायाग्रह के प्रति सिंहिका के अन्तःकरण में तीव्र ममता है, पर वह अन्यत्र छाया देखते ही उसे गिराने के लिए व्यग्र हो जाती है। यह विरोधाभास ही ईर्ष्या का स्वभाव है।

सिंहिका के पुत्र राहु का जीवन भी इसी मनोवृत्ति से ओत-प्रोत है। देवता और दैत्य मिलकर समुद्र-मन्थन करते हैं। ठीक यही विरोधाभास वहाँ भी विद्यमान है। देवता अमृत चाहते हैं। किन्तु वे यह भी चाहते थे कि उनके प्रतिद्वन्द्वियों को अमृत की एक बूंद भी न मिलने पाये। ठीक यही आकांक्षा और भी अधिक भीषण रूप में दैत्यों में विद्यमान थी। अतः उनमें प्रतिद्वन्द्विता का उदय अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

समुद्र-मन्थन के तत्काल बाद ज्यों ही अमृत-कुम्भ प्रकट हुआ, दैत्यों ने बलपूर्वक उस पर अधिकार कर लिया। पर बाद में वे स्वयं विष्णु के मोहिनी रूप के द्वारा छले गये। दैत्यों ने वह अमृत-कुम्भ मोहिनी के हाथ में देकर अमृत-वितरण का कार्य उन्हें ही सौंप दिया। मोहिनी के द्वारा अमृत-वितरण के बहाने सुरा बाँटी जा रही है इस रहस्य को वे नहीं समझ पाये। इसका एकमात्र अपवाद था सिंहिका पुत्र राहु। उसने तत्काल यह अनुभव कर लिया कि देवता दुर्बल होते हुए भी बाजी मारे ले जा रहे हैं। उसने देवताओं का वेश बनाकर अमृत प्राप्त करने का निर्णय किया और वह अपने उद्देश्य में सफल रहा। भले ही चक्र से उसे द्विधा विभक्त कर दिया गया हो, पर उसने अमरता प्राप्त करने में सफलता पा ली।

सिंहिका यदि मूर्तिमती ईर्ष्या है तो उसका पुत्र राहु मात्सर्य का प्रतीक है। ईर्ष्या और मात्सर्य की यह वृत्ति बड़ी व्यापक है। सिंहिका किसी का अभ्युत्थान नहीं सह पाती है। उसका पुत्र राहु आकाशचारी है किन्तु वह यह नहीं चाहती कि कोई भी जीव या जन्तु उसके पुत्र की बराबरी करे। इसलिए वह समुद्र में छिपकर उड़ने वालों को नीचे खींचने का प्रयास करती है। व्यक्ति भले ही ऊपर जा रहा हो पर उसकी छाया तो सर्वदा नीचे ही पड़ती है। इसका तात्पर्य यह है कि सद्‌गुणों के माध्यम से व्यक्ति भले ही ऊपर उठने की चेष्टा करे किन्तु उज्ज्वलता के साथ-साथ चरित्र में कोई-न-कोई कालिमा तो शेष रह ही जाती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति सर्वदा दूसरों में दोष ही ढूंढ़ा करता है। और इन्हीं दोषों का आश्रय लेकर वह लोकदृष्टि से अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचे गिरा देता है। उत्थान और पतन का यह क्रम सृष्टि में चलता ही रहता है। मानस के प्रारम्भ में प्रतापभानु का चरित्र इसी द्वन्द्व को प्रकट करता है।

प्रतापभानु विश्व-विजेता बनकर लोकदृष्टि में ऊपर उठ जाता है। किन्तु उसका यह उत्थान एक नन्हे-से राजा से सहन नहीं होता और वह धैर्यपूर्वक

प्रतापभानु के दोष ढूँढ़ने लगता है। अन्त में उसके अन्तःकरण की सिंहिका ने प्रतापभानु की छाया को पकड़ ही लिया। उसकी यह दुर्बलता थी कि सकाम होते हुए भी लोकदृष्टि में वह स्वयं को निष्काम प्रदर्शित करना चाहता था। अन्त में यही छाया उसके पतन और विनाश का कारण बनी। उस प्रसंग में गोस्वामीजी ने राहु का स्मरण किया—तेजस्वी शत्रु को अकेला समझकर उसकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि सिर-मात्र अवशिष्ट होने पर भी राहु चन्द्रमा और सूर्य को आज भी दुःख देता रहता है :

रिपु तेजसी अकेल अपि लघुकर गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहि सिर अवसेषित राहु॥

चन्द्रमा और सूर्य ने राहु को अमृत से वंचित करना चाहा। यहाँ भी वही ईर्ष्या की वृत्ति काम कर रही थी। परस्पर की इस ईर्ष्या-वृत्ति ने दोनों को संकट में डाल दिया। यदि राहु को द्विधा विभक्त होना पड़ा तो चन्द्रमा और सूर्य भी ग्रहण के रूप में राहु के ग्रास बनते रहते हैं। इस तरह गिराने और गिरने वाले दोनों ही ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति से पीड़ित रहते हैं।

राहु की माता सिंहिका ने अपनी परम्परा के अनुकूल आञ्जनेय की छाया को पकड़ लिया। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या पवननन्दन के चरित्र में भी कालिमा का कोई अंश विद्यमान है ? यदि यह छाया है तो वह किस वृत्ति के रूप में उनके अन्तःकरण में स्थित है ? यदि छाया का अभाव होता तो सिंहिका के द्वारा गति में अवरोध उपस्थित किये जाने का प्रश्न ही नहीं था। वस्तुतः यहाँ सिंहिका धोखा खा गयी, उस व्यक्ति की भाँति, जिसने रंग-साम्य के कारण दही के बदले में चूना खा लिया हो। भक्ताग्रगण्य हनुमान केवल शरीर से ही स्वर्ण पर्वत की भाँति नहीं हैं, उनका अन्तःकरण भी शुद्ध स्वर्ण का ही साक्षात् रूप है। उनके चरित्र में दोष का लेश भी नहीं है। गोस्वामीजी के शब्दों में वे "सकल गुण निधान" हैं। हाँ, उनके अन्तःकरण में एक श्यामता अवश्य विद्यमान है और वह है उनके प्रभु की दिव्य श्यामता। जिस श्यामता पर कोटि-कोटि उज्ज्वलता निछावर की जा सकती है। उनकी वन्दना गोस्वामीजी इन शब्दों में करते हैं :

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ज्ञान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

यह श्यामता जिसके जीवन में नहीं है, मानस की दृष्टि में उसकी उज्ज्वलता व्यर्थ है। महर्षि भरद्वाज ने श्रीभरत के यश के लिए चन्द्रमा की उपमा देते समय

एक नवीन शशि की कल्पना की जिसमें चन्द्रमा के दोषों का सर्वथा अभाव हो। चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, दूसरों को दुःख देता है। सूर्य के प्रकाश में अपनी तेजस्विता खो बैठता है। एक सीमा तक पहुँचने के वाद घटने लग जाता है तथा गुरु का अनादर करने वाला है। श्रीभरत के यश में इन सबका सर्वथा अभाव है :

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा।
रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अंथइहि कबहूँ ना।
घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही।
प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू।
ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा।
गुरु अवमान दोष नहिं दूषा॥

किन्तु चन्द्रमा के एक प्रसिद्ध दोष का निराकरण इस रूपक में नहीं किया गया। चन्द्रमा में श्यामता विद्यमान है। गोस्वामीजी कहते हैं कि यह श्यामता भरत के यश-चन्द्र में भी विद्यमान है और वह है राम-प्रेम की श्यामता :

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।
जहँ बस राम प्रेम मृग रूपा॥

यह श्यामता ही भक्त का सर्वोत्कृष्ट गुण है। आञ्जनेय के अन्तःकरण में स्थित इसी श्यामता को सिंहिका ने छाया समझ लिया। यही भ्रम उसके विनाश का कारण बना। आञ्जनेय का अन्तःकरण ईर्ष्या और द्वेष से सर्वथा शून्य है। ऐसे महान् भक्त से ईर्ष्या करके उसको गिराने की चेष्टा करने वाला स्वयं विनष्ट हो जाता है। यही दशा सिंहिका की हुई। महावीर उसे मृत्यु के मुख में ढकेलकर समुद्र के पार हो जाते हैं :

ताहि मारि मारुत सुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मति धीरा॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी।
कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी।

अर्थ—पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लङ्का देखी। वह बहुत ही बड़ा किला है, कुछ कहा नहीं जाता।

समुद्र को लाँघने के बाद लङ्का के निकटस्थ शिखर पर खड़े होकर मारुति ने उस विशाल नगर पर दृष्टि डाली जो उस समय विश्व में शक्ति और समृद्धि के चरम शिखर पर आसीन था। वह अनोखा नगर जो युगों से लोगों के आकर्षण का केन्द्र बना था और जिस पर अधिकार पाने के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ी गयीं। देवता, यक्ष और राक्षस समय पाकर जिस पर अधिकार कर लेते थे पर जिसने कभी दूसरों के अधिकार में रहना सीखा ही न था। इस विराट् नगर का नाम लङ्का था। रावण का जन्म इस नगर में नहीं हुआ था। वह वनवासी विश्रवा मुनि की संतति था। किन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ दुर्निवार्य थीं। विश्व-भ्रमण करता हुआ वह लङ्का के निकट पहुँचा। इसकी प्रसिद्धि पहले ही उसके कानों में पहुँच चुकी थी। लङ्का दुर्ग को विशाल वाहिनी से घिरा हुआ देखकर यक्ष आतङ्कित हो उठे। बिना किसी संघर्ष के ही उन्होंने वह नगर दशानन को अर्पित कर दिया। इस तरह बिना किसी प्रयास के ही रावण लङ्काधिपति बन बैठा। गोस्वामीजी ने बालकाण्ड के प्रारम्भ में लङ्का दुर्ग के इतिहास को इस रूप में प्रस्तुत किया है :

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी।
बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥
सोइ मय दानवँ बहुरि सँवारा।
कनक रचित मनिभवन अपारा॥
भोगावति जसि अहिकुल बासा।
अमरावति जसि सक्रनिवासा॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका।
जग बिख्यात नाम तेहि लंका॥
खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव।
कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥
हरि प्रेरित जेहिं कलप जोइ जातुधानपति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ॥
रहे तहाँ निसिचर भट भारे।
ते सब सुरन्ह समर संघारे॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे।
रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥
दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई।
सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लै गए पराई॥
फिरि सब नगर दसानन देखा।
गयउ सोच सुख भयउ बिसेषा॥
सुंदर सहज अगम अनुमानी।
कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥

लंकानगर का यह इतिहास-वर्णन गोस्वामीजी की परम्परा के अनुकूल नहीं है। पुराणों की विस्तार-परम्परा को मानस में बहुत-कम स्थान प्राप्त है। इतिहास और वैभव-वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षा वे भावनात्मक और सैद्धान्तिक प्रसंगों को अधिक महत्त्व देते हैं किन्तु जब वे इस परम्परा का उल्लंघन करते हुए प्रतीत होते हैं तब वे किसी-न-किसी उद्देश्य से ही ऐसा करते हैं। लंका के इतिहास में भी जीवन के महान् सत्यों का साक्षात्कार किया जा सकता है। तुलसी के लिए लंका मात्र नगरी ही नहीं है, शरीर के ब्रह्माण्ड में भी वे प्रवृत्ति के केन्द्र के रूप में लंका को ही देखते हैं। इस लंका दुर्ग पर जब तक विभीषण का राज्य नहीं होगा

तब तक अयोध्या में राम-राज्य की स्थापना भी नहीं हो सकती है। विभीषण जीव है किन्तु लंका के प्रवृत्ति-दुर्ग पर मोह-रूपी रावण का अधिकार हो गया है। प्रवृत्ति-दुर्ग पर अधिकार-परिवर्तन की प्रक्रिया में क्रमशः पतन का परिचय प्राप्त होता है। ब्रह्मा के द्वारा निर्मित इस नगर पर देवताओं के स्थान पर यक्ष, और फिर उनके स्थान पर राक्षसों का अधिकार इसी क्रम को सूचित करता है। देवता पुण्य के प्रतीक हैं। यक्ष घनाधिक होने के कारण वैभव और समृद्धि के देवता हैं। राक्षस क्रूरता और दुर्गुणों के ही घनीभूत रूप में सामने आते हैं। लंका पर क्रमशः दुर्गुणों का शासन बढ़ता गया। सत् प्रवृत्ति दुष्प्रवृत्ति में परिवर्तित हो गई। कुम्भकर्ण (अहंकार) और मेघनाद (काम) जैसे सहायक पाकर रावण (मोह) विश्व-ब्रह्माण्ड को अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने में समर्थ हो जाता है। बेचारा विभीषण (जीव) न चाहकर भी इन प्रवृत्तियों के बीच में रहने के लिए बाध्य है। इस परिस्थिति के परिवर्तन के लिए ईश्वर के अवतार की आवश्यकता है। जब अवधेश (ज्ञान) और कौशल्या (भक्ति) के माध्यम से श्रीराम का अवतार होता है तब कहीं जाकर इस लंकानगर पर विभीषण का अधिकार हो पाता है। लंका का इतिहास एक नगर का इतिहास-मात्र नहीं है। वह प्रत्येक जीव के अन्तःकरण का यथार्थ चित्र है। इसलिए मानस और विनयपत्रिका दोनों में ही तुलसी लंका-वर्णन को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी ने लंका का साङ्गोपाङ्ग रूपक इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

देहि अवलंब करकमल, कमलारमन, दमन-दुख, शमन-संताप भारी।
अज्ञान-राकेश-ग्रासन विधुंतुद, गर्व-काम-करि मत्त हरि, दूषणारी॥
वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूपधारी।
बिबिध कौशौघ, अति रुचिर-मंदिर-निकर, सत्वगुण प्रमुख त्रैकटककारी॥
कुणप-अभिमान सागर भयंकर घोर, विपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल, संग-संकल्प वीची विकारं॥
मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-बिबुधांतकारी॥
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद-शूल पानी।
अमितबल परम दुर्जय निशाचर-निकर सहित षडवर्ग गोयातुधानी॥
जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम-यम सकल सुरलोक-लोकेश लंकेश-वश नाथ! अत्यंतभीता॥
ज्ञान-अवधेश-गृह गेहिनी भक्ति शुभ, तत्र अवतार भूभार-हर्ता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य कृत गमन किय गहन वैदेहि भर्ता॥

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान-सुग्रीव कृत जलधिसेतू।
प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय, विषम वन भवन मिव धूमकेतू॥
दुष्ट दनुजेश निर्वंशकृत दासहित, विश्वदुख हरण बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय-कमल वासी॥

समुद्र लंघन के पश्चात् आञ्जेनय के द्वारा नगर का दर्शन भी अपना विशेषतम महत्त्व रखता है। क्योंकि यही महापुरुष अन्त में लंकानगर को जलाकर विनष्ट करने वाले हैं। उपर्युक्त पद में हनुमन्तलाल को प्रबल वैराग्य की संज्ञा दी गयी है। वैराग्य के समक्ष लंका अपने समस्त आकर्षण के साथ विद्यमान है। उसकी समृद्धि, सुन्दरता, सुव्यवस्था और सुरक्षा को उन्होंने अपनी आँखों से देखा इतना ही नहीं उन्होंने लंका में प्रविष्ट होकर प्रत्येक भवन का बड़ी ही सूक्ष्मता से निरूपण किया। फिर भी वे उसकी ओर आकृष्ट नहीं हो पाए। लंका का जलना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, यह उतावलेपन में किया गया निर्णय भी नहीं था। लंका को देखने की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं। एक वह जिसे दशानन की दृष्टि कह सकते हैं। रावण ने उसका वर्णन सुना, देखते ही मुग्ध हो गया, और अन्त में उस पर अधिकार कर लिया। यही प्रवृत्ति के प्रति मोहमयी दृष्टि का आकर्षण है। महावीर की दृष्टि वैराग्य की दृष्टि है। वह लंका को बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही दृष्टियों से देखते हैं और उसे जलाकर उसकी नश्वरता को संसार के समक्ष उजागर कर देते हैं। उनकी दृष्टि में उस जीवन और शरीर की क्या सार्थकता है जो केवल भोगों में ही संलग्न है। लंका का केन्द्र शरीर है, वहाँ उसे ही सुन्दर और स्वस्थ रखने की चेष्टा की जाती है। शरीर के निवास के लिए स्वर्णभवन चाहिए, उसके विहार के लिए वन, उपवन और वाटिकाओं की आवश्यकता है। शारीरिक वासना की तृप्ति के लिए सुन्दरियों की अपेक्षा है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मद्य और मांस सर्वाधिक प्रिय पेय और खाद्य हैं। और इन समस्त शारीरिक साधनों की सुरक्षा के लिए सुसज्जित सेना अनिवार्य है। यही लंका का यथार्थ चित्र है जो वैराग्यावतार अञ्जनीनन्दन को दिखाई दे रहा था :

गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी।
कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥
अति उतंग जलनिधि चहु पासा।
कनक कोट कर परम प्रकासा॥
कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना।

गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥
बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापीं सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥
करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥

गोस्वामीजी को भी लंका का यह विस्तृत वर्णन रुचिकर नहीं था किन्तु वे यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि मैं इसके भविष्य को देखकर ही इसकी कथा का कुछ वर्णन कर रहा हूँ। अन्त में राघवेन्द्र के बाणतीर्थ में शरीर छोड़कर इसके शासक तथा सैनिक सद्गति प्राप्त कर लेंगे।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

अर्थ—हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखों को तराजू के एक पलड़े में रखा जाय, तो भी वे सब मिलकर (दूसरे पलड़े पर रखे हुए) उस सुख के बराबर नहीं हो सकते जो लव (क्षण) मात्र के सत्संग से होता है।

मानस में अनेक उत्कृष्ट पात्रों के मुख से सन्त और संग की महिमा का वर्णन किया गया है। किन्तु उपर्युक्त पंक्ति एक ऐसे पात्र के द्वारा कही गई है जिससे इस प्रकार के वाक्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह लंका-निवासिनी निशाचरी 'लंकिनी' लंका की सुरक्षा के लिए नियुक्त की गई थी। इस राक्षसी के वाक्यों में विरोधाभास भी कम नहीं है। प्रारम्भ में परम सन्त हनुमान को यह 'सठ' कहकर सम्बोधित करती है। उन्हें चोर की उपाधि देती है। चोरी के अपराध में उन्हें खा लेने की घोषणा करती है :

नाम लंकिनी एक निसिचरी।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।
मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥

किन्तु अन्त में वह आञ्जनेय के चरणों में नमन करते हुए उनकी स्तुति

करती है। अपने पुण्य की सराहना करती हुई वह सत्संग को स्वर्ग और मोक्ष की तुलना में श्रेष्ठ बताती है। यह सारा चमत्कारिक परिवर्तन महावीर के मुष्टिका-प्रहार-मात्र से ही हो गया। बहिरंग दृष्टि से मुष्टिका-प्रहार के बदले सत्संग की महिमा का गायन बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है। क्योंकि किसी भी शास्त्र में मुक्केबाजी के रूप में सत्संग की किसी विद्या का वर्णन नहीं किया गया है। सत्संग का तात्पर्य केवल शारीरिक दृष्टि से सन्त के निकट पहुँचना ही नहीं है। श्रद्धा-युक्त अन्तःकरण से संत के निकट जाकर उनके उपदेश को ग्रहण करना, उनकी बताई हुई पद्धति से साधन-पथ में चलना ही सच्चा सत्संग है। संत-समाज की तुलना तीर्थराज प्रयाग से की गई है जहाँ कभी संत-समाज में कर्म, ज्ञान और भक्ति के रूप में यमुना, सरस्वती और गंगा का मिलन होता है; कभी संत-समाज में कर्मयोग का स्वरूप बताया जाता है, तो कभी वहाँ ज्ञानयोग की महिमा का प्रतिपादन किया जाता है। भक्ति-कथा की रसवन्ती धारा तो वहाँ प्रवाहित होती ही रहती है। इस कथा-प्रवाह में आदरपूर्वक स्नान करने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है। फलश्रुति के रूप में वहाँ बताया गया है कि इस तीर्थराज में स्नान करने से काक, पिक हो जाता है और बगुले मराल के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं :

मुद मंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू॥
राम भक्ति जहँ सुर सरि धारा।
सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेधमय कलिमल हरनी।
करम कथा रबि नंदनि बरनी॥
हरि हर कथा बिराजति बेनी।
सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
बटु बिस्वास अचल निज धरमा।
तीरथराज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा।
सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ।
देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग॥

मज्जन फल पेखिअ ततकाला।
काक होहिं पिक बकउ मराला॥

किन्तु लंकिनी-प्रसंग में कथा तो दूर आञ्जनेय ने वाणी का प्रयोग तक नहीं किया। वे सर्वथा मौन रहे। लंकिनी आदरपूर्वक मज्जन करने के स्थान पर संत को अपमानित करती है। फिर भी "काक होहिं पिक बकउ मराला" की फलश्रुति का दर्शन तो वहाँ होता ही है। सचमुच ही लंकिनी काक से पिक बन गई। प्रारम्भ में उसका स्वर कौए के समान कर्कश था तो अन्त में वह कोयल के समान रसवन्ती वाणी का प्रयोग करती है। इसका रहस्य हृदयंगम करने के लिए लंकिनी के उस आत्मचरित्र की ओर ध्यान देना होगा जिसे उसने स्वयं पवननन्दन को सुनाया।

लंकिनी अपनी मूल प्रकृति से राक्षसी नहीं थी। प्रारम्भ में उसकी प्रवृत्ति सात्विक थी। लगता है ब्रह्मा ने इस नगर के निर्माण के साथ ही लंकिनी को भी बनाया था, अतः उसकी प्रवृत्ति का सात्विक होना स्वाभाविक था। यक्षों के अधिकार में रहते हुए उसमें रजोगुणी प्रवृत्ति का विकास हुआ। किन्तु लंकानगर पर जब राक्षसराज रावण का अधिकार हुआ तब यह सोचकर वह व्याकुल हो गई कि क्या क्रमशः उसे अवनति के गर्त्त में ही जाना होगा। ब्रह्मा ने उसे सान्त्वना देते हुए आश्वस्त किया कि यह स्थिति सर्वदा रहने वाली नहीं है। एक दिन रावण का शासन समाप्त हो जायेगा और तब तुम तीनों गुणों से मुक्त होकर धन्यता प्राप्त कर सकोगी :

जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा।
चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥
बिकल होसि तैं कपि कें मारे।
तब जानेसु निसिचर संघारे॥

रावण के शासन के प्रति इतनी अरुचि रखने वाली लंकिनी राक्षसों के बीच में रहते-रहते राक्षसी ही बन गई। इस तरह कुसंग के प्रभाव से उसका अन्तःकरण पूरी तरह मलिन हो गया। किन्तु जैसे श्वेत वस्त्र गंदगी में लिपटकर मलिन हो जाने के बाद भी धुलकर पुनः स्वच्छ हो जाता है, लंकिनी का अन्तःकरण भी आञ्जनेय के प्रहार से पुनः शुद्ध हो गया। यह प्रहार धोबी के द्वारा वस्त्र को स्वच्छ करने की प्रक्रिया का ही एक अंग है। महावीर के द्वारा किए जाने वाले आघात से उसकी खोई हुई स्मृति पुनः लौट आती है। वह स्वयं अपना यह संस्मरण आञ्जनेय को सुनाती है :

जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा।
चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥
बिकल होसि तैं कपि कें मारे।
तब जानेसु निसिचर संघारे॥

तात्त्विक दृष्टि से सभी जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हैं। किन्तु मोह के कारण अपने स्वरूप को भूलकर अबुद्ध बन गए हैं। आसक्ति के कारण मिथ्या सम्बन्ध इतने यथार्थ प्रतीत होते हैं कि उन्हीं को धर्म समझकर व्यक्ति उनका पालन करता हुआ परमार्थतत्त्व को भूल जाता है। लंकिनी ने पवनपुत्र को प्रारम्भ में जिन शब्दों से सम्बोधित किया वह इसी मिथ्या धर्म के परिणाम थे। स्वामि-भक्ति को लंकिनी सबसे बड़ा धर्म मानती थी, अतः हनुमन्तलाल को भीतर बिना आज्ञा के प्रविष्ट होता देखकर वह उन्हें चोर समझ बैठती है और खाने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। धर्म, ज्ञान का यह विपर्यय उसके सारे व्यवहार के मूल में विद्यमान है। पवननन्दन के द्वारा किया जाने वाला यह प्रहार वस्तुतः लंकिनी के अज्ञान पर किया जाने वाला आघात है। सन्तों के द्वारा कथित चेतावनी के पद व्यक्ति की मिथ्या मान्यताओं पर प्रहार करने के लिए ही तो हैं। जहाँ सन्त ग्रन्थों में रसात्मक पद हैं वहीं लोक-धर्म की निन्दा करने वाले पद भी कम नहीं हैं, जहां मन को मूर्ख कहकर उसे सावधान करने की चेष्टा की गई है। विनयपत्रिका के अनेक पदों में यह प्रहारात्मकता दिखाई देती है :

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे ससि-रबि मन नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम को चेरो॥

आञ्जनेय के प्रहार से होने वाला रक्त-प्रवाह ही रावण के विनाश का प्रथम चिह्न है। यह रक्त वस्तुतः मन का राग ही है। ब्रह्मा विचार के देवता हैं। रावण (मोह) के विनाश का प्रथम चिह्न है, अन्तःकरण में वैराग्य का उदय। जब राग का रक्त कम हो जाता है तभी जीव सँभलकर उठ खड़ा होता है। लंकिनी पहले मुख के बल गिर पड़ी और बाद में सँभलकर खड़ी हो गई :

मुठिका एक महा कपि हनी।
रुधिर बमत धरनीं ढनमनी॥
पुनि संभारि उठी सो लंका।
जोरि पानि कर बिनय ससंका॥

'सँभलकर उठना' यही साधक के जीवन की सार्थकता है। इसका तात्पर्य है ऐसा उत्थान जिसमें पतन की आशंका न हो। भौतिक दृष्टि से तो उत्थान-पतन का क्रम संसार में चलता ही रहता है। प्रत्यक्ष रूप में ऐसा लगा जैसे हनुमानजी ने प्रहार से लंकिनी को गिरा दिया। पर यथार्थ इससे भिन्न है। सन्त अहंकार और अज्ञान पर प्रहार कर उसे नीचे गिराता है। साधक के विवेक का उत्थान भी तभी होता है। इसलिए लंकिनी ने स्वयं को 'पुण्यमयी' घोषित किया। मेरा महान् पुण्य है जो मैंने इन आँखों से रामदूत को देखा :

तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखेउँ नयन राम कर दूता॥

पुण्य का परिणाम भोगों की उपलब्धि है, ऐसा अधिकांश व्यक्ति समझते हैं पर भक्तों की दृष्टि में पुण्य का परिणाम सन्त की उपलब्धि है :

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता॥

लंकिनी को वह दृष्टि प्राप्त हो गई तभी वह स्वर्ग और मोक्ष की तुलना में सत्संग को अधिक श्रेष्ठ बताती है। स्वर्ग में भोग-सुख है और मोक्ष में मुक्ति-सुख, किन्तु सत्संग में भौतिक भोगों की रसानुभूति की तुलना में कोटि-गुणित रस की उपलब्धि होती है जब सन्त भगवत्-रस का कथा के माध्यम से पान कराते हैं। सत्संग यदि प्राप्त हो तो भक्त मुक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। गोस्वामीजी प्रभु से प्रार्थना करते हैं—नाथ! जहाँ भी कर्मों के परिणामस्वरूप जन्म होना ही हो तो अनेक योनियों में जाने और संकट झेलने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु वहाँ आपकी भक्ति और सन्तों का समागम प्राप्त होता रहे यही मेरी प्रार्थना है :

यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मवश भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं।
तत्र त्वद्भक्ति, सज्जन समागम सदा भवतु मेराम विश्राम मेकं॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान ने भगवान् राम की सारी कथा सुनाकर अपना नाम बताया। सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गए और श्रीराम के गुणों का स्मरण करके दोनों के मन मग्न हो गए।

आञ्जनेय सारी रात लंका के प्रत्येक भवन में प्रविष्ट होकर मैथिली का अन्वेषण करते रहे। किन्तु वे इसमें असफल रहे। सबसे अन्त में वे लंकेश्वर के महल में प्रविष्ट हुए, पर वहाँ भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी :

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥
गयउ दसानन मन्दिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥
सयन किएँ देखा कपि तेही।
मन्दिर महुँ न दीखि बैदेही॥

रावण के भवन से निकलते ही उन्हें एक ऐसा धाम दिखाई दिया जिसके पास हरिमंदिर भी बना हुआ था। मंदिर के ऊपर प्रभु के आयुधों के चिह्न बने हुए थे। मन्दिर की आसपास की भूमि में रामप्रिया तुलसिका के तरु भी लगे हुए थे।

मुठिका एक महा कपि हनी।
रुधिर बमत धरनीं ढनमनी।।
पुनि संभारि उठी सो लंका।
जोरि पानि कर बिनय ससंका।।

'सँभलकर उठना' यही साधक के जीवन की सार्थकता है। इसका तात्पर्य है ऐसा उत्थान जिसमें पतन की आशंका न हो। भौतिक दृष्टि से तो उत्थान-पतन का क्रम संसार में चलता ही रहता है। प्रत्यक्ष रूप में ऐसा लगा जैसे हनुमानजी ने प्रहार से लंकिनी को गिरा दिया। पर यथार्थ इससे भिन्न है। सन्त अहंकार और अज्ञान पर प्रहार कर उसे नीचे गिराता है। साधक के विवेक का उत्थान भी तभी होता है। इसलिए लंकिनी ने स्वयं को 'पुण्यमयी' घोषित किया। मेरा महान् पुण्य है जो मैंने इन आँखों से रामदूत को देखा :

तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखेउँ नयन राम कर दूता।।

पुण्य का परिणाम भोगों की उपलब्धि है, ऐसा अधिकांश व्यक्ति समझते हैं पर भक्तों की दृष्टि में पुण्य का परिणाम सन्त की उपलब्धि है :

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता।।

लंकिनी को वह दृष्टि प्राप्त हो गई तभी वह स्वर्ग और मोक्ष की तुलना में सत्संग को अधिक श्रेष्ठ बताती है। स्वर्ग में भोग-सुख है और मोक्ष में मुक्ति-सुख, किन्तु सत्संग में भौतिक भोगों की रसानुभूति की तुलना में कोटि-गुणित रस की उपलब्धि होती है जब सन्त भगवत्-रस का कथा के माध्यम से पान कराते हैं। सत्संग यदि प्राप्त हो तो भक्त मुक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। गोस्वामीजी प्रभु से प्रार्थना करते हैं—नाथ ! जहाँ भी कर्मों के परिणामस्वरूप जन्म होना ही हो तो अनेक योनियों में जाने और संकट झेलने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु वहाँ आपकी भक्ति और सन्तों का समागम प्राप्त होता रहे यही मेरी प्रार्थना है :

यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्मवश भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं।
तत्र त्वद्‌भक्ति, सज्जन समागम सदा भवतु भवतु मेराम विश्रास मेकं।।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम ॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान ने भगवान् राम की सारी कथा सुनाकर अपना नाम बताया। सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गए और श्रीराम के गुणों का स्मरण करके दोनों के मन मग्न हो गए।

आञ्जनेय सारी रात लंका के प्रत्येक भवन में प्रविष्ट होकर मैथिली का अन्वेषण करते रहे। किन्तु वे इसमें असफल रहे। सबसे अन्त में वे लंकेश्वर के महल में प्रविष्ट हुए, पर वहाँ भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी :

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥
गयउ दसानन मन्दिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥
सयन किएँ देखा कपि तेही।
मन्दिर महुँ न दीखि बैदेही ॥

रावण के भवन से निकलते ही उन्हें एक ऐसा धाम दिखाई दिया जिसके पास हरिमंदिर भी बना हुआ था। मंदिर के ऊपर प्रभु के आयुधों के चिह्न बने हुए थे। मन्दिर की आसपास की भूमि में रामप्रिया तुलसिका के तरु भी लगे हुए थे।

भक्तराज लंका में इस अद्‌भुत विरोधाभास को देखकर चकित रह गए। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि इस भोग-भूमि में किसी संत अथवा भक्त का निवास हो सकता है। मायावी राक्षसों की वेश बदलने की कला से परिचित होने के नाते वे सहज ही विश्वास करने की मुद्रा में नहीं थे। जो लंकाधिपति सारे विश्व से हरिभक्ति और धर्म को निर्मूल कर देना चाहता हो वह अपने ही महल के बगल में हरिमन्दिर का निर्माण होने दे सकता है, इसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती थी। महामोह के इस विशाल नगर में विचारहीन होकर कोई कार्य नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए वे सारी स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं। किन्तु किसी भी निष्कर्ष पर पहुँच पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पा रहा था :

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा।।
रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।।
लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा।।
मन महुँ तरक करैं कपि लागा।

तर्क और विचार किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए उचित माध्यम हो सकते हैं किन्तु उनकी अपनी सीमाएँ हैं। ज्ञान की उपलब्धि में विचार का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। विचार की मथानी के द्वारा ही परम धर्म-रूप दुग्ध से वैराग्य का नवनीत मथ-कर निकाला जाता है। जो अन्त में ज्ञानघृत के रूप में परिणत होता है :

मुदिताँ मथै बिचारि मथानी।
दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ।।

किन्तु भक्ति की उपलब्धि में तर्क और विचार मुख्य साधन नहीं हैं। भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन सन्त अथवा भगवान् की कृपा है। नारद भक्तिसूत्र और रामचरितमानस में इस विषय से सर्वथा एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये गए हैं। नारद भक्तिसूत्र में इन्हीं दो विकल्पों की चर्चा की गई है। भक्तिसूत्र

में मुख्यता सन्तकृपा को दी गई है। और यह कहा गया है कि यह भक्ति महत् कृपा के साथ-साथ भगवत्कृपा लेश से भी प्राप्त हो सकती है :

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा लेशाद्वा।

रामचरितमानस में भी स्वयं प्रभु संत-कृपा को ही भक्ति की उपलब्धि का हेतु मानते हैं। श्रीलक्ष्मण को उपदेश देते हुए प्रभु अरण्यकाण्ड में इसी मत का प्रतिपादन करते हैं :

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

भक्त इसे प्रभु की कृपा का परिणाम मानते हैं। काकभुशुण्डि रामभद्र से अविरल भक्ति की याचना करते हुए इसका प्रतिपादन इस रूप में करते हैं— "आपकी वह विशुद्ध अविरल भक्ति जिसका प्रतिपादन वेद और पुराणों में किया गया है, जिसे बड़े-बड़े योगीश और मुनि खोजा करते हैं किन्तु वह केवल आपकी कृपा से कोई विरला व्यक्ति ही प्राप्त करता है।"

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥

आञ्जनेय लंका में भक्तिदेवी को खोजने का प्रयास कर रहे हैं। सारी रात्रि जाग्रत रहकर अन्वेषण करने पर भी वे उन्हें नहीं खोज पाए। यह सजगता उनके योगीश होने का प्रमाण है। वैसे वे योगीश्वर शिव के अवतार हैं। मानस में योगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है—संसार-रूपी मोह रात्रि फैली हुई है और उसमें सोये हुए जीव नाना प्रकार के स्वप्न देख रहे हैं किन्तु परमार्थ-रत और प्रपंच से विरत योगी इसमें जागता रहता है :

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥

लंका के सोये हुए सारे राक्षस जहाँ पंक्ति के प्रथम भाग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं वहाँ आञ्जनेय के चरित्र में सच्चे योगी का लक्षण दिखाई देता है। ऐसा योगीश भी साधना, तर्क और विचार के माध्यम से भक्ति को नहीं खोज पाया। फिर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब भक्ति की उपलब्धि इनके द्वारा सम्भव ही

नहीं है तब इनका आश्रय लेने की चेष्टा क्यों की जाए ? बहिरंग दृष्टि से सुसंगत प्रतीत होते हुए भी यह मान्यता सही नहीं है। अपनी सामर्थ्य समाप्त होने पर ही व्यक्ति भगवत्कृपा का अधिकारी बनता है। याचना का अधिकार केवल अभाव-ग्रस्त व्यक्ति को है। इसलिए कोई भी जब तक अपनी क्षमताओं की सीमा तक नहीं पहुँच जाता तब तक अभाव और दैन्य की मन:स्थिति का उदय होना संभव नहीं है। इसलिए साधना, तर्क और विचार का आश्रय लेकर आञ्जनेय ने साधकों को सही मार्गदर्शन प्रदान किया। अन्त में "मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला" का सिद्धान्त काम आया। जिस समय आञ्जनेय के अन्त:करण में इस प्रकार के तर्क-वितर्क उठ रहे थे उसी समय विभीषण जाग उठे। उठते ही उन्होंने प्रभु के मंगलमय रामनाम का स्मरण किया। उस नाम-स्मरण में प्रेम का ऐसा प्रवाह था कि आञ्जनेय को तत्काल यह विश्वास हो गया कि यह कोई महान् सन्त है। तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि यह संत मुझसे परिचय न करना चाहे तो भी मैं इससे हठपूर्वक परिचय प्राप्त करूंगा क्यों कि संत से कभी कार्य में हानि नहीं होती :

मन महुँ तरक करैं कपि लागा।
तेहीं समय बिभीषनु जागा॥
राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा।
हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी।
साधु ते होइ न कारज हानी॥

पवननन्दन और विभीषण का सम्बन्ध सर्वथा अनोखा है। दोनों ही एक-दूसरे को परम संत मानकर प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव रखते हैं। हनुमानजी को लगता है, अनुकूल देश और काल में धर्म का निर्वाह सरल है। जिस देश और काल में मैं संत की कल्पना भी नहीं कर पा रहा था वहाँ रहकर जिसने भगवत्प्रेम का निर्वाह किया है उससे बढ़कर महान् संत कौन होगा। मैं इन्हीं का आश्रय लेकर भक्ति-देवी का साक्षात्कार कर पाऊँगा। दूसरी ओर विभीषण का जिस समय आञ्जनेय से मिलन हुआ, उन्हें ऐसा लगा कि आज सच्चे भगवद्भक्त का साक्षात्कार हुआ। जो महान् सन्त विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ विशाल समुद्र को लाँघकर माँ मैथिली तक प्रभु का सन्देश पहुँचाने के लिए आया हुआ है उससे बढ़कर सन्त हो ही कौन सकता है ! एक क्षण के लिए तो उन्हें ऐसा भी प्रतीत हुआ कि कहीं साक्षात् प्रभु ही तो स्वयं को छिपाकर कृपा करने के लिए नहीं आ गए हैं। यह साम्य और भी अधिक घनीभूत रूप में तब सामने आ जाता है जब विभीषण और आञ्जनेय दोनों के ही मुख से 'राम' शब्द का उच्चारण होता है। दोनों नामाश्रयी

हैं। एक में दैन्य है तो दूसरे में विश्वास। विभीषण का दैन्य उनके शब्दों में फूट पड़ता है तो आञ्जनेय की आस्था उनकी वाणी से विनिसृत होती है। दैन्य और विश्वास के इस मिलन से एक ऐसे अनुपम रस की सृष्टि हुई जिससे दोनों आह्लादित हो गए। आञ्जनेय की वाणी ने विभीषण के अन्तःकरण में यह भरोसा उत्पन्न कर दिया कि वे प्रभु को पा सकते हैं। विभीषण के द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या प्रभु मुझ पर कृपा करेंगे, अञ्जनीनन्दन ने गद्गद कंठ से कहा, "मुझ जैसा चंचल और हीन वंदर जिसका नाम ले लेने मात्र से भोजन प्राप्त नहीं होता यदि वह प्रभु की कृपा का अधिकारी हो सकता है तब आपके मन में संशय होना ही नहीं चाहिए।"

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबही बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

हनुमंतलालजी विभीषण से भक्तिदेवी का पता और उन तक पहुँचने की युक्ति का ज्ञान प्राप्त कर आनन्दमग्न हो गए। विभीषण से उन्होंने माँ के मिलन का उपाय पूछा और भक्त ने युक्ति बताई :

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥

भगवद्गुण की स्मृति में डूबे हुए दोनों संत वंदनीय हैं।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

तृन धरि ओट कहति बैदेही ।
सुमिरि अवधपति परम सनेही ।।

अर्थ—अपने परम स्नेही कोशलाधीश श्री रामचन्द्रजी का स्मरण करके जानकीजी तिनके की आड़ (परदा) करके कहने लगीं।

केशरी किशोर, विभीषण की बताई हुई युक्ति से अशोक वाटिका तक पहुँच तो अवश्य जाते हैं किन्तु माँ के सन्निकट जाने का सुयोग नहीं बन रहा था। अशोक वृक्ष के पत्तों की आड़ में छिपे हुए हनुमान विचार करने लगे, "अब मैं माँ के समक्ष किस रूप में जाऊँ।" अभी उनका चिन्तन चल ही रहा था कि रावण अपने रनिवास के साथ अशोक वाटिका में आया। मूल्यवान वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित लंकेश्वर अपने वैभव के द्वारा जगज्जननी को आकृष्ट करना चाहता था। परम सुन्दरी रमणियों से घिरा हुआ दशकंध यह दिखाना चाहता था कि अनगिनत रमणियों ने मेरे वैभव और बल से आकृष्ट होकर आत्मसमर्पण कर दिया है। तुम्हें भी इन्हीं का अनुगमन करना चाहिए। यह पूरी तरह से अर्थ और काम का प्रदर्शन था। धर्म और मोक्ष की चिन्ता किए बिना अर्थ और काम के द्वारा सुख की प्राप्ति का प्रयास रावण के भोगवादी दर्शन के अनुरूप था। भोग-वादी धर्म और मोक्ष को सुख-प्राप्ति के अवरोध के रूप में देखता है, क्योंकि मोक्ष और धर्म, काम और अर्थ को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं। अर्थ के संग्रह सुख को धर्म-वितरण की दिशा में मोड़ना चाहता है। अर्थवादी कहता है सारे

संसार का द्रव्य सिमटकर उसके पास आ जाना चाहिए। किन्तु धर्म उसे बाँटने का आदेश देते हुए कहता है कि यह सारा संसार ईश्वरमय है, इस ब्रह्माण्ड में जो-कुछ है वह ईश्वर का ही है, इसलिए दूसरों का भाग देते हुए उपभोग करो :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

कामी नारी के शरीर के मिलन को ही रसोपलब्धि का साधन मानता है। किन्तु मोक्ष-शास्त्र कहता है कि समग्र रस की अनुभूति तो ब्रह्म के मिलन से ही सम्भव है। क्योंकि सृष्टि का मिलन बंधन और विस्तार का हेतु है। एकमात्र ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति ही बन्धन से मुक्त होने का मार्ग है। रावण किसी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार करने में विश्वास नहीं रखता है, अतः वह ऐश्वर्य और नारियों से घिरा हुआ उन महादेवी के पास आता है जिन्हें दीन ही परम प्रिय हैं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

वह माँ से निर्मल मति प्राप्त करने के स्थान पर उन्हें ही समझाने का प्रयास करता है। इसीलिए गोस्वामीजी ने उसे खल की उपाधि प्रदान की है। माँ के समक्ष पहुँचकर भी उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं होती है। खल का स्वभाव भी यही है। श्रेष्ठ लोगों के संग से वह कुछ अच्छे कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, पर उसके अन्तःकरण की मलिनता दूर नहीं होती :

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।
मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥

रावण का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही था कि वह उत्कृष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर भी उनका सदुपयोग नहीं कर पाता है। भगवान् शिव-जैसा गुरु पाकर भी वह भक्ति के स्थान पर अहंकार-वर्धन के लिए अमरता की याचना करता है। और भक्तिदेवी के सन्निकट पहुँचकर उनके चरणों में स्वयं को समर्पित करने के स्थान पर उन्हें ही अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने की चेष्टा करता है और उन्हें वशीभूत करने के लिए राजनीति का आश्रय लेता है :

तेहि अवसर रावनु तहँ आवा।
संग नारि बहु किएँ बनावा॥

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा।
साम दान भय भेद देखावा।।

अपने को महान् पण्डित समझकर वह अपनी वक्तृत्व कला का प्रदर्शन करता हुआ वैदेही को समझाने का प्रयास करता है। ''सौन्दर्यमयी सीते, तुम बड़ी बुद्धिमती हो। बुद्धिमान व्यक्ति लाभ और हानि को दृष्टिगत रखकर ही निर्णय लेता है। तुम विचार करो, सौन्दर्य का उपयोग क्या है ? क्या वह इसलिए प्राप्त हुआ है कि उसे तपस्या की अग्नि में झुलसाकर विनष्ट कर दिया जाय ? तुम्हारा जन्म एक समृद्ध राजकुल में हुआ है, दुर्भाग्यवश तुम्हारा विवाह एक ऐसे राजकुमार से हुआ है जिसे रञ्चमात्र सौन्दर्य-बोध नहीं है अन्यथा वह वन के विषम वातावरण में ले आकर तुम्हें कष्ट पहुँचाने की चेष्टा नहीं करता। मैं तुम्हारे सौन्दर्य का सम्मान करता हूँ। तुम्हारे निवासस्थान के लिए लंका के स्वर्ण सौध ही उपयुक्त हैं।

''एक स्वर्णमृग को देखकर तुम्हारे अन्तःकरण में उसे पाने की आकांक्षा जाग्रत हुई और तुमने उसे पूर्ण करने के लिए राजकुमार से अनुरोध किया। पर उसमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं थी कि तुम्हारी उस आकांक्षा को पूर्ण कर पाता। किन्तु यह समग्र लङ्का ही शुद्ध स्वर्ण की बनी हुई है। यह सारा वैभव तुम्हें उपलब्ध हो सकता है। किन्तु यह भी याद रखो कि मुझमें निग्रह और अनुग्रह दोनों की सामर्थ्य है। मैं जितना उदार हूँ, अवसर पर उतना ही कठोर बन सकता हूँ। सारा विश्व मेरी भुजाओं का लोहा मानता है। यदि तुम मेरे उदार प्रस्ताव को अस्वीकार करती हो तो मुझे बाध्य होकर तुम्हारा सिर उच्छेद करना पड़ेगा। तुम जिस राजकुमार की स्मृति में निरन्तर आँसू बहाती रहती हो, क्या वह भी तुमसे वैसा ही प्रेम करता है ? यदि उसे तुम्हारी चिन्ता होती तो अब तक तुम्हारा अन्वेषण करता हुआ लङ्का तक पहुँच जाता। वह अवश्य ही किसी अन्य रमणी के प्रेम-पाश में बँध चुका होगा। ऐसी स्थिति में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमत्ता नहीं है।'' सम्भवतः रावण ने राजनीति के चार अङ्गों के माध्यम से प्रभावित करने का प्रयास किया हो। अन्तिम प्रलोभन के रूप में उसने मन्दोदरी सहित सारी रानियों की ओर संकेत करते हुए कहा—ये सारी रानियाँ तुम्हारी सेविका के रूप में रहने के लिए प्रस्तुत हैं। कोई निर्णय करने से पहले तुम एक बार मेरी ओर देखो :

कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी।
मंदोदरी आदि सब रानी।।

तव अनुचरीं करउँ पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥

भगवती जनकनन्दिनी ने लङ्केश्वर को जिन शब्दों में फटकारा वे तो तेजस्विता से भरे हुए थे ही किन्तु उत्तर देने से पहले उन्होंने जिस वस्तु को प्रतीक के रूप में हाथ में ले लिया वह प्रतीक ही रावण की समस्त राजनीति का उत्तर था। वह प्रतीक जिसे सामने रखकर उन्होंने रावण से वार्त्तालाप किया एक नन्हा तृण था। मानस के कुछ प्रसङ्गों में विटप, तरु और लता की ओट का वर्णन किया गया है :

लता ओट तब सखिन्ह लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
× ×
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
× ×
पुनि नाना बिधि भई लराई।
बिटप ओट देखहिं रघुराई॥

लता अथवा तरु की ओट लेना सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि इनकी आड़ में छिपा जा सकता है, किन्तु विदेहजा की ओर से तिनके की ओट लिया जाना बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से वह तृण अनेक भावनाओं का द्योतक है। वे अपने और रावण के बीच में जब तृण स्थापित करती हैं तब शायद रावण यह सोच सकता है कि क्या यह तुच्छ तृण तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ? पर आद्याशक्ति जानती हैं कि इस तृण ने उनके प्रति अपराध करने वाले के लिए कौन-सी भूमिका प्रस्तुत की थी। जयन्त ने मैथिली के सुकोमल चरणों में चोंच से प्रहार कर उन्हें कष्ट पहुँचाने की चेष्टा की, उनके पादपद्मों से रक्त प्रवाहित होते देखकर प्रभु ने एक तृण को ही अपने संकल्प से ब्रह्मास्त्र बना दिया और जयन्त सारे ब्रह्माण्ड में भटककर भी शरणागत हुए बिना 'सींकास्त्र' से अपनी रक्षा नहीं कर पाया। तृण के माध्यम से वे प्रभु के अतुलनीय सामर्थ्य को ही रावण के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। मानों उनका यह उत्तर था कि "मूर्ख रावण जिस तृण ने काल बनकर कभी जयन्त को उसकी धृष्टता का दण्ड दिया था, वह आज भी तुझे विनष्ट कर सकता है। इस तृण को देखकर तू प्रभु के बाण की महिमा का स्मरण कर।" इस नीति में ही रावण की सामनीति का भी

उत्तर विद्यमान था। रावण मैथिली से अपनी ओर दृष्टि डालने का आग्रह करता है, किन्तु वह इसमें सफल नहीं रहा। दूसरी ओर तुच्छ तृण उनकी दृष्टि और करकमल दोनों का वात्सल्य प्राप्त करने में सफल होता है। भक्त स्वयं को तृण के समान तुच्छ मानता है। उसमें नमनीयता और कोमलता है। भक्तिदेवी की प्रसन्नता प्राप्त करने का उपाय भी स्वयं को तृण के समान बना लेना है।

लंका के जिस वैभव के द्वारा दशानन मिथिलेशनन्दिनी को आकृष्ट करना चाहता था उसकी तुच्छता का संकेत भी तृण के माध्यम से दिया गया। प्रभु के अनन्यानुरागी उनकी स्मृति-मात्र से समस्त विषय-विलासों को तृण के समान तुच्छ मानकर छोड़ देते हैं। सीता तो साक्षात् रामभद्र की प्राणेश्वरी ही हैं। उनकी दृष्टि में यदि लंका का सारा वैभव तृण के समान हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु।
राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आचरजु तासु ॥

"महाराज श्रीदशरथ ने प्रभु के वियोग में अपने शरीर को तृण के समान छोड़ दिया। उनकी पुत्रवधू को प्राण का भय दिखलाना मूर्खता का परिचय देना है।"

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥

रावण की भेदनीति का उत्तर देने के लिए भी तृण ही यथेष्ट है। दोहावली में गोस्वामीजी ने तृण के माध्यम से "बाँह गहे की लाज" का बड़ा भावनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। "नदी के किनारों पर हरे तृण दिखाई देते हैं, नदी में डूबने वाला व्यक्ति स्वयं को बचाने के लिए यदि किनारे के तिनकों को पकड़ ले तो इसके दो ही परिणाम होते हैं—या तो तृण उस व्यक्ति को बचा लेता है अथवा स्वयं भी उखड़कर उसके साथ बह जाता है। यदि एक तृण बाँह पकड़कर निर्वाह करता है तब ईश्वर जिसकी भुजा पकड़ ले तो उसे रक्षा की क्या चिन्ता ?"

तुलसी तृण जलकूल को निरबल निपट निकाज।
कै राखे कै संग चलै बाँह गहे की लाज ॥

एक तृण के माध्यम से मैथिली ने दशानन को जो उत्तर दिए वह भावनात्मक दृष्टि से अतुलनीय हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।
राम चरन रति निपुन बिबेका॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।
सीतहि सेइ करहु हित अपना॥

अर्थ—त्रिजटा नाम की एक राक्षसी थी जिसके हृदय में रामचरणों में रति थी तथा वह बहुत समझदार थी। उसने सबको बुलाकर सपना सुनाया तथा कहा कि सीताजी की सेवा करके अपना हित करो।

राक्षसराज रावण के आदेश से राक्षसियाँ मैथिली को भयभीत करने का प्रयास करती हैं। वैदेही के प्रति रावण का अन्तःकरण आक्रोश से भरा हुआ था। रानियों के सामने अपमानित होने से उसका क्रोध सौ गुना बढ़ चुका था। तलवार लेकर वह मारने का अभिनय भी कर चुका था, किन्तु मन्दोदरी के अनुरोध का बहाना लेकर वह अपने हाथों को रोक चुका था। वस्तुतः इसके पीछे उसकी वासना और क्षुद्रता का ही दर्शन होता है। अरण्यकाण्ड में श्वान से की गई उसकी तुलना पूरी तरह सार्थक थी। विनयपत्रिका में मन की श्वान से तुलना करते हुए उसके निर्लज्ज स्वभाव का उल्लेख किया गया है। "उस लोलुप कुत्ते के समान जो अपनी क्षुधा शांत करने के लिए जहाँ-तहाँ मुख डालने की चेष्टा करता है। और सिर पर जूते पड़ने के बाद भी पुनः लौट-लौटकर आता है। मन भी उसी अधम निर्लज्ज की भाँति प्रहार पाकर भी अपने स्वभाव को छोड़ नहीं पाता है।"

लोलुप भ्रम गृह पशु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजैं।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजैं॥

किशोरजी द्वारा दी जाने वाली अधम निर्लज्ज की उपाधि उसके चरित्र का सही चित्र प्रस्तुत करती है :

सठ सूनें हरि आनेहि मोही।
अधम निलज्ज लाज नहिं तोही।।

जो लोग इसमें रावण का औदार्य देखते हैं, उनकी बुद्धि पर तरस आए बिना नहीं रहता है। यदि वह जनकनन्दिनी के द्वारा फटकारे जाने पर उसे सह लेता है तो यह उसकी सहिष्णुता न होकर निर्लज्जता ही है। यदि कोई आघात खाकर पुनः लौटकर आने वाले कुत्ते के व्यवहार में समत्व और सहिष्णुता का दर्शन करता है तो रावण के चरित्र में उस प्रकार की सहिष्णुता का दर्शन अवश्य होता है। वस्तुतः प्रत्येक कामी और लोलुप सहिष्णुता का स्वाँग करता है। उसके मन में यह आशा रहती है कि सम्भव है उसकी अभीष्ट वस्तु उसे प्राप्त हो जाय। रावण अपनी इसी दुराशा को नहीं छोड़ पाता, और वह राक्षसियों को आदेश देता है कि मैथिली को भयभीत करने की चेष्टा करें। यदि एक मास में मेरा कहना नहीं मानेंगी तो स्वयं मैं अपने हाथों से इनका वध करूँगा। राक्षसियाँ भयावने वेश बनाकर मैथिली को आतंकित करने का प्रयास करती हैं :

मास दिवस महुँ कहा न माना।
तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना।।

एक ओर सुग्रीव एक मास की अवधि बन्दरों को देते हैं। यदि अवधि पूरी कर मैथिली का पता लगाए बिना आप लोग लौटकर आए तो मृत्युदण्ड मिलेगा। दूसरी ओर रावण स्वयं वैदेही को भी एक मास की अवधि देता है। अवधि की समानता होते हुए भी उद्देश्य की भिन्नता दोनों के चरित्र का पार्थक्य प्रकट कर देती है। एक की मान्यता यह है कि भक्ति के अभाव में जीवन सर्वथा व्यर्थ है, इसलिए जिस जीवन में भक्ति की उपलब्धि नहीं हुई, वह नष्ट कर देने योग्य है। रावण भक्ति के स्वरूप को न पहचानकर उन्हें ही अपनी वासना के अनुकूल चलाने की चेष्टा करता है और यदि वासना की पूर्ति नहीं होती है तो भक्ति व्यर्थ जान पड़ती है और वह उन्हें ही विनष्ट कर देने का संकल्प प्रकट करता है। पर आञ्जनेय को प्रभु की मंगलमयी लीला का बार-बार साक्षात्कार हो रहा था। विभीषण का भवन देखकर वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे थे—"इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा।" पर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि लंका में भी विभीषण-जैसे सन्त रहते हैं। इस समय तो दृश्य उससे भी अधिक विलक्षण था। भयभीत करने के लिए नियुक्त राक्षसियों में एक सन्त-हृदय निशाचरी निकल आई। यह महान्

रामभक्त और विवेकमयी थी :

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।
राम चरन रति निपुन बिबेका ।।

इनकी आस्था अतुलनीय थी। रावण के कार्य के अनौचित्य को प्रकट करने वाला कोई पात्र लंका में तब तक सामने नहीं आता जब तक महावीर ने सारे नगर को जलाकर नष्ट नहीं कर दिया। आञ्जनेय की अतुल सामर्थ्य का परिचय पाने के बाद ही मन्दोदरी, विभीषण और माल्यवान रावण के समक्ष मुँह खोल पाते हैं। किन्तु त्रिजटा ही एक ऐसी तेजस्विनी महिला है जो राक्षसियों को रावण के आदेश के विरुद्ध भड़काने का साहस एकत्र कर पाती है। ऐसी अतुलनीय आस्था वाले पात्र विरले ही होते हैं। इसलिए जगज्जननी वैदेही ने भी उसे अपूर्व सम्मान दिया। मिथिला और अयोध्या में जो स्थान सुनयना और कौशल्या का था, उसी गौरव की अधिकारिणी लंका में त्रिजटा बनी। आद्याशक्ति ने उसे बार-बार माँ कहकर पुकारा :

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी।
मातु बिपति संगिनि तैं मोरी ॥

× ×

होइहि कहा कहसि किन माता।
केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता ।।

विपत्ति के कठिन क्षणों में आस्था का स्वर गूंजा। त्रिजटा ने एक स्वप्न देखा था और उस स्वप्न की सत्यता में उसका अविचल विश्वास था। इसीलिए उसने निर्भीक स्वर में राक्षसियों को उपदेश दिया—यदि तुम अपना हित चाहती हो तो सीता की सेवा करो। मैंने एक स्वप्न देखा है कि एक बन्दर ने आकर लंका को जला दिया है। उसने राक्षसों की विशाल सेना को भी विनष्ट कर दिया है। रावण गधे पर नग्न बैठा हुआ है, उसका सिर और भुजाएँ खण्डित हो चुकी हैं, वह दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है। लंका के राज्य सिंहासन पर विभीषण विराजमान हो गए हैं। मैं पुकारकर कह रही हूँ, कुछ दिनों में ही यह स्वप्न सत्य होकर रहेगा :

सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।
सीतहि सेइ करहु हित अपना।।

सपनें बानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा।
मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई।
लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई।
तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी।
होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥

तात्त्विक दृष्टि से त्रिजटा ऋतम्भरा प्रजा की प्रतीक है। ऋतम्भरा का तात्पर्य है जिसमें सत्य को छोड़कर कोई अन्य वृत्ति या संस्कार अवशिष्ट न हो। प्रत्येक जीव ईश्वर का अंश है इस दृष्टि से ईश्वर का 'सर्वज्ञता' गुण उसमें होना चाहिए, किन्तु उसका यह गुण अपने ही द्वारा बनाये गए अवरोधों से परिछिन्न हो गया है। व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए घर का निर्माण करता है, घर की दीवार जहाँ सुरक्षा का साधन है वहीं अवरोध बनकर आगे भी खड़ी हो जाती है। दीवार के कारण निकट होते हुए भी उस पार की वस्तु नहीं दिखाई देती है। व्यक्ति ने समाज में रहते हुए व्यवहार की सुरक्षा के लिए अन्तःकरण में संस्कारों के अनेक अवरोध खड़े कर दिए हैं। इन अवरोधों के कारण ही जीव की सर्वज्ञता-शक्ति परिछिन्न हो गई है। जो योगाभ्यास के द्वारा संस्कार के इन अवरोधों को समाप्त कर देते हैं उनमें सर्वज्ञता का सहज गुण प्रकट हो जाता है। साधारण व्यवहार में व्यक्ति का जीवन तीन अवस्थाओं में संक्रमण करता रहता है। वे हैं —जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। व्यवहार में वह अपनी दृष्टि में यथार्थ सृष्टि को देखता है और स्वप्न में कल्पित सृष्टि का साक्षात्कार होता है। किन्तु साधना के द्वारा जब अवस्थाओं का यह विभाजन समाप्त हो जाता है तब जाग्रत और स्वप्न का कोई भेद शेष नहीं रहता।

त्रिजटा की स्थिति भी यही है। प्रभु के मंगलमय श्रीचरणों का ध्यान करती हुई वह तदाकार बन चुकी है। उसे वह दृष्टि प्राप्त है जिसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, भूत, वर्त्तमान और भविष्य का भेद मिट चुका है। इसीलिए उसके मन में स्वप्न के कल्पित होने का कोई भय नहीं है। निर्भय होकर वह घोषणा करती है और वह भी 'पुकारकर'। 'पुकारी' का तात्पर्य यह था कि मैं तुम लोगों से जो-कुछ कह रही हूँ वह कानाफूसी के रूप में लुकीछिपी बात नहीं है। इसे मैं

उच्च स्वर में खुलकर कहती हूँ। इस तरह वह उन राक्षसियों को चुनौती देती है जिनके अंत:करण में स्वप्न के प्रति अविश्वास हो। "त्रिजटा ने मानों राक्षसियों को यह बता दिया कि तुम आज जिसे सत्य समझ रही हो, वही कुछ ही दिनों में स्वप्न सिद्ध हो जाएगा। स्वप्न वर्त्तमान में यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु दिन में जाग्रत होते ही उसका मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। पर आज मेरे द्वारा तुम जो स्वप्न सुन रही हो वही भविष्य में यथार्थ बनकर तुम्हारे समक्ष आने वाला है।" त्रिजटा के आस्था-भरे स्वर ने राक्षसियों को इतना प्रभावित किया कि वे माँ मैथिली के चरणों में गिर पड़ीं :

तासु बचन सुनि ते सब डरीं।
जनकसुता के चरनन्हि परीं॥

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।
अस कहि सो निज भवन सिधारी॥

अर्थ—हे सुकुमारी ! सुनो, रात्रि के समय आग नहीं मिलेगी। ऐसा कहकर वह अपने घर चली गई।

त्रिजटा के स्वप्न को सुनकर राक्षसियाँ दूर चली जाती हैं, किन्तु इससे किशोरी मैथिली की अन्तर्वेदना कम नहीं हो जाती है। उन्हें अपना जीवन सर्वथा निःसार प्रतीत होने लगता है। इस तरह प्रतिकूल वातावरण में प्रतिक्षण मृत्यु की प्रतीक्षा उन्हें असह्य प्रतीत होती है और वे प्राणों का परित्याग करने के लिए व्याकुल हो उठती हैं। सहायता के लिए उनकी दृष्टि त्रिजटा की ओर जाती है और वे अनुरोध करती हैं, "माँ ! आपने विपत्ति में मेरा साथ दिया है, अब मेरे ऊपर एक कृपा और कीजिए। काष्ठ ले आकर उसकी चिता सजा दीजिए और जब मैं उस पर बैठ जाऊँ तो उसमें आग लगा दीजिए। इसे आप किसी भिन्न अर्थ में न लें। शरीर तो विनष्ट होने वाला है ही किन्तु इस शरीर के परित्याग द्वारा मेरे प्रेम की सत्यता सिद्ध हो जाएगी। रावण के द्वारा शूल के समान जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें सुनने की अपेक्षा शरीर को जला देना ही अधिक सुखद है।"

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी।
मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥

तजौं देह करु बेगि उपाई।
दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई।
मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी।
सुनै को श्रवन सूल सम बानी॥

त्रिजटा के स्वप्न को सुनकर सारी राक्षसियों को उसकी सत्यता में विश्वास हो गया किन्तु वही स्वप्न मैथिली को आश्वस्त नहीं कर पाया। साधु के वेश में रावण द्वारा छले जाने पर वे इतनी अधिक विचलित हो गईं कि कहीं भी विश्वास कर पाना उनके लिए कठिन हो गया। प्रत्यक्ष से आस्था मिट जाने पर स्वप्न पर विश्वास कर पाना उनके लिए कैसे सम्भव होता। उन्हें सम्भवतः यह सन्देह भी हुआ होगा कि कहीं त्रिजटा ने मेरी रक्षा के लिए काल्पनिक स्वप्न का वर्णन तो नहीं किया है। क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि सत्पुरुष दूसरों के प्राणों की रक्षा के लिए अनृत का आश्रय लेने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। फिर स्वप्न में जिस बन्दर के आने की बात कही गई थी उससे स्वप्न की काल्पनिकता पर उनका विश्वास बढ़ गया था, क्योंकि किसी बन्दर से प्रभु के परिचय की बात उन्हें ज्ञात न थी। एक बन्दर के द्वारा नगर जलाए जाने का स्वप्न उन्हें सर्वथा असम्भव प्रतीत हुआ होगा। फिर भी उन्हें इतना विश्वास अवश्य था कि त्रिजटा के हृदय में उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है। उन्होंने स्वप्न का काल्पनिक वर्णन कर अपने मातृत्व का परिचय दिया है। जैसे माँ अपने बालकों को आनन्दित करने के लिए काल्पनिक कथाएँ सुनाया करती है फिर भी उसे कोई असत्यवादी नहीं कहता। उसी प्रकार त्रिजटा ने वात्सल्य के कारण मेरी प्राण-रक्षा के लिए जो वाक्य कहे हैं वे उनके वात्सल्य के ही परिचायक हैं। इस प्रकार के अन्तर्भावों ने उनके अन्तः-करण में आशा की सृष्टि नहीं होने दी। एक महीने की प्रतीक्षा के बाद रावण के हाथों से मारे जाने के स्थान पर स्वयं को अग्नि में समर्पित कर देना उन्हें अधिक कल्याणकारी प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने त्रिजटा से इस कार्य में सहायक होने की प्रार्थना की। साथ ही उनके अन्तर्मन में एक चिन्ता भी अवश्य हुई होगी। त्रिजटा के स्वप्न का समाचार यदि रावण तक पहुँच गया तो त्रिजटा के प्रति रावण के मन में कितना आक्रोश उत्पन्न होगा इसकी कल्पना वे कर सकती थीं। उन्हें ऐसा लगा यदि मैं त्रिजटा की सहायता से अपने प्राणों का परित्याग कर सकी तो रावण को यह सन्तोष हो जाएगा कि मन्दोदरी की उपस्थिति के कारण मैं जिस प्राणदण्ड को क्रियान्वित नहीं कर पाया उसे त्रिजटा ने पूरा करके उसके

संकल्प को साकार रूप दे दिया है। अतः प्राण के परित्याग में ही उन्हें सारे लाभ दिखाई देने लगे। किन्तु आस्थामयी त्रिजटा मैथिली के अन्तर्मन की व्याकुलता और नैराश्य को पहचान चुकी थी। वह यह भी जानती थी कि वे इस समय समझने की मनःस्थिति में नहीं हैं। अतः वक्तृता के द्वारा उन्हें इस कार्य से विरत नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने एक नन्हे-से वाक्य के द्वारा वैदेही के प्रस्ताव को टाल दिया। उन्होंने कहा, "सुकुमारी जानकी, रात्रि में अग्नि में मत मिलो" यह नन्हा-सा वाक्य "अरथ अमित अरु आखर थोरे" का एक श्रेष्ठ दृष्टान्त है।

वहिरङ्ग दृष्टि से इसमें शास्त्रीय आज्ञा का आश्रय लिया गया है। रात्रि में शवदाह निषिद्ध है। त्रिजटा का आग्रह यह था कि जब मृत शरीर को भी रात्रि में नहीं जलाया जाता तब मर्यादा पुरुषोत्तम की प्रिया होकर आप अपने शरीर को रात्रि में ही जलाने का आग्रह क्यों करती हैं ? आप यदि रावण के द्वारा मृत्यु में अपावनता की कल्पना करती हैं तो इस शास्त्रीय आज्ञा का उल्लंघन करने में भी वही समस्या सामने आ जाएगी।

ज्ञान की दृष्टि से मोह की वृत्ति ही रात्रि है। और उस मोह-रात्रि में कल्पित स्वप्न के द्वारा व्यक्ति भय से संत्रस्त हो रहा है :

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

स्वप्न प्रगाढ़ होने पर व्यक्ति कभी-कभी सचमुच ही चिल्ला उठता है। वह चिल्लाने वाला व्यक्ति कितना भी प्रिय क्यों न हो उसकी पुकार को यथार्थ नहीं मान लेना चाहिए। "एक व्यक्ति अपने आनन्ददायक कक्ष में सुकोमल शय्या पर विश्राम कर रहा था, अचानक स्वयं को उसने समुद्र में डूबते हुए देखा और जोर से चिल्लाकर बोला—मित्र बचाओ, मेरे पास नौका ले आओ, मैं समुद्र में डूब रहा हूँ। जागे हुए मित्र ने इस पुकार को सुना। अब उसका कर्त्तव्य क्या है ? क्या वह सचमुच नौका लाने के लिए बाहर की ओर भाग खड़ा हो। यदि वह बुद्धिमान होगा तो नौका लाने के स्थान पर उसे जगाने का प्रयास करेगा।"

सुभग सेज सपने सोवत बारिधि बूड़त भय लागे।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागे॥

त्रिजटा का संकेत यह था कि आप भी लंका की इस मोह-रात्रि में कल्पित आशंकाओं से प्राण-त्याग के लिए प्रस्तुत हो गई हैं। और इसीलिए मुझसे अग्नि की याचना कर रही हैं। किन्तु मैं रात्रि व्यतीत होने की प्रतीक्षा करूँगी। मुझे

विश्वास है कि कल्पित स्वप्न से जागकर आप इस संकल्प की व्यर्थता समझ लेंगी।

अथवा यह तो प्रकाश और अन्धकार का युद्ध है, एक ओर निशाचर रावण और दूसरी ओर सूर्यवंशोत्पन्न राम। प्राण का परित्याग कर देना अन्धकार की विजय को स्वीकार कर लेना है। सूर्यवंश की पुत्र-वधू अन्धकार के संकल्प को पूर्ण होने दे, यह मुझे सह्य नहीं है।

रात्रि नैराश्य और प्रतिकूलता की भी प्रतीक है। सघन अन्धकार को देखकर भय की अनुभूति होती है। बहुधा रात्रि में रोग और दुःख की वृद्धि देखी जाती है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि दिन में व्यक्ति प्रिय परिजनों से घिरा हुआ होता है। जिनकी संवेदना के कारण व्यक्ति अपने को कुछ हलका महसूस करता है। सूर्य के प्रकाश से भी उसमें आशा का संचार होता है। रात्रि में व्यक्ति अपने को अकेला पाता है। उसकी निराशा बढ़ जाती है, धैर्य छूटने लगता है। किन्तु रात्रि शाश्वत नहीं है। अन्धकार कितना भी घना क्यों न हो, अन्त में प्रातःकाल प्रकाश की किरणें फूटती हैं और अन्धकार का कहीं पता भी नहीं चलता। लंका तो यों भी निशाचरों की नगरी है। रावण अपनी वाणी के द्वारा अन्धकार की सृष्टि करता है। फिर यह भौतिक दृष्टि से भी रात्रि की ही वेला थी। अतः मैथिली को चारों ओर से केवल अन्धकार ही दिखाई देता है। किन्तु त्रिजटा भविष्य के उस प्रकाश को देख रही है। उसे ज्ञात है कि आने वाला दिन विदेहनन्दिनी के लिए आशा और प्रकाश का सन्देश लेकर आएगा, इसीलिए वह उनसे रुकने और प्रतीक्षा करने का अनुरोध करती है। उसकी वाणी वस्तुतः यथार्थ सिद्ध हुई। आञ्जनेय ने माँ को आश्वस्त करते हुए कहा—माँ, प्रभु के शर-सूर्य का उदय होते ही निशाचरों की यह अन्धकारमयी सेना विनष्ट हो जाएगी :

राम बान रबि उएँ जानकी।
तम बरूथ कँ जातुधान की॥

त्रिजटा ने मैथिली से रुकने का अनुरोध करते हुए उन्हें 'सुकुमारी' कहकर संबोधित किया। इस शब्द के अन्तराल में त्रिजटा स्नेह-भरा उलाहना देती हुई प्रतीत होती है। "राजकुमारी, अत्यन्त सुकुमार होते हुए तुम इतनी कठोर कल्पना कैसे कर पाती हो? इस सुकुमार शरीर को जिसने प्रभु को अपार सुख दिया हो, उसे जलाकर तुम किस अपराध का दण्ड देना चाहती हो? यह तो सोचो कि मुझे तुमने माँ कहकर पुकारा और फिर चिता में अग्नि लगा देने का अनुरोध किया। क्या कोई ऐसी क्रूर हृदया माँ हो सकती है कि जो अपनी सुकुमार पुत्री को

चिता की अग्नि में दग्ध करने की बात सोचे ? दग्ध करना तो दूर इस कल्पना से ही माँ का हृदय विदीर्ण होने लगता है। तुम माँ कहने के बाद मुझसे ऐसा अनुरोध कैसे कर पाईं ?"

त्रिजटा ने यह अनुभव कर लिया कि इस समय मेरा यहाँ रहना उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए अनुरोध निवेदन कर वह तत्काल वहाँ से चली गई।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥

अर्थ—तब हनुमानजी ने हृदय में विचारकर (सीताजी के सामने) अँगूठी डाल दी, मानों अशोक ने अंगारा दे दिया। (यह समझकर) सीताजी ने हर्षित होकर उठकर उसे हाथ में ले लिया।

"तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई" से लेकर त्रिजटा के जाने तक जो घटनाएँ हुईं, आञ्जनेय को उनका मूक द्रष्टा ही बने रहना पड़ा। साधारण स्थिति में वे सारी घटनाएँ उनके लिए असह्य थीं, जो उनके समक्ष घटती रहीं। अतुलनीय पराक्रमी अञ्जनीनन्दन के समक्ष एक क्रूर राक्षस माँ मैथिली के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग करता हुआ मारने के लिए प्रस्तुत हो जाय, इससे बढ़कर उनका अपमान क्या हो सकता था ? उस समय की उनकी मनःस्थिति के लिए गोस्वामीजी ने गीतावली में विन्ध्याचल की कथा का स्मरण किया है। सूर्य का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए ऊपर की ओर उठता हुआ विन्ध्य पर्वत महर्षि अगस्त्य के आदेश के समक्ष नत हो जाता है। रावण के वचनों को सुनकर बढ़ता हुआ क्रोध विन्ध्य के समान था, किन्तु प्रभु के आदेश की स्मृति-रूप अगस्त्य ने उन्हें शान्त रहने के लिए बाध्य कर दिया। शायद ही जीवन में कभी उनके धैर्य की इतनी कड़ी परीक्षा हुई हो। किन्तु इस परीक्षा में वे पूरी तरह खरे उतरे। अपने अतुलनीय साहस और पराक्रम को उन्होंने छिपा लिया। क्योंकि वे कालतत्त्व को जानने वाले थे। समय पर ही

प्रत्येक कार्य सफल होता है, यह उनसे छिपा हुआ नहीं था। फिर उन्हें यह भी भय लगा होगा कि यदि इस अवसर पर उन्होंने रावण से युद्ध किया तो सम्भव है रावण की मृत्यु हो जाए और मेरा यह कार्य प्रभु के लीला-विस्तार का विनाशक सिद्ध हो। उन्हें समुद्रतट के अपने संकल्प की स्मृति थी जब उन्होंने रावण के वध का विचार कर लिया था :

सहित सहाय रावनहि मार ।
आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥

किन्तु सम्मति माँगने पर जाम्बवान् ने इसके प्रतिकूल मत दिया था, और यह कहा था कि रावण के वध का कार्य प्रभु के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए जिससे प्रभु की मङ्गलमयी यशोगाथा का निर्माण हो सके। और जिसे गाकर भविष्य में भी मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बन सके :

**एतना करहु तात तुम्ह जाई ।
सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥
तब निज भुज बल राजिव नैना ।
कौतुक लागि संग कपि सेना ॥
कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनि हैं ।
त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि हैं ॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई ।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई ॥**

सभी दृष्टियों से आञ्जनेय को यही उपयुक्त प्रतीत हुआ कि इस अवसर पर मेरा हस्तक्षेप उचित नहीं होगा। फिर भी उन्होंने अपनी इस बाध्यता को कलंक के रूप में देखा और उन्हें यह लगा कि माँ का मेरे समक्ष यह अपमान वस्तुतः मेरे मुख पर कालिख के समान है और इसे धो डालना है। आगे चलकर जगज्जननी से वार्त्तालाप करते हुए उन्होंने अपनी अन्तर्व्यथा का वर्णन इन्हीं शब्दों में किया था। और माँ के समक्ष यह व्रत लिया था कि कल राक्षसों की रक्त-सरिता में स्नान कर मैं इस कालिख को धो डालूंगा। गीतावली के निम्नलिखित पद में इसका बड़ा ही मार्मिक और करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है :

**सुवन समीर को धीर धुरीन, बीर बड़ोइ ।
देखि गति सिय-मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ ॥**

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध बिंध्य बढ़ोइ।
सकुचि सम भयो ईस-आयसु कलसभव जिय जोइ॥
बुद्धि बल, साहस-पराक्रम अछत राखे गोइ।
सकल साज समाज साधक समउ, कहै सब कोइ॥
उतरि तरु तें नमत पद, सकुचात सोचत सोइ।
चुके अवसर मनहु सुजनहि सुजन सनमुख होइ॥
कहे बचन बिनीत प्रीति-प्रतीति-नीति निचोइ।
सीय सुनि हनुमान जान्यो भली भाँति भलोइ॥
देबि! बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ।
कहौंगो मुख की समरसरि कालि कारिख धोइ॥
करत कछू न बनत, हरिहिय हरष सोक समोइ।
कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ॥

पर हनुमानजी के समक्ष घटने वाली इन घटनाओं का दूसरा पक्ष भी था, उन्हें प्रभु की कृपा की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही थी। मन्दोदरी द्वारा जिस प्रकार वैदेही-वध का निषेध किया गया वह प्रभु की कृपा का प्रत्यक्ष चमत्कार था। मन्दोदरी के लिए व्यावहारिक दृष्टि से मैथिली का जीवित रहना अत्यन्त दुःखदायी था। उसीके समक्ष रावण ने यह कहकर अपनी पट्टमहिषी को अपमानित किया था कि "मन्दोदरी सहित सारी रानियाँ तुम्हारी सेविका बनकर रहेंगी।" अतः उसे यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिए कि वैदेही की मृत्यु से प्रतिद्वन्द्विता का भय समाप्त हो गया। किन्तु जब वही रावण का हाथ पकड़ लेती है, तब यह अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा का ही चमत्कार मानना चाहिए। राक्षसियों के बीच में त्रिजटा की नियुक्ति में भी उन्होंने प्रभु की अनुकम्पा का दर्शन किया होगा। वैदेही को भयभीत करने के लिए भी क्रूर हृदया राक्षसियों को ही चुना गया होगा। उनके बीच आस्था और भावना से भरी हुई निशाचरी की नियुक्ति किसीकी कृपा से सम्भव हुई होगी। इतना ही नहीं त्रिजटा के स्वप्न ने आञ्जनेय को कितना चौंकाया होगा, इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है। प्रभु ने यात्रा के समय आदेश देते हुए केवल उन्हें सन्देश पहुँचाने का कार्य सौंपा था। जाम्बवान् ने भी उसी आदेश का बलपूर्वक समर्थन किया था। पर त्रिजटा का स्वप्न इससे भिन्न ही सन्देश दे रहा था। त्रिजटा की आस्था और उसका यह दावा कि मेरा यह स्वप्न सत्य सिद्ध होकर रहेगा, उन्हें कम आश्चर्यजनक नहीं लगा होगा। त्रिजटा के सुदृढ़ विश्वास ने उनके सामने यह समस्या खड़ी कर दी कि वे प्रत्यक्ष को सत्य मानें अथवा स्वप्न को प्रामाणिक मानकर लंका को जलाने और राक्षसों का वध करने का प्रयास

करें। त्रिजटा के स्वप्न को वे सरलता से मिथ्या नहीं मान सकते थे। आद्याशक्ति सीता के सन्निकट रहकर उन्हें आश्वासन प्रदान करने वाली त्रिजटा एक साधारण राक्षसी हो सकती है, वे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। त्रिजटा की वाणी के प्रभाव को भी उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था कि किस प्रकार राक्षसियों का क्रूर हृदय त्रिजटा के स्वप्न से परिवर्तित हो गया था। इसलिए उन्होंने त्रिजटा के स्वप्न को अत्यन्त गम्भीरता से लिया था। राक्षसों का वध त्रिजटा के स्वप्न का ही परिणाम था। उन्होंने त्रिजटा के स्वप्न को प्रभु के आदेश से भी अधिक महत्त्व दिया। यह उनकी "मोहि ते अधिक सन्त करि लेखा" की आस्था का सूचक था।

त्रिजटा के जाने के पश्चात् हनुमानजी के समक्ष यह प्रश्न था कि वे जगज्जननी के सामने किस रूप में जाएँ। वे माँ की विरह-वेदना से परिचित थे। नैराश्य के जिस चरम बिन्दु पर आकर वे प्राण का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गई थीं उसमें रञ्चमात्र असावधानी घातक सिद्ध हो सकती है, यह उन्हें ज्ञात था। किन्तु माँ के मुख से निकली हुई वाणी ने उन्हें मार्गदर्शन दे दिया। त्रिजटा के जाने के बाद निराश वैदेही अशोक वृक्ष की ओर उन्मुख होती हैं। उन्होंने इस नाम के अर्थ पर विचार किया जिसका तात्पर्य था—'शोकरहित' जो स्वयं अशोक है वह मेरा शोक क्यों नहीं दूर कर सकता ? अतः वे उसीसे प्रार्थना निवेदन करने लगीं :

सुनहि बिनय मम बिटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका।।
नूतन किसलय अनल समाना।
देहि अगिनि जनि करहि निदाना।।

मैथिली अशोक से अग्नि की याचना करती हैं। क्योंकि उन्हें अशोक के नवीन पत्तों को देखकर अग्नि की भ्रान्ति हुई। यही वह अवसर था जिसका उपयोग आञ्जनेय ने बड़े विलक्षण रूप में किया। अशोक नाम और रूप दोनों ही भ्रम की सृष्टि करते हैं। यह नाम का अशोक दूसरों के शोक का कारण ही बन सकता है। जैसे इसके पत्तों से अग्नि की भ्रान्ति होने पर भी वह ताप और प्रकाश नहीं दे सकता वैसे ही उसका नाम भी शोक दूर करने में असमर्थ है। मारुति को लगा माँ जिस वस्तु की याचना कर रही हैं, वह तो मेरे ही पास है। शोक दूर करने वाला नाम तो एकमात्र प्रभु का है। चारों युग, भूत, भविष्य, वर्त्तमान और तीनों लोकों में जिसका आश्रय लेकर लोग शोक-मुक्त होते रहे हैं, और होते रहेंगे, वह है राम-नाम :

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका।
भए नाम जपि जीव बिसोका।।

माँ जिस अग्नि की याचना कर रही हैं वह भी इस नाम में ही विद्यमान है। अग्नि ही क्यों सूर्य और चन्द्रमा का मूलतत्त्व भी इसी दो अक्षर के नाम में है :

बंदउँ नाम राम रघुबर को।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को।।

अब रामनामांकित यह मुद्रिका माँ के पास कैसे पहुँचाई जाय, यह दूसरा प्रश्न था। स्वाभाविक और शिष्टजनोचित परम्परा तो यह थी कि वे वृक्ष से नीचे उतरकर आदरपूर्वक वह मुद्रिका माँ के समक्ष प्रस्तुत करते, किन्तु अनेक दृष्टियों से यह उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ।

भावात्मक दृष्टि से उन्हें लगा कि प्रभु का मंगलमय नाम मेरे माध्यम से माँ को उपलब्ध हो, यह उचित नहीं होगा। नाम आचार्य के द्वारा शिष्य अथवा साधक को प्राप्त होता है। माँ, के समक्ष आचार्य बनकर पहुँचूँ यह धृष्टता की पराकाष्ठा होगी। इसके स्थान पर प्रभु के आश्रय से मैं माँ की कृपा प्राप्त कर सकूँ, यही उपयुक्त होगा।

मुद्रिका डालकर मारुति ने माँ को अपना प्रेम-भरा उलाहना भी पहुँचाया। यदि किशोरीजी उनसे यह प्रश्न करें कि क्या मुद्रिका को डालकर तुमने नाम के प्रति अनादर और अशिष्टता का परिचय नहीं दिया है तो आञ्जनेय का उत्तर होगा—"करुणामयी माँ, मैंने तो आपका ही अनुगमन किया था! यदि आप प्रभु के मंगलमय नाम का परित्याग कर जड़ अशोक के नाम का आश्रय लें तो क्या एक बन्दर से यह आशा की जा सकती है कि वह निष्ठापूर्वक नाम को पकड़े रहे? आपके इस कार्य से मुझे भय है कि नाम की महिमा नीचे गिर जाएगी। अब इसे पुनः सँभालना आपके लिए ही सम्भव है।" वस्तुतः अञ्जनीनन्दन ने मुद्रिका तभी नीचे की ओर डाली जब माँ को दृष्टि और हाथ दोनों ही ऊपर की ओर थे। वे जानते थे कि ऊपर से किसी वस्तु को गिरते देखकर माँ उसे बीच में ही पकड़ लेंगी। हुआ भी यही। मुद्रिका को ऊपर से आते देखकर मैथिली ने उसे अशोक के द्वारा दी गई अग्नि समझकर बीच में ही पकड़ लिया। भक्तराज यह देखकर गद्-गद हो उठे और सोचने लगे कि अब भक्तिदेवी के करकमलों में नाम और उसकी महिमा सुरक्षित है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जीति को सकइ अजय रघुराई।
माया तें असि रचि नहिं जाई॥

× ×

रामचन्द्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥

अर्थ—श्री सीताजी सोचने लगीं—"श्री रघुनाथजी तो सर्वथा अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है और माया से ऐसी (माया के उपादान से सर्वथा रहित दिव्य, चिन्मय) अँगूठी बनाई नहीं जा सकती।"…श्री हनुमानजी श्री रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करने लगे। जिसको सुनते ही सीताजी का दुःख भाग गया।

मारुति के द्वारा डाली गई मुद्रिका पाते ही मैथिली आश्चर्यचकित रह गईं। एक साथ उनके अन्तःकरण में दो परस्पर विरोधी भावों का उदय हुआ। प्रियतम के करकमलों में निरन्तर निवास करने वाली मुद्रिका को छूकर प्राणेश्वर के स्पर्श के आनन्द की अनुभूति ने उन्हें विह्वल बना दिया। पर साथ ही स्नेह के कारण हृदय क्षण-भर के लिए भयाक्रान्त हो गया कि यह मुद्रिका यहाँ कैसे आ पहुँची। कुछ समय पहले क्रूर रावण ने जिस प्रकार की बातें कही थीं, उसके सन्दर्भ में मुद्रिका मन में अनिष्ट की आशंका भी उत्पन्न करती है। "क्या रावण ने ही अपनी विजय के प्रदर्शन के लिए मुद्रिका को मेरे सामने फेंकने की चेष्टा की है?" किन्तु अगले ही क्षण वे पुनः सोचने लगीं—"प्रभु के स्वरूप और सामर्थ्य पर संशय के कारण ही मुझे लंका में बंदिनी बनना पड़ा है। मैं पुनः वही अपराध करने जा रही हूँ। अजित प्रभु को जीत पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है, तो क्या यह राक्षसी माया के द्वारा विरचित मुद्रिका है? किन्तु माया के द्वारा ऐसी मुद्रिका नहीं बनाई

जा सकती, जिसे देखकर मैं भ्रम में पड़ जाऊँ।"

जीति को सकइ अजय रघुराई।
माया तें असि रचि नहिं जाई॥

उपर्युक्त पंक्ति में 'असि' शब्द का प्रयोग बड़े महत्त्व का है। यदि यह मान लिया जाय कि रावण माया के द्वारा मुद्रिका का निर्माण नहीं कर सकता है, तो यह अनेक प्रतिकूल दृष्टान्तों के कारण असंगत सिद्ध होगा। लंका के युद्ध में रावण ने अपनी माया के द्वारा अनेक राम और लक्ष्मण के रूपों का निर्माण कर दिया :

बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥

यदि रावण राम का निर्माण कर सकता था, तब तो मुद्रिका के निर्माण को असम्भव मानना असंगत सिद्ध नहीं होगा। इसलिए जब वैदेही इस वाक्य का प्रयोग करती हैं तब उनका उद्देश्य केवल स्वदृष्टि से है। जादूगर जब इन्द्रजाल का प्रदर्शन करता है, तब वह अपेक्षाकृत न्यून मानसिक धरातल वालों को ही प्रभावित कर सकता है। किन्तु परिपक्व बुद्धि वाले उससे प्रभावित नहीं होते। रूप-परिवर्तन या वस्तु-निर्माण की ऐन्द्रजालिक प्रक्रिया क्या है ? जब एक मायावी किसी आकृति को ग्रहण करता है, तब उसका तात्पर्य वस्तुतः आकृति को बदल डालना नहीं है। वह केवल मानसिक संकल्प से दूसरों के मन और दृष्टि को इस रूप में प्रभावित कर लेता है कि सम्मोहित व्यक्ति, वस्तु और व्यक्ति के रूप में परिवर्तन के बिना ही उसे उस रूप में देखने लग जाता है। सती ने जब अपने संकल्प से सीताजी का वेश बनाया, तब भी वे श्रीलक्ष्मण को भ्रम में डालने में समर्थ नहीं हुईं। माया के द्वारा राक्षस जिस वस्तु या व्यक्ति का निर्माण करते थे, उसमें भी यही प्रक्रिया दिखाई देती है। उस समय रावण जिस मानसिक संकल्प का विस्तार करता है, उससे प्रभु को छोड़कर अन्य सभी के भ्रमित होने का वर्णन किया गया है :

सो माया रघुबीरहि बाँची।
लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥

यह शक्ति केवल रावण की निशाचरी माया-मात्र में ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो प्रभु को छोड़कर अन्य अनेक ऐसे पात्र हो सकते थे, जो रावण की माया से प्रभावित न होते। किन्तु महामाया आदिशक्ति सीता का निरन्तर चिन्तन करने से उनकी शक्ति का प्रभाव रावण में भी आ जाता है। वैदेही समस्त मायाओं की

अधीश्वरी हैं, इसीलिए जब जनकपुर में उन्होंने अयोध्या से आई हुई बारात का स्वागत करने के लिए सिद्धियों को आदेश दिया तब प्रभु को छोड़कर अन्य सिद्ध-योगीश अथवा देवता इस रहस्य को नहीं समझ पाए। एकमात्र मायापति प्रभु ही इस रहस्य को समझ पाते हैं :

जानी सियँ बरात पुर आई।
कछु निज महिमा प्रगटि जनाई।।
हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं।
भूप पहुनई करन पठाईं।।
सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।
लिएँ संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास।।
निज-निज बास बिलोकि बराती।
सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती।।
बिभव भेद कछु कोउ न जाना।
सकल जनक कर करहिं बखाना।।
सिय महिमा रघुनायक जानी।
हरषे हृदयँ हेतु पहिचानी।।

चित्रकूट में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती है। अयोध्या से सात सौ सासुओं का समूह एकत्र हुआ था। मैथिली ने उतने ही रूप बनाकर सासुओं की सेवा की। परन्तु वहां भी प्रभु को छोड़कर उसे कोई नहीं जान पाया :

सीय सासु प्रति बेष बनाई।
सादर करइ सरिस सेवकाई।।
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ।
माया सब सिय माया माहूँ।।

सृष्टि की समस्त माया शक्तियों का उद्भव महामाया श्रीसीता से ही हुआ है। इसलिए स्वयं ब्रह्म भी समस्त विश्व प्रपञ्च का निर्माण मायाशक्ति के आश्रय से ही करता है। प्रभु ने मनु के समक्ष उनका परिचय देते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया :

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।

जब वे स्वर्णमृग या रावण के साधुवेश को देखकर भ्रान्त होती हुई प्रतीत

होती हैं, तब यह उनका अभिनय-मात्र होता है। जिसे उन्होंने प्रभु की लीला-विस्तार के लिए उन्हीं के अनुरोध से स्वीकार किया है। इसलिए जब वे यह कहती हैं कि माया के द्वारा ऐसी मुद्रिका का निर्माण नहीं हो सकता, तब उनका तात्पर्य केवल अपनी ही दृष्टि से होता है। रावण ऐसी मुद्रिका निर्माण तो कर सकता है, जिसे देखकर अन्य लोग भ्रान्ति में पड़ जाएँ। किन्तु मैथिली के हाथ में पड़ते ही उसकी वास्तविकता का प्रकट हो जाना अवश्यम्भावी था। इस प्रसंग में कुछ ऐसे अद्‌भुत विरोधाभास हैं, जो पाठक को भ्रान्ति में डाल सकते हैं। एक ओर जनक-नन्दिनी व्याकुल होकर प्राण का परित्याग कर देना चाहती हैं, दूसरी ओर उन्हें प्रभु के ईश्वरत्व पर विश्वास है। वे उन्हें अजेय मानती हैं; स्वयं उन्हें अपने स्वरूप की स्मृति भी दिखाई देती है, तभी वे "माया तें असि रचि नहिं जाई" वाक्य का प्रयोग करती हैं। पर दूसरी ओर वे दुःख और संशय से कातर हैं। इस विरोधाभास की व्याख्या लीला के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। अभिनेता स्वयं को अभिनेता-रूप में जानते हुए भी अभिनय करते समय यदि तद्‌रूप न हो सके तो कभी सफलतापूर्वक उसका निर्वाह नहीं कर सकता है। उतने क्षणों के लिए उसे स्वयं को विस्मृत करना पड़ता है।

प्रभु की यह लीला जटिलताओं से पूर्ण है। विश्व-रंगमंच पर उसे दीर्घकाल तक खेला जाता है। किन्तु वहाँ भी अभिनय के वही नियम विद्यमान हैं। यदि मैथिली को सर्वदा अपने और प्रभु के स्वरूप की स्मृति बनी रहती तो उससे सारा लीलारस समाप्त हो जाता। फिर वहाँ विरह, व्याकुलता, निराशा एवं आक्रोश का कोई स्थान ही न रह जाता। फिर भी स्वरूप-ज्ञान की सर्वथा विस्मृति वहाँ नहीं है। वह समय-समय पर चैतन्य होती रहती है।

मुद्रिका पाकर उत्पन्न होने वाला हर्ष और विषाद ईश्वर-धर्म नहीं है। हर्ष, विषाद, ज्ञान और अज्ञान जीव का ही धर्म है। यदि महाशक्ति ने उसे स्वीकार किया है तो वे भी जीव की समस्याओं को लीला के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। कैसे मोह के द्वारा जीव में भेद-बुद्धि का उदय होता है और वह अपने स्वरूप को भूल-कर स्वयं को बन्दी समझ बैठता है? राक्षसियों के रूप में असद् वृत्तियाँ कैसे उसे डराने का प्रयास करती हैं? मोह कैसे उसे विषयाभिमुख बनाना चाहता है? जीवन के ये सारे चित्र अशोक वाटिका में बन्दिनी का सा जीवन व्यतीत करने वाली आद्याशक्ति के चरित्र के माध्यम से प्रकट होते हैं।

इस सन्दर्भ में श्री हनुमानजी की भूमिका आचार्य की है। मुद्रिका ब्रह्म से सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का साधन है। उसे देखते ही ब्रह्म और अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उस समय माया के द्वारा भ्रान्ति उत्पन्न होने की सम्भावना भी अन्तःकरण में नहीं रह जाती। "माया तें असि रचि नहिं जाई" में विवेक का

यही स्वरूप परिलक्षित होता है।

विनयपत्रिका में बार-बार दैन्य का स्वर मुखर होता है, किन्तु आत्म-विश्वास की वाणी का अभाव भी वहाँ नहीं है। एक पद में गोस्वामीजी का विश्वास-भरा यह स्वर गूँजता है, जिसमें वे दावा करते हैं—"अरे संसार, मैंने तुझे अब भली प्रकार पहचान लिया है। अब तू किसी भी प्रकार से मुझे बाँध नहीं सकता है। तू देखने-मात्र को ही सुन्दर है, पर विचार करने पर तो कुछ भी नहीं है। वस्तुतः तेरा अस्तित्व ही नहीं है, जैसे केले के पेड़ को देखो, उसमें से कभी गूदा निकलता ही नहीं। अरे, तेरे लिए मैं अनेक जन्मों में भटकता फिरा, अनेक योनियों में गया, पर तेरा पार नहीं पाया। तू मुझे महामोह रूपी मृगतृष्णा की नदी में बार-बार डुबाता ही रहा। अरे दुष्ट सुन ! तू चाहे करोड़ों प्रकार के छल-बल करे, पर भगवान् का परम भक्त तेरे वश में नहीं हो सकता। तू अपनी सेना समेत वहीं जाकर डेरा डाल, जिस हृदय में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भगवान् का वास न हो। जो तेरा भेद न जानता हो उसी के साथ अपनी कपटी चाल चल। वही रस्सी-रूपी साँप से डरकर मरेगा, जो उसके भेद को न जानता होगा। अरे शठ ! अपने हित की बात सुन, जो तू कुटुम्ब समेत अपनी खैर चाहता है तो हठ न कर! तुलसीदास के प्रभु श्री रामजी के सेवकों को छोड़कर तू वहीं भाग जा, जहाँ अहंकार और काम रहते हों।"

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहिं हरि के बल, प्रगट कपट आगार।।
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये विचार।
ज्यों कदली तरु-मध्य निहारत, कबहु न निकसत सार।।
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पावौं पार।
महामोह-मृग जल-सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार।।
सुनु खल ! छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार।।
तासौं करहुँ चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु-अहि तें, बूझै नहिं व्यवहार॥
निज हित सुनु सठ ! हठ न करहि, जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासनि तजि भजहि जहाँ मद मार।।

मुद्रिका को पाकर माँ विचारमग्न हो गई हैं, आञ्जनेय को यह समझने में विलम्ब नहीं लगा। इसके तत्काल बाद उन्होंने प्रभु की मंगलमयी कथा का वर्णन प्रारम्भ कर दिया। मिथिलेशनन्दिनी बड़ी ही तन्मयता से उस मधुर कथा का

रसास्वादन करने लगीं। कितना विचित्र प्रतीत होता है कि माँ मैथिली को कोई रामकथा सुनावे। फिर यदि श्रीलक्ष्मण वैदेही को राम-चरित्र सुनाते तो सम्भवत: बहिरंग दृष्टि से वह अटपटा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बाल्यावस्था से लेकर निरन्तर वे प्रभु के पास रहे हैं। किन्तु प्रभु का आञ्जनेय से परिचय अभी अत्यन्त नया है। मारुति जब अशोक-वाटिका में आए, तब वैदेही श्रीरामभद्र के गुणगणों का ही स्मरण कर रही थीं :

कृस तनु सीस जटा एक बेनी।
जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥

श्रीरामभद्र के नाम का जप और रूप का ध्यान भी वहाँ निरन्तर चल रहा था।

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥

इस तरह आञ्जनेय जिस भगवन्नाम (मुद्रिका के रूप में) और भगवद्गुण को साथ लेकर आए हुए हैं, वह वहाँ पहले से ही विद्यमान है। किन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ नाम, रूप और गुण का आश्रय लेकर भी वैदेही का दु:ख दूर नहीं हो रहा था, पवनपुत्र के द्वारा उसी भगवन्नाम और प्रभु की कथा के आश्रय से माँ मैथिली की पीड़ा दूर कर दी गई। कथा के वक्तृत्व के लिए शारीरिक दृष्टि से देश और काल के सामीप्य की आवश्यकता नहीं है। रामचरितमानस के तृतीय वक्ता याज्ञवल्क्य के माध्यम से भी यही तथ्य प्रकट किया गया है। मानस के तृतीय घाट के श्रोता भरद्वाज का वन-यात्रा के समय प्रभु से मिलन होता है। किन्तु वे भरद्वाज जो याज्ञवल्क्य से रामकथा श्रवण करते हैं, उनसे प्रभु के मिलन का कोई प्रत्यक्ष संकेत मानस में प्राप्त नहीं होता। भरद्वाज महर्षि याज्ञवल्क्य से आग्रहपूर्वक रामकथा सुनते हैं। अधिक युक्तिसंगत यह होता कि याज्ञवल्क्य श्रोता के रूप में भरद्वाज से रामकथा सुनाने की प्रार्थना करते। यदि रामकथा का आधार ऐतिहासिक दृष्टि होता तो सम्भवत: उसमें इसी क्रम का पालन किया जाता। किन्तु रामकथा का मुख्य आधार इतिहास के स्थान पर भावना है। भावना की यह अनुभूति शारीरिक सामीप्य से सम्बद्ध नहीं है। कथा का तात्पर्य केवल घटनाओं का वर्णन-मात्र नहीं है। यदि ऐसा होता तो रामकथा केवल दो पंक्तियों में समाप्त हो सकती थी। "एक राम अयोध्या के राजा के पुत्र थे, उनका विवाह मिथिला की राजकुमारी सीता से हुआ। विवाह के पश्चात् वे माता की आज्ञा से वन में गए। वहाँ लंकेश्वर रावण ने मैथिली को चुरा लिया। क्रुद्ध राघव

ने लंका पर आक्रमण कर रावण का वध कर दिया और सीता को लेकर अयोध्या लौट आए।" महर्षि भरद्वाज ने इसे और भी संक्षिप्त बनाकर इस रूप में प्रस्तुत किया :

एक राम अवधेस कुमारा।
तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा।
भयउ रोषु रन रावनु मारा॥

वस्तुतः महर्षि भरद्वाज याज्ञवल्क्य की दृष्टि से श्रीरामभद्र के चरित्र का रहस्य हृदयङ्गम करना चाहते थे। इसे दूसरी दृष्टि से यों भी कह सकते हैं कि व्यक्ति जिनके समीप रहता है, ममत्व के कारण उसे सही दृष्टि से नहीं देख पाता। इसीलिए कभी-कभी वह दूर वालों से उसके विषय में जानने की चेष्टा करता है। एक माँ को अपना बालक सुन्दर और सद्‌गुण सम्पन्न प्रतीत हो, यह अस्वाभाविक नहीं है किन्तु अपने बालक की प्रशंसा दूसरों के मुख से सुनकर माँ को अपार प्रसन्नता होती है। स्वयं अपने बालक की प्रशंसा करने के स्थान पर वह दूसरों के मुख से सराहना सुनने के लिए व्यग्र रहती है। याज्ञवल्क्य के मुख से भरद्वाज द्वारा भगवत्कथा सुनने के आग्रह के पीछे यह भी एक कारण हो सकता है।

आञ्जनेय भौतिक दृष्टि से भले ही प्रभु से अपरिचित अथवा दूर रहे हों, किन्तु भावनात्मक दृष्टि से निरन्तर वे प्रभु के अत्यन्त समीपी हैं। रामाज्ञा-प्रश्न के एक दोहे से तो यह संकेत प्राप्त होता है कि बाल्यावस्था से ही मारुति रामकथा के रसिक थे। देवर्षि नारद अयोध्या में प्रभु की लीलाओं का दर्शन करने के पश्चात् जिन्हें वह चरित्र सुनाने के लिए व्यग्र रहते थे, वे पवननन्दन हनुमान ही थे। वे बार-बार अयोध्या से आकर आञ्जनेय को रामकथा सुनाते थे। उस समय श्रोता का आह्लाद सात्विक विकारों के माध्यम से बाहर फूट पड़ता है :

राम जनम सुभ काज सब कहत देवरिषि आइ।
सुनि सुनि मन हनुमान के प्रेम उमंग न अमाइ॥

लंका में वैदेही भले ही नाम और गुण का आश्रय लेकर निरन्तर चिन्तन में संलग्न रहती हों, पर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे उसमें समग्र रसानुभूति नहीं कर पाती हैं। मारुति नाम और गुण के साथ प्रगाढ़ विश्वास का आश्रय लेकर लंका में आए हुए हैं। मानस रोगों के संदर्भ में औषध के साथ अनुपान का विशिष्ट महत्त्व भी बतलाया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में अनुपान को औषध से कम महत्त्व प्राप्त नहीं है। अनुपान का तात्पर्य है वह द्रव्य या वस्तु जिसे औषध

के साथ लेना है। इससे औषध के दोषों का उपशमन एवं गुण में वृद्धि होती है। अनुपान के अभाव में बहुधा उत्कृष्ट औषध भी अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखा पाती है। उत्तरकाण्ड में भक्ति की औषध को श्रद्धा के अनुपान के साथ मिलाकर लेने का आदेश दिया गया है :

रघुपति भगति सजीवनि मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

लङ्का में मिथिलेशनन्दिनी के पास औषध विद्यमान थी। किन्तु अनुपान के अभाव में वह पूर्ण प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो रही थी। आचार्य आञ्जनेय औषध के साथ अनुपान का भी प्रयोग करते हैं। भगवन्नाम और कथा में आञ्जनेय की अपार श्रद्धा उनकी वाणी से व्यक्त हो रही थी। इसीलिए जो भगवन्नाम और भगवत्कृपा पूरी तरह दुःख का निवारण नहीं कर पा रही थी आञ्जनेय के मुख से उसकी महिमा का श्रवण करके माँ का समग्र दुःख दूर हो गया। यद्यपि माँ प्रभु के स्वभाव और गुण से पूर्ण परिचित थीं। किन्तु दस मास से वे जिस प्रकार के प्रतिकूल वातावरण में रह रही थीं, उससे संशय का उदय होना स्वाभाविक था। परम भक्त मारुति अपनी प्रेम और विश्वास-भरी वाणी से उसे दूर करने का प्रयास करते हैं। जब माँ श्रीहनुमन्तलाल के मुख से यह सुनती हैं कि प्रभु उनका समाचार पाने के लिए कितने व्यग्र हैं, तब उन्हें अपार सुख और परितोष प्राप्त होता है। "सुनतहिं सीता कर दुख भागा" का रहस्य भी यही है।

रसिकों ने प्रेम की तुलना सर्प की टेढ़ी चाल से की है :

अहिरिव गतिः प्रेम्णा स्वभाव कुटिला मतिः।

प्रेम के इस बाँकेपन का परिचय माँ के प्रश्नों में भी मिलता है। मारुति ने माँ को जो कथा सुनाई थी उसमें बार-बार किशोरीजी के प्रति प्रभु के प्रगाढ़ प्रेम का परिचय दिया गया हो यह स्वाभाविक है। उनकी सुधि पाने की कितनी व्यग्रता राघव के मन में है उसके प्रत्यक्ष प्रमाण हनुमान हैं। किन्तु इतना होने पर भी माँ ने उलाहना देते हुए आँखों में आँसू भरकर यही कहा कि प्रियतम ने मुझे पूरी तरह भुला दिया। उनका स्वभाव पहले तो अत्यन्त कोमल था पर अब न जाने क्यों उन्होंने निष्ठुरता का वरण कर लिया है :

कोमलचित कृपाल रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक।
कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता।
होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥
बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

तर्क और संगति से दूर यह उपालम्भ बहिरंग दृष्टि से चाहे जितना अटपटा लगे रसिकों को इसमें एक अद्भुत स्वाद की अनुभूति होती है। भोजन में केवल मधुर रस की ही अपेक्षा नहीं है। कटु, तिक्त, अम्ल, कसैला सभी रस यदि हैं तो भोजन करते हुए इस विविधता से स्वाद में वृद्धि होती है। प्रेमी जब प्रभु की सराहना करते हैं तब उसमें मधुर रस की सी अनुभूति होती है। किन्तु उपालंभ में एक अनोखा खटमिट्ठापन है। यह अपनत्व और सामीप्य का परिचायक है। प्रियतम के प्रति अपनत्व और अपराध-वृत्ति के बिना उलाहना देने में भय की अनुभूति होगी। किन्तु जो सर्वथा अपना है उससे कुछ भी कह देने में संकोच नहीं लगत। किशोरीजी और प्रियतम प्रभु के अभिन्न सम्बन्ध का तो कहना ही क्या है ?

माँ के द्वारा दिए जाने वाले उलाहनों के पीछे एक भिन्न मनोविज्ञान भी कार्य कर रहा है। कभी-कभी स्नेहियों के मन में प्रिय लगने वाली बात बार-बार सुनने की इच्छा होती है। एक ही बात पुनः किसीसे सुनाने के लिए कहने में संकोच होता है। तब प्रेमी उसे कहलाने के लिए कोई-न-कोई नया बहाना ढूँढ़ता है। प्रभु के जिस प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन आञ्जनेय ने किया था वह मैथिली को इतना प्रिय

लगा कि वे उसे बार-बार सुनना चाहती हैं। यह उपालम्भ इस इच्छा की पूर्ति का बहाना भी है। पुनः इसी बहाने एक बार प्रियतम की कथा और उनके अपनत्व की बातें सुनने को मिलेंगी, मैथिली के अतर्मन में यह भाव अवश्य रहा होगा, अथवा प्रेम एक ऐसा रस है कि जिसे पीते हुए कभी तृप्ति नहीं होती है। जैसे लोभी को चाहे जितना धन प्राप्त हो जाय वह सन्तुष्ट होना जानता ही नहीं। प्रेमरस के रसिकों का भी यही स्वभाव है। यद्यपि आञ्जनेय ने प्रभु के विकल प्रेम का बड़ा अद्भुत चित्र प्रस्तुत किया था किन्तु मैथिली तो मूर्तिमती पिपासा हैं। जल तो सभी को प्रिय है, अन्य लोगों को उससे तृप्ति हो जाती है। किन्तु मछली की पिपासा सर्वदा जल में रहकर भी शान्त नहीं होती। गोस्वामीजी श्री किशोरजी के लिए यही उपमा देते हैं :

पुनि-पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पिआसे नैन॥

मैथिली ने आञ्जनेय से जो प्रश्न किए उनमें एक प्रश्न ऐसा था जो साधारण प्रतीत होते हुए भी सर्वथा असाधारण था। माँ ने सर्वप्रथम वही प्रश्न किया— "मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, यह तो बताओ सुखराशि खरारि प्रभु अपने छोटे भाई के साथ कुशलपूर्वक तो हैं ?"

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी।
अनुज सहित सुख भवन खरारी॥

कुशल प्रश्न शिष्टाचार का एक अंग माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रिय का कुशल समाचार जानने के लिए व्यग्र रहता है। प्रत्येक प्रेमी अपने प्रियतम को कुशल ही देखना चाहता है। आञ्जनेय बड़ी सरलता से प्रभु की कुशलता का समाचार सुना सकते थे। किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। अपने प्रिय का वियोग होते हुए भी यदि प्रियतम पूरी तरह सकुशल है तो इसका तात्पर्य यही है कि उसे प्रिय के वियोग की कोई चिन्ता नहीं है। यह प्रेमी के प्रति स्नेह के अभाव का परिचायक है। बहिरंग दृष्टि से सन्देश पहुँचाने का कार्य साधारण-सा ही प्रतीत होता है। पर प्रभु की दृष्टि में यह कार्य इतना कठिन था कि वानरों की विशाल वाहिनी में एकमात्र हनुमान ही इसके लिए उपयुक्त माने गए। वस्तुतः रसिकों की अन्तर्भावना में जो जटिलता और विरोधाभास होता है उसे कोई रसिक ही समझ सकता है :

भगवत रसिक, रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।

आञ्जनेय रसिकों के सिरमौर हैं। इसीलिए उन्होंने कुशल प्रश्न का बड़ा भाव-भरा उत्तर दिया। माँ, प्रभु लक्ष्मण भैया के साथ कुशलपूर्वक हैं पर वे कृपा-निकेत आपके दुःख से दुःखी हैं :

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।
तव दुख दुखी सुकृपा निकेता।।

बहिरङ्ग दृष्टि से तात्पर्य यह था कि न तो तात्त्विक दृष्टि से और न व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रभु के अकुशल की कल्पना की जा सकती है। ईश्वर पूर्ण है इसलिए उसकी कुशलता का प्रश्न ही निरर्थक है। व्यावहारिक दृष्टि से भी उनमें इतनी सामर्थ्य है कि कोई भी विपत्ति उनके समक्ष टिक नहीं सकती। पर इतना सब होते हुए भी केवल एक अभाव ने उन्हें दुःखी बना डाला है और वह अभाव है आपकी अनुपस्थिति। वे केवल आपके दुःख की कल्पना से ही व्यथित होकर आँसू बहाते रहते हैं। एक ही पंक्ति में आञ्जनेय ने व्यवहार और प्रीति का अनोखा निर्वाह कर दिया।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरे और तेरे प्रेम का तत्त्व (रहस्य) एक मेरा मन ही जानता है।

एक नन्हे वट के बीज को देखकर यह कल्पना करना कठित प्रतीत होता है कि यह स्वयं में एक विशाल वृक्ष को छिपाये हुए हैं। पर वनस्पति विज्ञान से परिचित व्यक्ति इसका प्रत्यक्ष रू। में अनुभव करता है। ढाई अक्षर के नन्हे प्रेम शब्द में क्या-कुछ छिपा हुआ है इसे आज तक पूरी तरह जान पाने का दावा कोई नहीं कर पाया। यहाँ तक कि सर्व समर्थ ईश्वर भी यहाँ असमर्थ हो जाता है। अयोध्याकाण्ड में भरत की महिमा की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हुए यही कहा गया कि "श्रीराम ही केवल उसे जानते हैं पर वे भी इसका वर्णन नहीं कर सकते।" यह वाक्य श्रीभरत को प्रेम का प्रतीक मानकर ही कहा गया है :

भरत महा महिमा सुनु रानी।
जानहिं राम न सकहिं बखानी॥

× ×

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥

यह केवल काव्य की अतिशयोक्ति-मात्र नहीं है। वाणी मस्तिष्क के द्वारा सञ्चालित होती है और प्रेम की समग्रता तभी है जब वह प्रेम-समुद्र में पूरी तरह डूब जाय। मस्तिष्क जब कार्य न कर रहा हो तो या तो वाणी अवरुद्ध हो जाएगी या प्रलाप के समान अर्थरहित प्रतीत होगी। वाणी शब्द के माध्यम से अपने को प्रकाशित करती है और शब्द का अर्थ मस्तिष्क के माध्यम से ग्रहण किया जा सकता है। प्रत्येक देश की अपनी अलग भाषा होती है। प्रेम-राज्य की भाषा संसार की समस्त भाषाओं से भिन्न है। वह वाणी के माध्यम से बोली भी नहीं जाती। प्रेम-राज्य में वाणी मौन हो जाती है और नेत्र बोलते हैं। इसलिए उसे कान से नहीं सुना जाता, उसे हृदय सुनता है। हृदय ही उसका अनुभव करता है। व्यावहारिक भाषा में जब प्रेम की व्याख्या की जाती है तब वह संगति लगाने की चेष्टा में अपनी वास्तविकता से दूर हो जाती है। पर उसे कहने की चेष्टा की जाती रही है। जो भाषा व्यक्ति नहीं जानता उसे भी इंगित के माध्यम से यत्किञ्चित् समझने का प्रयास तो करता ही है। पूरी तरह से समझ में न आने पर भी मनीषी प्रेम का वर्णन करते हैं। और कहते हैं इसका कण-मात्र समझ लेना ही यथेष्ट है। स्वयं प्रभु भी प्रेम-तत्त्व की व्याख्या करते हुए इसी परम्परा का पालन करते हैं। प्रेम-तत्त्व की यह व्याख्या मारुति के माध्यम से प्रभु मिथिलेशनन्दिनी तक पहुँचाना चाहते हैं। किन्तु सन्देश के प्रारम्भ में ही सन्देश-वाहक स्वयं विचित्र विरोधाभास में पड़ गया।

भाषण के प्रारम्भ में वक्ता श्रोता को सावधान करता है। मारुति ने उसी परम्परा का पालन करते हुए सन्देश सुनाने के पहले मैथिली को सावधान करने की आवश्यकता का अनुभव किया। पर सावधान करने वाला स्वयं सावधान नहीं रह पाया। गोस्वामीजी ने इसका भाव-भरा शब्दचित्र इस रूप में रखा—"माँ धैर्यपूर्वक राघव का सन्देश सुनिये" ऐसा कहते-कहते हनुमान स्वयं गद्गद हो गए और उनकी आँखों में आँसू भर आए। पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे कोई चतुर तैराक डूबते हुए व्यक्ति को बचाने के लिए आश्वासन देता हुआ नदी में कूदे पर स्वयं डूबने वाले से भी पहले डूब जाए। माँ प्रभु का सन्देश सुनकर प्रेमसरिता में डूबती हैं, किन्तु आञ्जनेय उससे पहले डूब जाते हैं। उनका गद्गद कण्ठ और अश्रुप्रवाह यह बता रहा था कि प्रेमसमुद्र कितना उमड़ चुका था। इसके तत्काल बाद तुलसी सन्देश का वर्णन प्रारम्भ कर देते हैं। वे इस प्रसंग में उस पद्धति का आश्रय नहीं लेते जिसका प्रयोग उन्होंने आगे चलकर शंकर और पार्वती के सम्वाद में किया। शंकर भी आञ्जनेय और प्रभु का वार्त्तालाप सुनाते-सुनाते प्रेममग्न हो जाते हैं किन्तु कुछ क्षणों में ही पुनः सावधान होकर कथा सुनाने लगते हैं :

सावधान मन करि पुनि शंकर।
लागे कहन कथा अति सुंदर।।

किन्तु यहाँ आञ्जनेय की मग्नता का वर्णन करने के बाद सावधान होकर सुनाने का उल्लेख नहीं किया गया है। यह स्थिति और भी ऊँची है। लगता है मारुति मौन हो गए और जैसे निःशब्द वंशी में कृष्ण का स्वर गूँजता था उसी तरह आञ्जनेय के मुख से स्वयं प्रभु ही अपना संदेश सुना रहे थे।

सन्देश के प्रारम्भ में वियोग की व्यथा का वर्णन किया गया जिसमें प्रभु यह बताते हैं कि वैदेही के वियोग में उन्हें प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ विपरीत प्रतीत होता है। वृक्ष के नवीन पत्ते उन्हें अग्नि के समान दाहक प्रतीत हो रहे हैं। रात्रि विश्राम देने के स्थान पर काल रात्रि-जैसी भयावनी लगती है। चन्द्रमा की किरणें सूर्य की किरणों के समान दाहक प्रतीत होती हैं। कमल-वन नुकीले भालों की तरह हृदय को छेद देता है। वर्षा के समय ऐसी अनुभूति होती है जैसे खौलता हुआ तेल ही आकाश से बरस रहा है। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के स्पर्श में फुफकारते हुए सर्प के सामीप्य का बोध होता है। विश्व का वह प्रत्येक पदार्थ जो कभी हितकारी जान पड़ता था आज पीड़ा देने वाला बन बैठा :

कहेउ राम बियोग तव सीता।
मो कहुँ सकल भए बिपरीता।।
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।
कालनिसा सम निसि ससि भानू।।
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा।
बारिद तपत तेल जनु बरिसा।
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा।।

किन्तु राघवेन्द्र की व्यथा आज सन्देश में ही अभिव्यक्त हुई है। हृदय में अकेले इस व्यथा को ढो रहे थे। अपने अन्तर्मन की व्याकुलता को दूसरों को सुनाकर व्यक्ति कुछ हलकेपन की अनुभूति करता है। दुःख के दो भाग होते हैं—एक तो वह, जिसका सम्बन्ध शरीर और स्थूल पदार्थों से है; और दूसरा वह भाग जिसे हम मन से सम्बद्ध कह सकते हैं।

एक व्यक्ति सिर की पीड़ा से कराह रहा है। अचानक उसके मन में यह चिन्ता हो जाती है कि कहीं मैं मर तो नहीं जाऊँगा ? यदि मैं मर गया तो मेरी पत्नी और बालक क्या करेंगे ? स्वभावतः ऐसे व्यक्ति का दुःख चौगुना हो जाता है। सिर

की पीड़ा औषध से ही शान्त होती है किन्तु यदि कोई स्नेह से आकर पास बैठ जाय और दृढ़ विश्वासपूर्वक यह आश्वासन दे कि चिन्ता मत करो, यह रोग तो मिटकर ही रहेगा। स्वभावतः इस प्रकार की वाणी से उसकी मानसिक पीड़ा कम हो जाती है। इसीलिए व्यक्ति दूसरों को अपनी व्यथा सुनाकर सन्तुष्ट होता है। दुःख में मैं अकेला नहीं हूँ यह धारणा व्यक्ति को बड़ा बल देती है। मानवीय दृष्टि से प्रभु भी ऐसा श्रोता चाहते हैं जिसे अपनी अन्तर्व्यथा सुनाकर हलकेपन का अनुभव कर सकें। पर कभी-कभी ऐसे सुनने वाले व्यक्ति भी मिल जाते हैं जो दूसरों के दुःख में सहानुभूति के स्थान पर कटाक्ष करते हुए आनन्दित होते हैं। महाराज श्रीदशरथ ने अपना हृदय कैकेयी के सामने खोलकर रख दिया। पर कैकेयी ने आँसू और व्यथा पर भी तीक्ष्ण व्यंग्य किए। कटाक्ष करते हुए उन्होंने कहा—यह आप स्त्रियों की तरह क्या आँसू बहा रहे हैं :

छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू।
जनि अबला जिमि करुना करहू॥

ऐसे व्यक्ति को व्यथा सुनाकर जले हुए पर नमक छिड़कने की सी अनुभूति होती है। इसलिए अपनी अन्तर्व्यथा उसे सुनानी चाहिए जो सुहृद हो साथ ही पीड़ा को सही अर्थों में हृदयंगम करने की सामर्थ्य रखता हो। प्रभु चाहकर भी ऐसा श्रोता नहीं ढूँढ़ पाते हैं। यह कहा जा सकता है कि क्या लक्ष्मण-जैसा सुहृद संसार में मिलना सम्भव है ? फिर क्यों नहीं प्रभु उनसे अपनी अन्तर्व्यथा सुनाते हैं ? यहाँ प्रभु की सौहार्दता दर्शनीय है। वे अपनी व्यथा के द्वारा बलात् दूसरों को दुःख की दिशा में नहीं ले जाना चाहते। लक्ष्मण के विरागी अन्तःकरण से वे परिचित हैं। पत्नी की विरह-व्यथा सुनाकर वह उनके अन्तःकरण में दुःख की सृष्टि नहीं करना चाहते।

इसलिए अपनी विरह-व्यथा का भार वे स्वयं अकेले ढो रहे हैं। हाँ, उनकी दृष्टि में इस प्रेमतत्त्व को जानने वाला केवल एक ही श्रोता है, वह है स्वयं उनका मन। "जानत प्रिया एक मन मोरा" में इसी की ओर संकेत किया गया है। प्रभु जब यह कहते हैं कि इस प्रेमतत्त्व को एकमात्र मेरा मन जानता है तब यह संशय स्वभावतः किया जा सकता है कि क्या श्री किशोरीजी का मन इस प्रेमतत्त्व को नहीं जानता ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यदि श्री किशोरीजी और श्रीरामभद्र का मन अलग-अलग है तो फिर प्रेम है ही कहाँ ? प्रेम की समग्रता तो तभी स्वीकार की जाती है कि जब केवल शरीर दो हों किन्तु मन एक-दूसरे में मिलकर सर्वथा एकाकार हो गए हों। व्यावहारिक राज्य के गणित में एक और एक मिलकर भले ही दो होते हों, किन्तु प्रेम-राज्य के अनोखे गणित में एक और एक

मिलकर एक ही होता है। जहाँ दो मन की सत्ता होगी वहाँ परस्पर स्वसुख के लिए संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। प्रेम का लक्षण है 'तत्सुख सुखित्व", प्रियतम के सुख में सुखी होना। जब प्रेमी प्रियतम के सुख में सुखी होने का व्रत लेता है तब यह मन के समग्र समर्पण के बिना सम्भव नहीं है। जहाँ वासना है वहाँ यही आकांक्षा होती है कि सामने वाला व्यक्ति मेरी इच्छा पूर्ण करे। राग के पश्चात् द्वेष भी इसीलिए उत्पन्न हो जाता है। जब तक कोई हमारी इच्छा पूरी करता रहता है तब तक हम उससे राग करते हैं, इससे विपरीत आचरण होने पर राग ही द्वेष के रूप में परिणत हो जाता है। प्रेम में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता और यह तभी सम्भव है जब केवल एक मन की सत्ता हो। राम और सीता का मन सर्वथा एक है। मैथिली ने अपना मन पूरी तरह प्रियतम में विलीन कर दिया है। यहाँ यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यह समर्पण किसकी ओर से है? जब प्रभु "एक मन मोरा" शब्द का प्रयोग करते हैं तब ऐसा लगता है जैसे समर्पण केवल वैदेही की ही ओर से है किन्तु अगली पंक्ति से यह भ्रान्ति दूर हो जाती है। जब रसिक शेखर यह कहते हैं कि प्रेमतत्त्व को जानने वाला एक मेरा मन मेरे पास नहीं है, वह तो सर्वदा तुम्हारे पास ही रहता है। इस तरह जहाँ श्री किशोरीजी ने अपना मन प्रियतम के मन में मिलाकर एकाकार कर दिया वहाँ प्रभु ने भी इस स्वीकृत मन को प्रियतमा किशोरीजी के समीप भेज दिया है। प्रभु के द्वारा प्रेमतत्व का किया जाने वाला यह वर्णन भी अपूर्ण ही है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यही प्रेम की अनिर्वचनीयता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निभर प्रेम मगन हनुमाना॥

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानों से सुनते ही हनुमानजी पूर्ण प्रेम में मग्न हो गए।

मानस में भक्ति के अनेक रूपों की चर्चा की गयी है। जैसे एक ही प्रकाश के चारों ओर यदि परिवर्तित रंग के शीशे रख दिए जाएँ तो प्रकाश का रंग वदला हुआ प्रतीत होता है; भक्ति की दिव्य ज्योति भी अन्तःकरण की भिन्नता के कारण प्रत्येक भक्त में अलग-अलग रूपों में प्रकाशित होती है। भक्ति के साथ मानस के अलग-अलग प्रसंगों में भिन्न-भिन्न विशेषण जोड़े गए हैं। अविरल, अनपायनी, अमल आदि विशेषण अन्तःकरण की भिन्नता को दृष्टिगत रखकर ही दिये गए हैं। गीधराज को अविरल भक्ति प्रिय है :

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

स्वयंप्रभा को अनपायनी भक्ति प्राप्त होती है :

नाना भाँति बिनय तेहि कीन्ही।
अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही॥

सुमित्रा अम्बा जब लक्ष्मण को आशीर्वाद देती हैं तब वे भक्ति के साथ अनेक विशेषण जोड़ देती हैं। अविरल के साथ वहाँ अमल विशेषण का भी प्रयोग किया गया है।

तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित-नित नई॥

भक्ति के अनेक रूपों में एक भक्ति निर्भरा है। सुतीक्ष्ण और पवननन्दन के प्रसंगों में भक्ति के इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है :

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥

आञ्जनेय के प्रसंग में तो यह है ही। लेख के प्रारम्भ में उसी पंक्ति का उद्धरण दिया गया है। निर्भरा भक्ति का महत्त्व इसलिए भी बहुत है क्योंकि यही भक्ति मानस के रचयिता को भी अभीष्ट है। सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में श्रीमद्-राघवेन्द्र से उन्होंने इसी निर्भरा भक्ति की याचना की है। वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं—हे रघुपति, मेरे अन्तःकरण में एक इच्छा को छोड़कर कोई अन्य स्पृहा है ही नहीं, यह मैं सत्य कह रहा हूँ। आप मेरी अन्तरात्मा में स्थित हैं इसलिए आप इसे भली प्रकार जानते हैं। मुझे निर्भरा भक्ति दीजिए और मेरे अन्तःकरण को काम, क्रोधादि दोषों से शून्य बना दीजिए :

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में की जाने वाली याचना के पीछे एक ही प्रेरणा कार्य कर रही है। जगज्जननी के द्वारा इसी काण्ड में निर्भरा भक्ति आञ्जनेय को प्रदान की गयी है। गोस्वामीजी इसी भक्ति की याचना प्रभु से करते हैं— "यदि माँ ने अपने एक महान् पुत्र को निर्भरा भक्ति प्रदान की है और आपने इस कुपुत्र को निर्भरा भक्ति नहीं दी तो आपकी उदारता में न्यूनता मानी जाएगी।" इस निर्भरा भक्ति का स्वरूप क्या है? इसे हृदयंगम करने के लिए माँ मैथिली के द्वारा दिये गए आशीर्वाद के प्रसंग पर विचार करना होगा।

प्रभु के द्वारा दिये गए सन्देश को आञ्जनेय के मुख के सुनकर माँ विह्वल हो गयीं और शरीर की सुध-बुध जाती रही। उचित अवसर देखकर हनुमानजी ने

यह सोचा कि इसी समय मैथिली से मातृत्व की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाय। प्रारम्भ से ही वे विदेहजा को माँ शब्द से सम्बोधित कर रहे थे, किन्तु दूसरी ओर से पुत्र शब्द का सम्बोधन सुनने को नहीं मिला। अतः इस अवसर पर उन्हें लगा कि सम्भव है सन्देश से प्रसन्न होकर माँ इस सम्बन्ध को स्वीकृति प्रदान करें।

हनुमान के द्वारा बार-बार प्रयुक्त किया गया माँ शब्द सार्थक सिद्ध नहीं हुआ किन्तु अन्त में निकले हुए एक वाक्य ने उनकी आकांक्षा पूर्ण कर दी। किशोरीजी को धैर्य बँधाते हुए उन्होंने कहा कि माँ आप कुछ दिनों तक धैर्य धारण कीजिये, बन्दरों के साथ स्वयं प्रभु यहाँ पधारेंगे और आपको छुड़ाकर ले चलेंगे :

कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥
निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।
तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं॥

इस वाक्य में "कपिन्ह सहित अइहहिं" शब्द ने अद्भुत चमत्कार कर दिखाया। माँ से वार्त्तालाप करते हुए आञ्जनेय उनके समक्ष नन्हे कपि के रूप में खड़े थे। यह दावा सुनते ही कि प्रभु बन्दरों के साथ आवेंगे, मैथिली की दृष्टि पवनकुमार की ओर गयी। वात्सल्य की विलक्षण प्रकृति है कि वह असमर्थता में ही पनपता है। माँ को लगा कि यह सचमुच ही बालक है। रावण की सामर्थ्य को समझे बिना ही यह मुझे छुड़ाकर ले चलने के लिए व्यग्र हो गया है, अतः वात्सल्य-भरे स्वर में उन्होंने प्रश्न किया—"पुत्र क्या सारे बन्दर तुम्हारे ही समान हैं ? राक्षस बड़े ही योद्धा और शक्तिशाली हैं।"

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।
जातुधान अति भट बलवाना॥

आञ्जेनय आनन्द से थिरक उठे। माँ ने पुत्र बना लिया इससे बढ़कर सौभाग्य की बात क्या हो सकती थी ? माँ के औदार्य का कोष पुत्र के लिए खुल गया और उन्होंने आशीर्वाद लुटाने प्रारम्भ कर दिए। पुत्र तुम बल और शील के निधान हो जाओ, अजरता, अमरता और गुणनिधित्व तुममें आ जाए :

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना।
होउ तात बल सील निधाना॥
अजर-अमर गुननिधि सुत होहू।

माँ ने जो आशीर्वाद प्रदान किए वह आञ्जनेय में पहले से ही विद्यमान हैं किन्तु वात्सल्य की प्रकृति बड़ी अनोखी है। सद्‌गुण सम्पन्न पुत्र को देखकर एक ओर तो वह प्रसन्न होती हैं। किन्तु दूसरी ओर उन्हें यह भय सताता है कि पुत्र के पास जो वस्तुएँ हैं वे कहीं खो न जाएँ इसलिए वह आशीर्वाद के सुरक्षा कवच के द्वारा उसे शाश्वत बनाना चाहती हैं। माँ के अन्तःकरण में यही भावना कार्य कर रही थी। आञ्जनेय का बल, शील, सद्‌गुण उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था, किन्तु यह भविष्य में भी कभी नष्ट न होने पावे इस स्नेह-कामना के कारण माँ ने आशीर्वाद का सुरक्षा कवच प्रदान किया। किन्तु किसी वस्तु को देकर प्रसन्नता की अनुभूति तभी होती है जब लेने वाला भी प्रसन्न प्रतीत हो। माँ को लगा इन वरदानों को पाकर भी हनुमान के मुख पर उल्लास का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है, और तब उन्होंने वह अनोखा आशीर्वाद दिया जिसे पाकर पवननन्दन ने कृतकृत्यता का अनुभव किया। माँ का अन्तिम आशीर्वाद था—"तुमसे रघुनायक बहुत छोह करें।" मेरा भगवान् के चरणों में स्नेह हो यह वरदान अनेक भक्तों ने प्रभु से माँगा है और उन्हें मिला भी है—किन्तु स्वयं प्रभु ही किसी से प्रेम करें यह वरदान विरले भक्तों को ही उपलब्ध हुआ है। जब भक्त को अपनी ओर से प्रभु से प्रेम करना होता है तब उसे निर्वाह की चिन्ता भी करनी पड़ती है। उसे यह भय लगा रहता है कि कहीं मेरी किसी त्रुटि से प्रेम कम न हो जाय। किन्तु जब प्रभु ही प्रेम का निर्वाह करें तब भक्त का निश्चिन्त और निर्भय होना स्वाभाविक ही है। यह आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद आञ्जनेय के अन्तःकरण में जिस वृत्ति का उदय हुआ गोस्वामीजी उसी को निर्भरा भक्ति कहते हैं।

भक्ति के अन्य स्वरूपों में करने की भावना शेष रहती है, निर्भरा भक्ति में कुछ भी करना अपेक्षित नहीं है। इसलिए वह कृतकृत्य हो जाता है। यही पवननन्दन ने माँ से कहा भी :

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥
बार-बार नाएसि पद सीसा।
बोला बचन जोरि कर कीसा॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता।
आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

भक्ति के अन्य स्वरूप और निर्भरा भक्ति के पार्थक्य के लिए बड़े और छोटे पुत्रों का दृष्टान्त दिया जा सकता है। दोनों ही पुत्र माता-पिता को प्रिय होते हैं

किन्तु बड़े पुत्र से जहाँ कर्त्तव्यपालन की आशा की जाती है वहाँ नन्हें पुत्र से इस प्रकार की कोई आशा नहीं रखी जाती। वह बिना कुछ किए ही माँ का अगाध वात्सल्य प्राप्त करने का अधिकारी माना जाता है। निर्भरा भक्ति में यही वृत्ति विद्यमान है।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा।
फल खाएसि तरु तोरैं लागा।।

अर्थ—वे (श्री हनुमानजी) सिर नवाकर चले और बाग में घुस गये। फल खाये और वृक्षों को तोड़ने लगे।

माँ मैथिली से निर्भरा भक्ति का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद आञ्जनेय ने माँ की दृष्टि फलों से भरे वृक्षों की ओर आकृष्ट करते हुए कहा, "माँ, मुझे बहुत भूख लगी हुई है और सामने वृक्षों में सुन्दर फल भी लगे हुए हैं।" माँ का वात्सल्य उमड़ पड़ा। पुत्र भूखा हो और माँ उसे भोजन भी न दे सके, इससे बढ़कर असह्य स्थिति क्या हो सकती है ? सामने सुस्वादु फल भी हैं, किन्तु प्रेमाविष्ट शक्की स्वभाव के कारण उनकी दृष्टि वाटिका के क्रूर राक्षसों की ओर भी है। मैथिली को यह भी ज्ञात है कि यह वाटिका रावण को कितनी प्रिय है। कवितावली रामायण में तो यह बताया गया है कि यह बाग रावण को मेघनाद से भी अधिक प्रिय था। इस उपवन में पवनदेव भी डरते हुए से चलते थे कि कहीं शुष्क पत्तों को छोड़कर उनके स्पर्श से अन्य पत्र-पुष्प आदि न गिर पड़ें :

बासव-बरुन-बिधि-बनतें सुहावनो,
दसानन को काननु बसन्त को सिगारु सो।
समय पुराने पात परत डरत बातु,
पालत-लालत रति मार को बिहारु सो।।

× ×

माली मेघमाल, बनपाल विकराल भट,
नीकें सब काल सींचैं सुधासार नीर कें।
मेघनाद तैं दुलारो प्रान तें पिआरो बागु,
अति अनुरागु जियँ जातुधान धीर कें।।

वाटिका में यों भी रावण की अत्यधिक आसक्ति थी पर अब तो मैथिली के निवास के कारण सुरक्षा की कठोरतम व्यवस्था की गई थी। ऐसी स्थिति में यदि आञ्जनेय ने फल खाने की चेष्टा की तो इसमें संघर्ष हुए बिना नहीं रहेगा। अपनी आशंका को उन्होंने वात्सल्य-भरे स्वर में प्रकट किया, "पुत्र वाटिका की रक्षा के लिए क्रूर योद्धा नियुक्त हैं।" मारुति का उत्तर था, "माँ, यदि आप प्रसन्न हों तो मुझे इनका रञ्चमात्र भी भय नहीं है।" माँ आश्वस्त हुईं और उन्होंने आदेश देते हुए कहा, "प्रभु के मंगलमय चरणों का स्मरण करते हुए मधुर फल खाओ" :

सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।
परम सुभट रजनीचर भारी।।
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।
जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं।।
देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकीं जाहु।
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु।।

आञ्जनेय बाग में प्रविष्ट होते हैं। यद्यपि उस समय भी वे वाटिका में थे, अतः यह कहना कि वे वाटिका में पैठे, बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है। किन्तु, इस शब्द से ही महावीर की सजगता प्रकट होती है। फल खाने के लिए उन्होंने वाटिका का वह भाग नहीं चुना, जिसमें माँ विराजमान थीं। रक्तपात का कोई दृश्य मैथिली के समक्ष आवे, यह उनके लिए असह्य था। इसलिए वे वाटिका के ऐसे भाग में प्रविष्ट हुए, जहाँ से युद्ध का दृश्य तो दूर, गर्जना आदि का स्वर भी न सुनाई दे। वे वाटिका के फलित वृक्षों के समीप पहुँचकर मधुर फलों का आस्वादन करने लगे, पर साथ ही उन वृक्षों को उखाड़कर फेंकने लगे :

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा।
फल खाएसि तरु तोरैं लागा।।

फलों के खाने के साथ वृक्षों को उखाड़ना कहाँ तक युक्तिसङ्गत था ? वाटिका को उजाड़ने का यह आदेश न तो उन्हें प्रभु से ही प्राप्त हुआ था और न माँ मैथिली से ही उन्होंने इसके लिए आज्ञा ली थी। बाह्य दृष्टि से उनका यह

कार्य अनुशासनहीनता से भरा हुआ प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञानघन का कार्य अनेक रहस्यों से परिपूर्ण है। आज्ञा के शब्दों की दृष्टि से नहीं, अपितु उसके वास्तविक तात्पर्य पर विचार करें तो आञ्जनेय का कार्य सर्वथा युक्तिसङ्गत है। प्रभु ने उन्हें बहुत प्रकार से सीता को समझाने का आदेश दिया था। उन्हें प्रभु के बल और विरह का वर्णन भी सुनाना था :

बहु प्रकार सीतहि समझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

यह 'बहु प्रकार' शब्द ही आञ्जनेय के कार्यों का आधार था। मुद्रिका को ऊपर से नीचे डाल देना भी समझाने का ही एक 'प्रकार' था, जैसाकि पूर्व लेख में बताया जा चुका है। कथा का माध्यम इसका दूसरा 'प्रकार' था। सन्देश सुनाकर उन्होंने माँ को तीसरे प्रकार से समझाने का प्रयास किया। माँ के समक्ष अपने विशाल रूप को प्रकट करना भी समझाने का ही एक प्रकार था। वाटिका उजाड़कर आञ्जनेय ने रावण को चुनौती देकर प्रभु के बल को क्रियात्मक रूप में भी प्रकट कर दिखाया। प्रभु के बल का वर्णन केवल वाणी-मात्र से करना उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने प्रभु के बल को क्रियात्मक रूप में प्रदर्शित करने के लिए ही "तरु तोरैं लागा" का आश्रय लिया। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भक्तिमती त्रिजटा के प्रति उनके अन्तःकरण में अगाध श्रद्धा-भावना आ गई थी। जगज्जननी के श्रीचरणों में रहकर उन्हें आश्वस्त करने वाली आस्थामयी त्रिजटा के प्रति श्रद्धा का न होना ही आश्चर्य की पराकाष्ठा होती है। फिर त्रिजटा ने राक्षसियों से यह दावे से कहा था कि उसने जो स्वप्न देखा है, वह सत्य होकर रहेगा। उसके स्वप्न पर विश्वास हो जाने के कारण ही राक्षसियाँ माँ को डराने से विरत हो गई थीं। दूरदर्शी आञ्जनेय ने सोचा, "यदि मैं चुपचाप सन्देश देकर चला जाऊँगा तो राक्षसियों के अन्तःकरण में त्रिजटा और उसके स्वप्न के प्रति अनास्था का उदय होगा और तब वे पुनः माँ मैथिली को भयभीत करते का प्रयास करेंगी। अतः राक्षस-वध और लंका-दहन के द्वारा भावनामयी त्रिजटा के शब्द तो सत्य सिद्ध हो ही जायेंगे, माँ की सुरक्षा के लिए भी यह प्रेरणादायी सिद्ध होगा।" जहाँ तक श्री किशोरीजी के आदेश का सम्बन्ध है, वह उन्होंने सांकेतिक रूप में ले लिया था। "मुझे राक्षसों से कोई भय नहीं है"—यह कहकर उन्होंने संकेत दे दिया था। माँ यह भली प्रकार जानती थीं कि फल खाने में संघर्ष अवश्यम्भावी है। इसलिए आञ्जनेय के समक्ष किशोरीजी के आदेश के उल्लंघन का भय नहीं था।

आध्यात्मिक अर्थों में अशोक उपवन मोह-विपिन का प्रतीक है। रामचरित

मानस में वन को संशय और मोह दोनों के प्रतीक के रूप में देखा गया है ! दंडक-वन संशय का प्रतीक है। वहाँ अनेक पात्रों में संशय की सृष्टि होती है। मैथिली और सती दोनों ही दण्डकवन में संशयग्रस्त रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। रावण संशय-विपिन से मिथिलेशनन्दिनी को लाकर मोह-वन में बन्दी बना देता है। सम्भवत: वह "मोह बिपिन कँह नारि बसन्ता" की युक्ति का पालन कर रहा था। संशय-वन भयावना है। उसमें भटकने की सम्भावना ही अधिक है, किन्तु मोह-वन देखने में अत्यन्त आकर्षक है। प्रलोभन की सृष्टि करना ही उसका स्वभाव है। रावण को पूर्ण विश्वास था कि मोह-वन की दिव्यता और उसके महान् वैभव के समक्ष मैथिली अवश्य नत होगी। किन्तु भक्तिदेवी पर प्रकृति की विलक्षणता का क्या प्रभाव पड़ता ? भगवान् के चरणों में अनुराग मोह के रहते हुए हो ही नहीं सकता :

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ।।

हनुमानजी वैराग्य के घनीभूत रूप है। उन्हें भक्तिस्वरूपा सीता का आशीर्वाद प्राप्त है। उनकी करुणा से ही उन्हें मोह-वाटिका में भी मधुर फल प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में प्रभु की कृपा का भी यही फल बताया गया है। भक्ति के प्रताप से गरल अमृत हो जाता है। सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड में भी यही कहा गया है :

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिन्धु अनल सितलाई ।।

× ×

गरल सुधा सम अरि हित होई।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ।।

मधुर फल का आस्वादन करने के बाद वे वहाँ के वृक्षों को विनष्ट करने में समर्थ होते हैं। कुयोगी व्यक्ति के लिए मोह-विटप को उखाड़ना सम्भव नहीं है :

पुरुष कुयोगी जिमि उरगारी।
मोह विटप नहिं सकइ उखारी ।।

समग्र योगों की पूर्णता उनके चरित्र में विद्यमान है। योग की अष्ट सिद्धियों का दर्शन भी उन्हीं में होता है। इसीलिए उनके द्वारा मोह-वाटिका का ध्वंस सर्वथा उनके स्वरूप के ही अनुरूप है।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

ब्रह्म अस्त्र तेहिं साँधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार॥
ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहिं मारा।
परतिहुँ बार कटकु संघारा॥

अर्थ—अन्त में मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र का सन्धान (प्रयोग) किया। तब हनुमानजी ने मन में विचार किया कि यदि ब्रह्मास्त्र को नहीं मानता हूँ तो उसकी अपार महिमा मिट जायेगी। उसने हनुमानजी को ब्रह्मबाण मारा (जिसके लगते ही वे वृक्ष से नीचे गिर पड़े) परन्तु गिरते समय भी उन्होंने बहुत-सी सेना मार डाली।

मेघनाद लंका का अतुलनीय योद्धा था। विश्व में उसने अपने पराक्रम के द्वारा सर्वोच्च योद्धा होने का सम्मान प्राप्त किया था। जो लोग साहसपूर्वक रावण से भी युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो जाते थे वे भी मेघनाद के समक्ष आने का साहस एकत्र नहीं कर पाते थे। स्वर्ग में तो उसके नाम-मात्र से ही भगदड़ मच जाती थी :

बारिदनाद जेठ सुत तासू।
भट महुँ प्रथम लीक जग जासू॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई।
सुरपुर नितहिं परावन होई॥

श्रीआञ्जनेय के पराक्रम से अशोक वाटिका के रक्षक आतङ्कित हो उठे।

अक्षयकुमार की मृत्यु ने सारी लंका में भय की सृष्टि कर दी, ऐसी परिस्थिति में रावण की दृष्टि अपने पुत्र मेघनाद पर जाती है। मेघनाद पर उसका कितना प्रगाढ़ विश्वास था, इसका परिचय केवल एक वाक्य से मिल जाता है। मेघनाद को जाने का आदेश देते हुए उसने यही कहा, "पुत्र ! तुम उसे मार मत डालना। बाँधकर ले आना। मैं उस बन्दर को स्वयं अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ।"

मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही।
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥

अक्षयकुमार की मृत्यु के बाद स्वभावतः रावण के अन्तःकरण में यह आशंका उत्पन्न होनी चाहिए कि कहीं उसका पुत्र मेघनाद भी पराजित होकर मृत्यु का ग्रास न बने। किन्तु ऐसी आशंका उसके अन्तःकरण में एक क्षण के लिए भी नहीं आती। उसे मेघनाद की विजय में पूर्ण विश्वास है। उसे केवल यही आशंका है कि कहीं मेघनाद के बाणों से बन्दर विनष्ट न हो जाय। उसके हृदय में आञ्जनेय को देखने की प्रबल आकांक्षा थी। एक बन्दर के इस अतुलनीय पराक्रम से वह आश्चर्य चकित था। अक्षयकुमार की मृत्यु उसके लिए कल्पनातीत थी। उसकी मृत्यु से रावण का अन्तःकरण दुःख और क्रोध से भर उठा था। फिर भी वह अपनी सभा में बुलाकर बन्दर से वार्त्तालाप करने के लिए व्यग्र था। युद्ध के लिए जाते हुए मेघनाद को इसीलिए वह बाँधकर लाने का विशेष आदेश देता है। स्वयं मेघनाद को भी दूसरों को बाँधकर लाने में विशेष आनन्द आता है। वह अपने पिता का महान् भक्त और आज्ञाकारी पुत्र था। पराजित योद्धाओं को अपने पिता के चरणों में लाकर डाल देने में उसे विशेष गौरव की अनुभूति होती थी। वह सारे विश्व के द्वारा अपने पिता को सम्मानित देखना चाहता था। अपनी विजय की अपेक्षा भी पिता का सम्मान उसे अधिक अभीष्ट था :

जे सुर समर धरी बलवाना।
जिन्हके लरिबे कर अभिमाना॥
तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी।
उठि सुत पितु अनुसासन काँधी॥

उसकी पितृभक्ति अद्भुत थी। रावण के परिवार के प्रत्येक प्रमुख सदस्य ने सीताहरण के लिए रावण की कठोर आलोचना की। एकमात्र मेघनाद ही इसका अपवाद था। उसने आदि से अन्त तक पिता का पूरी तरह साथ दिया। आञ्जनेय और मेघनाद का युद्ध दो महान् पुत्रों का संघर्ष था। हनुमान प्रभु के भावपुत्र हैं और मेघनाद का जन्म मन्दोदरी के माध्यम से होता है। दोनों ही महान् पितृभक्त

हैं और दोनों विश्व के अप्रतिम योद्धा हैं। गोस्वामीजी ने दोनों वीरों के लिए मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग किया है। अशोक वाटिका की ओर जाते हुए मेघनाद के लिए वे 'अतुलित जोधा' का प्रयोग करते हैं। सुन्दरकाण्ड में पवन-नन्दन की वन्दना करते हुए भी वे "अतुलित बल धामम्" का विशेषण देते हैं :

अतुलितबलधामं **हेमशैलाभदेहं**
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि।।

× ×

चला इन्द्रजित् *अतुलित जोधा*।
बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा।।

रथारूढ़ होकर मेघनाद अशोक वाटिका में प्रविष्ट होता है। अब तक आने वाले किसी भी योद्धा को महावीर ने रञ्चमात्र महत्त्व नहीं दिया, किन्तु मेघनाद की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की। रथारूढ़ मेघनाद पर उनकी दृष्टि पड़ी और उन्हें यह समझने में क्षण-भर का भी विलम्ब नहीं हुआ कि अब उन्हें एक दारुण भट से युद्ध करना है। इसलिए क्रोध-भरी गर्जना करते हुए महावीर उसकी ओर दौड़े और सर्वप्रथम विशाल वृक्ष उखाड़कर उन्होंने मेघनाद के रथ को विनष्ट कर दिया। यह मेघनाद की पराजय का श्रीगणेश था :

कपि देखा दारुन भट आवा।
कटकटाइ गर्जा अरु धावा।।
अति बिसाल तरु एक उपारा।
विरथ कीन्ह लंकेस कुमारा।।

मेघनाद रथ पर आरूढ़ था, और भौतिक दृष्टि से आञ्जनेय के पास रथ का अभाव था, किन्तु आध्यात्मिक अर्थों में आञ्जनेय धर्मरथ पर आरूढ़ थे। श्री हनुमानजी का महावीर नाम केवल औपचारिक ही नहीं था। प्रभु की दृष्टि में सच्चे वीर की जो परिभाषा थी, उस कसौटी पर जो पात्र खरे सिद्ध होते हैं उनमें श्रीहनुमन्तलाल अग्रगण्य हैं। लंका के युद्ध में धर्मरथ का वर्णन करते हुए प्रभु अपने प्रिय सखा विभीषण से वीर की परिभाषा करते हुए कहते हैं, जो आन्त-रिक शत्रुओं को परास्त कर देता है, वही सच्चा वीर है और यह विजय केवल उसे प्राप्त हो सकती है जो धर्म के दृढ़ रथ पर आरूढ़ है :

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।।

दोनों रथों का अन्तर अशोक वाटिका में स्पष्ट हो गया। किन्तु अञ्जनी-नन्दन जिस रथ पर आरूढ़ थे, उसे कभी भी कोई विनष्ट नहीं कर सकता था। रथ विनष्ट होते ही मेघनाद का कुछ क्षणों के लिए हतप्रभ हो जाना स्वाभाविक था। जब तक वह स्वयं को सन्तुलित करे, महावीर ने मेघनाद के साथ आई हुई सेना को विनष्ट करना प्रारम्भ कर दिया, और देखते-ही-देखते अधिकांश योद्धा मृत्यु के ग्रास बन गये। इसके बाद आञ्जनेय और मेघनाद में मल्लयुद्ध होने लगा। सम्भवतः यह चुनौती मेघनाद की ओर से दी गई होगी। रथ के विनष्ट हो जाने पर वह यह प्रदर्शन करने के लिए व्यग्र हो उठा होगा कि वह बिना रथ के भी युद्ध की प्रत्येक शैली में हनुमानजी को चुनौती दे सकता है। वीरता का यह प्रदर्शन उसे महँगा पड़ा। महावीर के मुष्टि-प्रहार से वह मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया। यद्यपि यह मूर्च्छा क्षणिक थी। आञ्जनेय उसे मूर्च्छा की स्थिति में विनष्ट कर सकते थे, किन्तु यह उनके स्वभाव और शौर्य के प्रतिकूल था। वे सहज भाव से वृक्ष की एक डाल पर जाकर बैठ गये। चैतन्य होते ही मेघनाद ने वृक्ष पर विराजमान पवनतनय को देखा। उसने उन्हें मायामय युद्ध से परास्त करने का निर्णय किया, किन्तु प्रभञ्जनपुत्र पर उसकी कोई माया नहीं चल पाई :

मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।
ताहि एक छन मुरुछा आई।।
उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया।
जीति न जाइ प्रभंजन जाया।।

मेघनाद युद्ध की किसी भी शैली में महावीर को परास्त करने में सक्षम न था। मायायुद्ध का आश्रय उसकी पराजय का ही चिह्न था। किन्तु महामाया आद्याशक्ति की कृपा जिसे प्राप्त है, मेघनाद की माया उसे कैसे पराजित कर सकती थी। इसके बाद उसने अमोघ ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का संकल्प किया। बाल्या-वस्था में ही पवनतनय को यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि कोई भी अस्त्र या शस्त्र उनको प्रभावित नहीं कर सकेगा। जिन अस्त्रों से अवध्यता का वरदान उन्हें प्राप्त हुआ था, उन्हीं में से ब्रह्मास्त्र भी था। किन्तु आञ्जनेय के अन्तःकरण में यह प्रश्न उठा कि ऐसी परिस्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए। ब्रह्मास्त्र की मर्यादा ही यही है कि वह कभी व्यर्थ नहीं जाता है। ब्रह्मा ने इस नियम में उन्हें छूट देकर उनके प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम का परिचय दिया। महावीर को लगा कि

छूट से लाभ उठाने का अर्थ है ब्रह्मा और ब्रह्मास्त्र की मर्यादा को विनष्ट कर देना। अपनी मर्यादा के संरक्षण के लिए सृष्टि में बहुधा सभी व्यग्र रहा करते हैं। किन्तु दूसरों की मर्यादा की चिन्ता करना प्रभु और सन्त दो ही के लिए सम्भव है। जयन्त के प्रसंग में शरणागत होने पर भी उसका एक आँख फोड़ देना प्रभु के स्वभाव के सर्वथा विपरीत था, किन्तु वहाँ भी ब्रह्मास्त्र की बाध्यता विद्यमान थी। प्रभु को लगा कि उनकी मर्यादा शरणागत को संरक्षण देना है। ब्रह्मास्त्र की मर्यादा उसकी अव्यर्थता है। यत्किञ्चित् अपनी मर्यादा का त्याग करके भी सृष्टि के रचयिता की मर्यादा का संरक्षण उनका कर्त्तव्य है। जयन्त के एक नेत्र का विनाश इसी दृष्टि से किया गया :

सुनि कृपाल अति आरत बानी।
एक नयन करि तजा भवानी॥

आञ्जनेय तो प्रभु से भी आगे बढ़ गए। वहाँ ब्रह्मास्त्र की मर्यादा के लिए जयन्त को दण्ड भोगना पड़ा; किन्तु यहाँ तो स्वयं महावीर को ही ब्रह्मास्त्र झेलना था। अपने ऊपर आघात झेलकर भी उन्होंने ब्रह्मास्त्र की मर्यादा को बचा लिया। ब्रह्मास्त्र का प्रहार होते ही वे मूर्च्छा का अभिनय करते हुए वृक्ष से गिर पड़े, किन्तु यह गिरना भी अनोखा ही था, जहाँ गिरने वाले को लेशमात्र भी क्षति नहीं पहुँची। आञ्जनेय जान-बूझकर उधर गिरे थे, जिस दिशा में मेघनाद की सेना खड़ी थी। महावीर के पर्वताकार शरीर के नीचे पिचकर लंका की विशाल वाहिनी विनष्ट हो गई। आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्रसंग बड़े ही महत्त्वपूर्ण संकेतों से पूर्ण है।

वस्तुतः यह वैराग्य और काम का संघर्ष था। काम अपनी समस्त कला का प्रयोग करके भी वैराग्य को प्रभावित नहीं कर पाया। ब्रह्मास्त्र सृष्टि-मर्यादा का प्रतीक है। संसार में जन्म लेकर व्यक्ति गुण के साथ दोष, जय के साथ पराजय के क्रम को अस्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि सृष्टि का निर्माण द्वन्द्वात्मक पद्धति से हुआ है। दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, साधु-असाधु, सुजाति-कुजाति, दानव-देव, ऊँच-नीच, अमृत-विष और जीवन-मृत्यु आदि इसी द्वन्द्व के प्रतीक हैं :

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सुजीवन माहुरु मीचू॥

× ×

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना ॥

सृष्टि में जन्म लेकर प्रत्येक व्यक्ति को द्वन्द्व के इस चक्र को स्वीकार करना ही पड़ता है। बड़े-से-बड़े महापुरुष योगी और सिद्ध अपवाद के रूप में इस नियम को कुछ समय के लिए परिवर्तित करने में भले ही समर्थ हों, किन्तु उसे सदा के लिए बदल पाना सम्भव नहीं है; क्योंकि सृष्टि द्वन्द्व के आधार पर ही जीवित रह सकती है। समग्र साम्यावस्था का उदय होते ही सृष्टि की सत्ता समाप्त हो जाती है। द्वन्द्वरहित सृष्टि निर्जीव खिलौने की भाँति चेतनाशून्य होगी। चेतना में घात-प्रतिघात, उत्थान और पतन का चक्र चलता ही रहता है। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि द्वन्द्व के इस जंजाल से जब कोई मुक्त ही नहीं हो सकता तब साधना, ज्ञान, योग अथवा भक्ति की सार्थकता कहाँ रह जाती है। इसे यों कह सकते हैं कि यद्यपि दिन के बाद रात्रि का आना अवश्यम्भावी है, पर सूर्य के अभाव को स्वाभाविक समझकर व्यक्ति स्वीकार नहीं कर लेता है। वह अपनी ओर से प्रकाश की कोई-न-कोई व्यवस्था तो करता ही है। सदुपयोग के द्वारा भी वह सृष्टि के द्वन्द्व से लाभ लेता है। अंधकार में यदि वह कर्म में सफल नहीं होता तो रात्रि में विश्राम के द्वारा कर्म के लिए नई शक्ति संचित करता है। यदि वह दुःख को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकता तो दुःख को प्रभु का निमंत्रण मानकर भावना के द्वारा उनके समीप पहुँचने की चेष्टा करता है। इसलिए महापुरुष द्वन्द्व-भरी सृष्टि में रहकर भी निर्द्वन्द्व रहता है।

आञ्जनेय के चरित्र में इसी तत्त्व का दर्शन होता है। मेघनाद मूर्तिमान् काम है। सृष्टि का सृजन काम के द्वारा ही होता है। इसलिए सृष्टि में सर्वथा कामशून्य होना सम्भव नहीं है। यही ब्रह्मास्त्र की मर्यादा है। आञ्जनेय इस नियम के अपवाद हैं। किन्तु वे उस नियम को स्वीकार करते हुए भी द्वन्द्व के परिणाम से मुक्त हैं। ब्रह्मास्त्र के लगते ही आञ्जनेय वृक्ष से नीचे गिरते हुए दिखाई देते हैं। तात्त्विक दृष्टि से यह काम से होने वाले पतन का प्रतीक जान पड़ता है। किन्तु भक्त का पतन कभी नहीं होता—यह भक्तिशास्त्र की मान्यता है। यहाँ भी पतन का परिणाम राक्षसों को ही भोगना पड़ता है। गिरते हुए आञ्जनेय के द्वारा राक्षसों के विनष्ट होने का तात्पर्य यही है कि जब कोई व्यक्ति काम के द्वारा भक्त को पतित बनाना चाहता है, तब उसे क्षणिक सफलता की-सी अनुभूति हो सकती है, पर अन्ततोगत्वा इसका परिणाम भक्त का बुरा चाहनेवाले को ही भोगना पड़ता है। इसीलिए मानस में यह कहा गया कि जो सीतापति के सेवक से माया का प्रयोग करता है, वह उलटा उसी पर आ पड़ता है :

माया पति सेवक सन माया।
करइ त उलटि परइ सुरराया॥

भक्त के लिए तो प्रतिकूलता भी अनुकूलता में ही परिणत हो जाती है, क्योंकि सारे अवरेवों को सुधारने वाली रामकृपा उसके साथ रहती है। चित्रकूट में अयोध्या के जो नागरिक प्रभु का दर्शन करने के लिए आए थे, इन्द्र ने माया का प्रयोग कर उनके अन्तःकरण में उच्चाटन की सृष्टि कर दी। उसे यह देखकर प्रसन्नता भी हुई कि उसका उच्चाटन सफल हुआ। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं, यह उच्चाटन भी लोगों के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। यदि ऐसा न होता तो रामप्रेम में अयोध्यावासी प्राणों का परित्याग कर देते :

मागेउ बिदा प्रनामु करि राम लिए उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ॥
सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी।
अवधि आस सम जीवनि जी की॥
नतरु लखन सिय राम बियोगा।
हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥
रामकृपाँ अवरेब सुधारो।
बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥

मेघनाद के द्वारा किये जाने वाले ब्रह्मास्त्र का प्रयोग भी मेघनाद और लंका के लिए अकल्याणकारी सिद्ध हुआ। यदि मेघनाद उन्हें बाँधकर न ले जाता तो लंका जलकर राख होने से बच जाती।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

अर्थ—जिनके लेशमात्र बल से तुमने समस्त चराचर जगत् को जीत लिया और जिनकी प्रिय पत्नी को तुम हर लाए हो, मैं उन्हीं का दूत हूँ।

वन्दी मारुति को देखकर दशानन हर्षित हुआ। किन्तु अक्षयकुमार की मृत्यु की स्मृति आते ही उसका अन्त:करण विषाद से व्याकुल हो गया। सृष्टि का स्वभाव और स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ के प्रत्येक सुख में दुःख का मिश्रण है। और विशेष रूप से जब दूसरे की पराजय अथवा पीड़ा से कोई सन्तुष्ट होना चाहता है तब उसके जीवन में यह नियम और भी उजागर होकर सामने आता है। रावण की प्रवृत्ति दूसरों को संकट में डालकर प्रसन्न होने की है। किन्तु उसके दुष्कर्मों का विपाक इसी जीवन में सामने आ गया। यदि वह दूसरों के यज्ञ नष्ट करता रहता था तो उसका यज्ञ भी बंदरों के द्वारा विनष्ट कर दिया गया। वह दूसरों के नगर में आग लगाकर हँसता था तो स्वयं उसके देखते-ही-देखते स्वर्णमयी लंका जलकर खाक हो गई। दूसरे नगरों को उजाड़ने वाला रावण अपने बाग को उजड़ने से नहीं बचा पाया। अपने पुत्र का नामकरण उसने अक्षयकुमार किया और अन्त में वह महावीर के हाथों मारा गया। देह को अक्षय समझना अविवेक की पराकाष्ठा है। किन्तु रावण अपने पुत्र को अक्षय मान बैठा था। वैराग्य (हनुमानजी) ने रावण के समक्ष सृष्टि की वास्तविकता को ही प्रकट किया था। जड़ के द्वारा शोक

की निवृत्ति नहीं होती अपितु जड़ अपनी नश्वरता से शोक की ही वृद्धि करता है। देह नश्वर है, उसका नाम ही शरीर है। जो प्रतिक्षण क्षीण होता है वही शरीर है। वैराग्य के द्वारा प्रकट की गई वास्तविकता को रावण स्वीकार नहीं करना चाहता। वह मुक्ति देने वाले वैराग्य को बन्दी बनाकर अपने अहं को सन्तुष्ट करना चाहता है। किन्तु अपनी विजय के बाह्य प्रदर्शन से वह अपने आन्तरिक शोक को नहीं समाप्त कर पाता है।

कालजन्य दुःख का भी यह एक अच्छा दृष्टान्त है। वर्तमान में बन्दी आञ्जनेय को देखकर उसे विजय की अनुभूति हो रही थी। किन्तु वह भूतकाल से पीछा नहीं छुड़ा पाया। वर्तमान के सुख को भूतकाल की स्मृति ने धूमिल बना दिया। अपने भविष्य को रावण नहीं देख पा रहा है। जबकि सर्वाधिक आवश्यकता भविष्य के निर्माण की है। भूतकाल कभी लौटाया नहीं जा सकता। केवल उसकी स्मृति ही वर्तमान में सुख अथवा दुःख की सृष्टि करती है। वर्तमान प्रतिक्षण भूत बनता जा रहा है। भविष्य व्यक्ति को दिखाई नहीं देता पर कुछ लोग भविष्य की मिथ्या कल्पना के द्वारा स्वयं को चिन्ता और भय से संत्रस्त कर लेते हैं। कुछ ऐसे हैं जो भविष्य को देखना ही नहीं चाहते। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति भविष्य का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं। आञ्जनेय रावण की सभा में उसके भविष्य के कल्याण की योजना लेकर आए थे, किन्तु रावण भूत और वर्तमान में ही खोया हुआ है :

कपिहि बिलोकि दसानन, बिहसा कहि दुर्बाद।
सुत-बध-सुरति कीन्हि पुनि, उपजा हृदयँ बिषाद॥

अपने आन्तरिक भावों का संवरण कर वह बंदर से वार्त्तालाप करने लग जाता है। उसके अन्तःकरण में यह दृढ़ धारणा थी कि एक बंदर अकेले अपनी सामर्थ्य से इतने भीषण शौर्य का प्रदर्शन नहीं कर सकता था। वह यह जानने के लिए व्यग्र था कि इस बंदर के पीछे किसकी प्रेरणा और शक्ति कार्य कर रही है। अवश्य कहीं-न-कहीं उसके अन्तर्मन में श्रीराम की स्मृति आई होगी, किन्तु उसे वह सीधे प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है। अचानक उसे अपने बल और गौरव का स्मरण हो आया। अहं की स्मृति आते ही उसे लगा कि सम्भवतः यह बंदर अज्ञानजन्य निश्चिन्तता से निर्भय है। वह यह सोच भी नहीं सकता था कि उसे जानने वाला कोई व्यक्ति उसकी सभा में निर्भय होकर खड़ा हो सकता है। जिस सभा में आकर इन्द्र, वरुण, सूर्य, कुबेर आदि के पैर डगमगा जाते हैं वहाँ एक बंदर निश्चित भाव से खड़ा हो, यह उसे सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। उस समय भी उसकी सभा में सभी लोकपाल हाथ जोड़े खड़े थे। प्रत्येक की दृष्टि रावण की भौंहों पर थी। पर लगता था इस सारे दृश्य से उदासीन यह बंदर किसी और

ही सृष्टि में खोया हुआ है। रावण के लिए यह सर्वथा नया अनुभव था। इसलिए आञ्जनेय से प्रश्नोत्तर करता हुआ वह अपने आश्चर्य को छिपा नहीं पाता है। क्रमशः प्रश्न करने के स्थान पर वह एक साथ छह प्रश्नों की झड़ी लगा देता है :

कह लंकेस कवन तैं कीसा।
केहि कें बल घालेहि बन खीसा॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही।
देखउँ अति असंक सठ तोही॥
मारे निसिचर केहिं अपराधा।
कहु सठ तोहि न प्रान कइ बाधा॥

उन्होंने रावण के सारे प्रश्नों में से केवल एक को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। उत्तर देते हुए उन्होंने प्रश्नों के क्रम को भी परिवर्तित कर दिया। रावण का प्रथम प्रश्न था, "बंदर तू कौन है" और दूसरा था, "किसके बल से तूने बाग उजाड़ा ?" किन्तु महावीर ने उत्तर देते हुए द्वितीय को प्रथम और प्रथम को द्वितीय के रूप में स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में परिचय तो स्वामी का ही प्राप्त करना चाहिए, सेवक तो स्वामी का यन्त्र-मात्र होता है। प्रथम प्रश्न के उत्तर का श्रीगणेश वे सृष्टि के निर्माण की स्मृति से करते हैं—सुनो रावण ! इन समस्त ब्रह्माण्डों का निर्माण माया ने जिसके बल से किया है; जिसके बल से ब्रह्मा सृजन, विष्णु पालन और शंकर संहार का कार्य करते हैं; जिसका बल पाकर शेष इस विशाल पृथ्वी को सिर पर धारण करते हैं; जो प्रभु अनेक अवतार लेकर तुम जैसे दुष्टों को शिक्षा प्रदान करते हैं; जिन्होंने रुद्र के कठोर कोदंड का खंडन किया और तुम्हारे सहित समस्त राजाओं के मद को विनष्ट कर दिया है; खर, दूषण, त्रिशिरा और बालि-जैसे अतुलित बलशालियों को जिन्होंने मृत्यु का ग्रास बना दिया; जिसके बल के लवलेश से तुमने समस्त ब्रह्माण्ड को परास्त कर दिया और जिनकी प्रिय पत्नी का तुमने अपहरण किया है, मैं उनका एक दूत-मात्र हूँ :

सुनु रावन ब्रह्मांड नकाया।
पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन।
अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता।
तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥

हरकोदंड कठिन जेहिं भंजा।
तेहि समेत नृप-दल-मद गंजा॥
खर-दूषन-त्रिसिरा अरु बाली।
बधे सकल अतुलित बलसाली॥
जाके बल-लवलेस तें, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि॥

आञ्जनेय के द्वारा दिया गया यह विस्तृत उत्तर रावण को सत्य का साक्षात्कार कराने की भावना से प्रेरित था। मानों वे रावण को बताना चाहते थे कि जब तुम मेरे पीछे प्रेरक बल को जानना चाहते थे तब पहले तुम्हें स्वयं अपने-आप पर भी विचार करना चाहिए था। सृष्टि के अगणित जीवों में से तुम भी एक हो। अपनी विशाल सफलताओं को देखने के बाद क्या तुमने कभी उसके कारणों पर विचार किया। यदि तुमने ध्यान दिया होता तो तुम भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते, जिस पर मैं पहुँचा हुआ हूँ। तुमने जिस प्रकार के कार्य किए हैं उससे भी अधिक महान् कार्य सृष्टि में सम्पन्न हुए हैं। "तुम अपनी राक्षसी माया के द्वारा अनेक वस्तुओं के निर्माण का गर्व करते हो किन्तु ईश्वरीय माया संकल्प-मात्र से अगणित ब्रह्माण्डों का निर्माण कर देती है। तुम अपने पुत्रों की विशाल संख्या पर यह सोचकर गर्व कर सकते हो कि तुमने इतने पुत्रों को जन्म दिया है। लंका के राक्षसों का पालन करते हुए तुम्हें अपने पालकत्व पर गौरव की अनुभूति होती होगी। युद्ध में अपने शत्रुओं का संहार कर तुम स्वयं को संहारक मान बैठे होगे। किन्तु क्या तुमने कभी गम्भीरता से दृष्टि डाली कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव की तुलना में तुम्हारे यह कार्य कितने तुच्छ हैं ? तुम कैलाश पर्वत को सिर पर उठाकर गर्व करते हो किन्तु शेष ने तो सारी पृथ्वी को सिर पर उठा रखा है। दूसरी ओर तुम अपने ही समान विचार वालों पर दृष्टि डालो। तुमसे भी पहले तुम्हारी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली दैत्य संसार में उत्पन्न हो चुके हैं। उन्हें तुम्हारी तुलना में अधिक विलक्षण वरदान प्राप्त थे फिर भी वे ईश्वर के द्वारा मृत्यु के ग्रास होने से अपने को नहीं बचा पाए। तुम अपनी सफलताओं के मद में अपनी विफलताओं को मत भूलो, शंकर के धनुष को यदि तुम तोड़ पाते तो आज तुम्हें चोर न बनना पड़ता। प्रभु के द्वारा ऐसे व्यक्ति भी मारे जा चुके हैं जो तुम्हारे समान या तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक शक्तिशाली थे। तुम्हें अपनी सफलताओं और विफलताओं पर विचार करना चाहिए। सारी सृष्टि के मूल में एक ही शक्ति कार्य कर रही है। तुम्हारी सफलताएँ उस ईश्वर के बल के लवलेश का परिणाम हैं।" पर सबसे अन्त में आञ्जनेय ने मैथिली के हरण की स्मृति दिलाई। इसका

तात्पर्य यह था कि सृष्टि में तुमसे बढ़कर कृतघ्न कौन हो सकता है ? तुम्हारी सफलताओं के मूल में जिस प्रभु का बल है उस प्रभु की शक्ति को चुराकर तुमने कितना बड़ा अक्षम्य अपराध किया है ? इस पर विचार करो । मेरा परिचय जानकर तुम क्या करोगे ? दूत के कोई अपने विचार नहीं होते हैं, वह तो स्वामी के संदेश को ही प्रचारित करता है। मैं इसी उद्देश्य से तुम्हारी सभा में आया हूँ।

भक्त ने अपने स्थान पर प्रभु का गौरव गाकर सेवक के सच्चे स्वरूप का परिचय दे दिया ।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान ।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान ॥
जदपि कही कपि अति हित बानी ।
भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥

अर्थ—मोह ही जिसका मूल है ऐसे (अज्ञानजनित), बहुत पीड़ा देने वाले तमरूप अभिमान का त्याग कर दो और रघुकुल के स्वामी, कृपा के समुद्र भगवान् श्री रामचन्द्रजी का भजन करो। यद्यपि हनुमानजी ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और नीति से सनी हुई बहुत ही हित की वाणी कही।

संत-हृदय मारुति रावण के कल्याण की कामना से व्यग्र हो उठे। उन्होंने हर प्रकार से रावण को समझाने का प्रयास किया। उनकी वाणी को भक्ति, विवेक, वैराग्य और राजनीति से सनी हुई बताया गया है।

जदपि कही कपि अति हित बानी ।
भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥

अपराध करने वाला व्यक्ति क्रमशः बुराई की दिशा में अग्रसर होता जाता है। एक बार अनजाने में बुराई कर बैठने के बाद जब वह यह पाता है कि समाज ने पीछे लौटने के उसके सारे मार्ग अवरुद्ध कर दिये हैं, तब वह हर ओर से निराश होकर अपराध की प्रवृत्तियों में धँसने के लिए बाध्य हो जाता है। एकमात्र भक्ति-शास्त्र ही व्यक्ति को पीछे लौटने की प्रेरणा देता है। रावण के द्वारा सीताहरण-जैसा जघन्य अपराध हो चुका था। ऐसी स्थिति में वह सोच सकता था कि अब

तो संघर्ष और युद्ध को छोड़कर उसके लिए अन्य मार्ग है ही नहीं। किन्तु आञ्जनेय ने प्रभु के स्वभाव का संकेत देते हुए उसे यह बताया कि ऐसा कोई पाप अथवा अपराध नहीं है, जिसे प्रभु न भुला सकते हों। उनका स्वभाव कितना विस्मृति-शील है, यह बतलाने के लिए ही उन्होंने क्षमा के स्थान पर 'बिसारि' शब्द का प्रयोग किया :

प्रनतपाल रघुनायक करुनासिन्धु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥

क्षमा देने वाले व्यक्ति को अपराधी के अपराध का स्मरण रहता है, किन्तु वह अपने औदार्य से दण्ड के स्थान पर दया का परिचय देता है। किन्तु जिसे अपराध का स्मरण ही नहीं है, उसे क्षमा देने की आवश्यकता ही क्यों? आञ्जनेय का तात्पर्य यह था कि यदि तुम प्रभु की शरण में जाओगे तो यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि तुम्हें दण्ड अथवा क्षमा का पात्र माना जाएगा। वे तो तुम्हारे अपराधों को भुला चुके होंगे। रावण को वे यों भी आश्वस्त कर देना चाहते हैं कि यदि तुम्हें यह भय हो कि जैसे जयन्त को शरण में लेने पर भी एक नेत्र फोड़कर कुछ-न-कुछ दण्ड तो दिया ही गया। इस विषय में उसके साथ जो व्यवहार किया गया था, वह केवल ब्रह्मास्त्र की मर्यादा के लिए था। तुम पूर्ववत् लङ्का का राज्य कर सकते हो। प्रभु के चरणों का आश्रय ले लेने पर लंका का राज्य शाश्वत रूप में तुम्हारा हो जायेगा :

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥

आञ्जनेय ने रावण के अन्तःकरण में सुषुप्त विवेक को भी जगाने की चेष्टा की। वे उसे बताना चाहते हैं कि तुम्हारा जन्म एक महान् कुल में हुआ है। पुलस्त्य कुलोद्भव व्यक्ति में यदि विवेक नहीं होगा तो और किससे उसकी आशा की जा सकती है। वस्तुतः सारी समस्या प्रभु को न पहचान पाने के कारण हुई है। तुम श्रीराम को एक साधारण राजकुमार समझ बैठे हो। सारे अनर्थों के मूल में तुम्हारा यही भ्रम कार्य कर रहा है। राम साक्षात् ब्रह्म हैं। तुमने जिनसे वर-दान प्राप्त किया है, वे भी उनकी तुलना में अल्प हैं। सहस्रों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं होंगे। हनुमानजी ने "लङ्का अचल राजु तुम्ह करहू" कहकर सत्ता की अनित्यता की ओर संकेत किया। रावण अपनी दृष्टि से लङ्का पर राज्य कर रहा है, किन्तु 'अचल' शब्द के द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि जिस सत्ता को तुम शाश्वत समझ रहे हो, वह परिवर्तनशील

है। वर्षा के जल से जिस नदी की सृष्टि होती है वह ग्रीष्मकाल में सूखकर समाप्त हो जाती है। किन्तु जिस नदी का मूल स्रोत पर्वत के अन्तराल में है, वह अनवरत बहती रहती है। तुम जिसे अशोक वाटिका समझते थे, वह उजड़कर शोक वाटिका के रूप में परिणत हो गई। अपने जिस पुत्र को तुमने अक्षयकुमार की उपाधि प्रदान की, वह 'क्षय' को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार यदि तुम लङ्का के राज्य को अचल समझते रहे तो वह भी अन्त में 'चल' ही प्रमाणित होगा। ईश्वर के पद को छोड़कर विश्व में और कोई पद अचल नहीं है। इसलिए जो अनित्य और नाशवान् है, उसके प्रति तुम आसक्ति का परित्याग कर प्रभु के चरणों में ही प्रेम करो।

आञ्जनेय की वाक्यावली में राजनीति के चारों चरणों के संकेत प्राप्त होते हैं। सामनीति के रूप में वे रावण के समक्ष नत होकर उसे समझाने की चेष्टा करते हैं:

बिनती करउँ जोरि कर रावन।
सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

दामनीति के रूप में वे लंका के अचल राज्य का प्रलोभन देते हैं:

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥

"तुम जैसे दुष्टों को दण्ड देने के लिए वे बार-बार अवतार लेते हैं।" यह कहकर वे रावण को दण्डनीति का दर्शन कराते हैं:

धरइ जो बिबिध देह सुर त्राता।
तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥

रावण के अन्तःकरण में ब्रह्मा और शिव के प्रति प्रगाढ़ विश्वास था। तपस्या के द्वारा वह उन्हें सन्तुष्ट कर चुका था। वह समझता था कि संकट के समय इन दोनों के द्वारा मुझे सहायता प्राप्त होगी। भेदनीति का प्रयोग करते हुए आञ्जनेय ने कहा कि शंकर और ब्रह्मा दोनों ही तुम्हारी सहायता नहीं करेंगे:

संकर सहस बिष्नु अज तोही।
सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥

भक्ति, विवेक, वैराग्य और राजनीति—सभी दृष्टियों से रावण को समझाने का उद्देश्य रावण के प्रति 'अतिहित' की भावना ही थी। शंकरावतार होने के

नाते उनके अन्तःकरण में रावण के कल्याण की भावना हो, यह स्वाभाविक ही था। पर विश्व के इतिहास में शायद ही कभी किसी गुरु ने शिष्य के कल्याण के लिए इतना कष्ट उठाया हो। शिष्य गुरु के चरणों में नत होकर शिक्षा ग्रहण करे, यह आदेश तो सभी शास्त्रों ने दिया है। पर यहाँ तो गुरुदेव ही हाथ जोड़कर शिष्य के सामने खड़े हैं और उसे समझाने का प्रयास करते हैं।

मंदोदरी ने रावण को उपदेश देते हुए उससे राज्य छोड़कर वन में जाने का अनुरोध किया। वह रावण को स्मरण दिलाती है कि एक राजा को जो महान्-से-महान् सफलता प्राप्त हो सकती है, उसे आप पा चुके हैं। आपने सारे विश्व को पराजित कर दिया है। संत कहते हैं—ऐसी नीति है कि चौथेपन में राजा को वन में चले जाना चाहिए। फिर श्रीराम तो वह हैं कि जिन्हें पाने के लिए चक्रवर्ती सम्राट् सत्ता का परित्याग कर वन में चले जाते हैं, बड़े-बड़े योगी योगाभ्यास के द्वारा जिनका साक्षात्कार करना चाहते हैं। अतः आप पुत्र मेघनाद को राज्य देकर वन में प्रभु का भजन करें।

चाहिअ करन सो सब करि बीते।
तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।।
संत कहहिं अस नीति दसासन।
चौथेंपन जाइहि नृप कानन।।

× ×

मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी।
भूप राजु तजि होहिं बिरागी।।

× ×

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ।।

इसकी तुलना में आञ्जनेय का प्रस्ताव अत्यन्त उदार था। वे राज्यत्याग के स्थान पर अचल राज्य का प्रस्ताव रखते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि रावण-जैसा व्यक्ति सर्वत्याग की मनःस्थिति में नहीं हो सकता है। जहाँ मंदोदरी ने रावण से ममता और मद के त्याग का अनुरोध किया, वहीं मारुति ने ममता के त्याग का आग्रह रावण से नहीं किया। वे यह भली प्रकार जानते हैं कि रावण के लिए ममत्व का त्याग सर्वथा असम्भव है। इसके स्थान पर वे मद और मोह छोड़ने की प्रार्थना करते हैं :

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा।।

अन्त में तो वे अपने प्रस्ताव को इतना अधिक उदार बना देते हैं कि समग्र अभिमान के त्याग के स्थान पर केवल तमोगुणी अभिमान के त्याग का उपदेश देते हैं :

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान॥

इसका तात्पर्य यह है कि यदि तुम सात्विक और राजसी अहंकारों का परित्याग न कर सको तो कम-से-कम तमोमय अहंकार का ही परित्याग कर दो। रामचरितमानस में इससे अधिक छूट किसी भी व्यक्ति को नहीं दी गई। केवल उसे इतना ही करना है कि प्रभु की वस्तु, प्रभु को लौटाकर वह ऐसे तमोमय अभिमान का परित्याग कर दे, जिसके द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आनन्द की अनुभूति होती है। अपने उपदेश के समापन में आञ्जनेय ने प्रभु के चार नामों का स्मरण किया—राम, रघुनायक, कृपासिन्धु और भगवान्। मानों इन चार नामों के माध्यम से चार मार्गों में से किसी भी मार्ग से प्रभु तक पहुँचने का निर्देश देते हैं। यदि तुम ज्ञानी हो तो वे तुम्हारे लिए 'राम' हैं। राम का अर्थ है—योगी लोग जिनमें रमण करते हैं, या जो योगियों को रमण करता है। इस तरह यह नाम निर्गुण-निराकार का प्रतीक है। ईश्वर को सगुण-साकार न मानने वाले साधक भी राम-नाम को निर्गुण का प्रतीक मानकर उसे स्वीकार करते हैं। यदि तुम भक्ति-मार्ग से उन्हें पाना चाहते हो तो वे तुम्हारे लिए 'रघुनायक' हैं। भक्तों की यह मान्यता है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म उनकी आकांक्षा पूर्ण करने के लिए रघुवंश में अवतरित होकर विविध प्रकार की लीलाएँ सम्पन्न करते हैं, और भक्तों को प्रभु की इस लीला में इतना आनन्द आता है कि वे सगुण और निर्गुण के विवाद में न पड़कर कोशलपति रघुनायक को ही अपने हृदय में बसा लेते हैं :

जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी।
सगुन अगुन उर अन्तरजामी॥
जो कोसलपति राजिव नयना।
करउ सो राम हृदय मम अयना॥

कर्मयोगियों के लिए वे साक्षात् 'भगवान्' हैं। छह प्रकार के ऐश्वर्यों का जिसमें एकसाथ निवास हो, उसे भगवान् कहते हैं। यदि ऐश्वर्य की उपलब्धि ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य हो तो तुम्हें षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् का ही आश्रय लेना चाहिए।

यदि तुम्हारे अन्तःकरण में ऐसी प्रतीति हो रही हो कि ज्ञान, भक्ति अथवा

कर्म, किसी भी मार्ग में चलने की योग्यता तुममें नहीं है तो भी तुम्हें भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रभु साक्षात् 'कृपासिंधु' हैं। अपने अभाव को समझकर जो व्यक्ति उनके समक्ष अपने को अर्पित कर देता है, वे उसे उसी रूप में तत्काल स्वीकार कर लेते हैं। ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगियों की अपेक्षा भी दीन उन्हें अधिक प्रिय हैं। उनके स्वभाव का वर्णन इसी रूप में किया गया है। यहाँ तक कि सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा भी स्वयं को इसी रूप में प्रभु के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उनकी दीनप्रियता की दुहाई देते हैं :

जो भव भय भंजन मुनि मन रंजन गंजन बिपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी, छाड़ि सयानी, सरन सकल सुरजूथा।।
सारद श्रुति शेषा, रिषय असेषा, जा कहुँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे, द्रवउ सो श्रीभगवाना।।

भगवान् भूतभावन शिव भी प्रभु के राज्याभिषेक में जाकर प्रभु से अपना परिचय दीन के रूप में देते हुए दृष्टि डालने की प्रार्थना करते हैं :

गुन सील कृपा परमायतनं।
प्रनमामि निरन्तर श्री रमनं।।
रघुनंद निकंदय द्वंद्व घनं।
महिपाल बिलोकय दीन जनं।।

तुम्हारे आराध्य ब्रह्मा और शिव भी जब दीन के रूप में कृपासिन्धु की आराधना करते हैं, तब तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोई भी ऐसी पद्धति नहीं थी, जिसके द्वारा आञ्जनेय ने रावण को प्रभु की ओर उन्मुख करने का प्रयास न किया हो, किन्तु रावण का अभिमान उसे इन पावन उपदेशों की अवहेलना करने के लिए बाध्य करता है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

रहा न नगर बसन घृत तेला।
बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥
× ×
जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥

अर्थ—(पूंछ के लपेटने में इतना कपड़ा और घी-तेल लगा कि) नगर में कपड़ा, घी और तेल नहीं रह गया। हनुमानजी ने ऐसा खेल किया कि पूँछ बढ़ गयी।...हनुमानजी ने एक ही क्षण में सारा नगर जला डाला। एक विभीषन का घर नहीं जलाया।

आञ्जनेय के कल्याणकारी उपदेश की उपेक्षा कर रावण ने उन्हें मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया। राक्षस आज्ञा-पालन के लिए ज्यों ही प्रस्तुत हुए त्यों ही सभा में विभीषण का आगमन हुआ। उन्होंने रावण को नीति का स्मरण दिलाया—"राजनीति की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि दूत को मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता है।" विभीषण के इस मत का समर्थन मन्त्रिमण्डल के सदस्यों तथा अन्य लोगों द्वारा भी किया गया। रावण के द्वारा मृत्यु-दण्ड का आदेश दिए जाने पर सभासद सर्वथा मौन रह गए थे, किन्तु अगले ही क्षण उन्होंने सर्वसम्मति से विभीषण का अनुमोदन किया :

नाइ सीस करि बिनय बहूता।
नीति बिरोध न मारिअ दूता॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई।
सबहीं कहा मन्त्र भल भाई॥

इस विरोधाभास के पीछे छिपा हुआ मनोवैज्ञानिक भय बड़ा ही स्वाभाविक था। अशोक वाटिका के ध्वंस और अक्षयकुमार के वध से लंकानिवासी आतंकित हो उठे थे। बन्दी हनुमान की निर्भयता देखकर भी वे आश्चर्यचकित रह गए। अकेले बन्दर के इस अद्भुत कर्म ने उन्हें इतना अधिक संत्रस्त कर दिया था कि उन्हें यह प्रतीत हो रहा था कि यह बन्दर मृत्यु-दण्ड को इतनी सरलता से स्वीकार नहीं कर सकता है। वे कल्पना कर रहे थे कि बन्दर के द्वारा सभा में संहार की जो सृष्टि होगी वह अशोक-वाटिका की तुलना में कहीं अधिक भयावह सिद्ध हो सकती है। अतः इस बंदर से छेड़-छाड़ न करना ही अच्छा होगा। किन्तु रावण के भय के मारे वे अपना मुँह खोलने में असमर्थ थे। विभीषण के द्वारा नीति-वाक्य का उद्धरण दिए जाते ही उन्हें अपने मन की बात कहने का सुअवसर प्राप्त हो गया। इसके पीछे उनका सद्भाव न होकर भय ही प्रेरक वृत्ति के रूप में कार्य कर रहा था। इस तरह मृत्यु-दण्ड को क्रियान्वित न होने देने के पीछे तीन भिन्न प्रकार की भावनाएँ थीं। विभीषण एक भक्त की भूमिका सम्पन्न कर रहे थे। संकट में उन्होंने संत की रक्षा का प्रयास किया। राक्षसों ने इसके द्वारा रावण और आञ्जनेय दोनों को प्रसन्न करने की चेष्टा की। रावण ने भी राजनैतिक भावना से प्रेरित होकर विभीषण और राक्षसों के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। इसके द्वारा वह विभीषण के प्रति अपने स्नेह को प्रकट करना चाहता था कि विभीषण से भिन्न मत होते हुए भी मैं छोटे भाई के मत का समादर करता हूँ। इस तरह रावण के दो मुखौटे थे। एक वह जिससे विश्व परिचित था—कठोर और शस्त्र के द्वारा शासन करने वाला उसका उग्र रूप, जिससे वह बलपूर्वक लोगों को धर्म-पालन के लिए दण्डित करता है :

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।।
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई।
देव बिप्र गुरु मान न कोई।।
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना।
सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना।।
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा।।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना।।

उसका दूसरा रूप वह था जिससे लंका के नागरिक परिचित थे। जो अपने

भाइयों से इतना प्रेम करता है कि एक के लिए छह महीने सोने का प्रबन्ध कर देता है। जो भाई छह मास तक सोता रहे और एक दिन के लिए जागकर वीर भोजी के रूप में अनाप-शनाप भोजन कर फिर सो जाय, ऐसे भाई की क्या उपयोगिता हो सकती है। किन्तु रावण के व्यवहार में कुम्भकर्ण के प्रति विशेष औदार्य दिखाई देता है। विभीषण के लिए हरि-मन्दिर की व्यवस्था कर देना उसकी सहिष्णुता की पराकाष्ठा-सी जान पड़ती है। यद्यपि यथार्थ इससे भिन्न है। इन दोनों की व्यवस्था के पीछे उसे ब्रह्मा के वरदान की स्मृति थी। उसे भय था कि इन दोनों ने ब्रह्मा और शिव से जो वरदान प्राप्त किए हैं उन्हें यदि मैं झूठा सिद्ध करने का प्रयास करूँगा तो मैंने जो वरदान प्राप्त किया है वह भी झूठा सिद्ध हो सकता है। रावण की उदारता और सहिष्णुता भी स्वार्थ-प्रेरित थी। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी वह उदार भाई और उदार राजा के रूप में स्वयं को दिखाने का प्रयास करता है। इसीलिए उसने मृत्यु-दण्ड के अपने आदेश में संशोधन किया। ऐसा करने से पहले वह जोर से हँस पड़ा और उसने यह कहा कि "अच्छा बन्दर को अंग-भंग करके भेजो। बन्दर को अपनी पूँछ पर बड़ी ममता होती है इसलिए इसकी पूँछ नष्ट कर देना ही उचित दण्ड होगा। इसकी पूँछ में कपड़ा लपेटकर उसे घी और तेल से सराबोर कर दो और फिर उसमें आग लगा दो।"

सुनत बिहसि बोला दसकंधर।
अंग भंग करि पठइअ बंदर॥
कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ॥

रावण की हँसी उसके चरित्र का एक विशेष अंग थी। हँसी आनन्द की अभिव्यक्ति है। किन्तु कुछ लोगों की हँसी दूसरों के उपहास की भावना से प्रेरित होती है। रावण की हँसी इसी प्रकार की थी। परोत्पीड़न की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह बहुधा हँसता रहता है। यहाँ भी उसकी हँसी में यही क्रूरता दिखाई देती है। उसे यह लगा कि मृत्यु-दण्ड की अपेक्षा पूँछ जलाने का दण्ड अधिक आनन्ददायक रहेगा। वह बन्दी बन्दर की जलती हुई पूँछ और उसकी घबराहट की कल्पना से प्रसन्न हो गया। हँसते हुए जलाने का आदेश देना रावण की क्रूरता का सबसे बड़ा प्रमाण है। राक्षसों ने रावण के आदेश का पालन प्रारम्भ कर दिया। इधर आञ्जनेय के अन्तःकरण में भी कौतुक की वृत्ति जाग्रत हो गई। उन्होंने अपनी पूँछ को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यदि रावण के आनन्द की अभिव्यक्ति उसकी हँसी में हो रही थी तो पवनपुत्र की प्रसन्नता पूँछ के विस्तार में व्यक्त हो रही थी। रावण का आदेश सुनते ही वे आनन्दित हो उठे। उन्हें उन

क्षणों में त्रिजटा के स्वप्न की स्मृति आई हो, यह स्वाभाविक था। उन्हें लगा होगा कि त्रिजटा के स्वप्न की सत्यता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि लंका को जलाने के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता थी उसका प्रबन्ध स्वयं रावण की ओर से किया जा रहा है। सरस्वती सहायता पर उतर आई हैं। मन्थरा की बुद्धि को परिवर्तित कर राम-वनवास की व्यवस्था करने वाली सरस्वती मानों अपने कलंक का परिमार्जन करने के लिए लंका के विनाश में सहायिका वन रही हैं :

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।
भइ सहाय सारद मैं जाना।।

लाङ्गूल के विस्तार के द्वारा वे अपनी प्रसन्नता तो प्रकट कर ही रहे थे पर उसके साथ इसके पीछे कुछ और भी भावनाएँ जान पड़ती हैं। पूँछ बढ़ाने की कल्पना उनके अन्तःकरण में रावण की कल्पित योजना को सुनकर आई होगी। रावण ने हँसकर कहा था—पूँछ जल जाने के बाद जब यह बन्दर अपने प्रभु के पास जाकर उन्हें यहाँ लावेगा तब मैं भी इसके स्वामी की प्रभुता और बड़प्पन को अपनी आँखों से देखूँगा। क्योंकि इसने अपने स्वामी की महिमा का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है :

पूँछहीन बानर तहँ जाइहि।
तब सठ निज नाथहि लइ आइहि।।
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई।
देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई।।

आञ्जनेय ने अपनी पूँछ बढ़ाकर मानों रावण को बड़ा ही व्यंग्यात्मक उत्तर दिया। "पहले मेरी पूँछ की बड़ाई तो नाप लो उसके बाद मेरे प्रभु की प्रभुता को नापने की कल्पना करना। यदि तुम्हारी लंका का सारा वस्त्रखण्ड, तेल और घृत मिलकर भी मेरी पूँछ को आवृत नहीं कर सकता तब मेरे स्वामी की अनावृत महिमा को आवृत करने की सामर्थ्य किसमें है ?" रावण की ममता वाली उक्ति का भी इसमें प्रत्युत्तर था। रावण ने कहा था, "बन्दर की पूँछ में ममता होती है उसी को जला दो।" हनुमानजी का उत्तर था, "मैं ममता को फैलाना और समेटना दोनों जानता हूँ किन्तु तुम्हारी ममता की प्रतीक यह लंका है जिसे समेटना तुम नहीं जानते हो, इसलिए यदि ममता जलने योग्य है तो केवल तुम्हारी ही। व्यावहारिक दृष्टि से भी उनके सम्मुख एक प्रश्न था। त्रिजटा के स्वप्न में सारी लंका के जलाने का निर्देश था। पर प्रश्न तो यह था कि क्या रावण के अपराध का दण्ड सारे नगर को दिया जाना चाहिए। विशेष रूप से जब रावण के सभा-

सदों ने आञ्जनेय को मृत्यु-दण्ड से बचाने की चेष्टा की हो, तब यह कार्य और भी अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। इसलिए वे ये देखना चाहते थे कि लंका के नागरिक मेरी पूँछ को जलाने में भागीदार होना चाहते हैं या नहीं। पूँछ के विस्तार से लंका के लोगों का मनोभाव सामने आ गया। राक्षस एक जुआरी की भाँति भविष्य के परिणाम की सही चिन्ता किए बिना दाँव लगा रहे थे। उन्हें यह लगा कि इस खेल में हार होने पर लंका का गौरव धूल में मिल जाएगा। इसलिए वे पूरे उत्साह से घृत, तेल और वस्त्र का प्रवन्ध करने लगे। सारी लंका के राक्षस इस अपराध में सहभागी बने। इतना ही नहीं उन्होंने इससे भी आगे बढ़कर दुष्कृत्य किया। हनुमानजी की पूंछ में घृत, वस्त्र आदि का प्रयोग किए जाने के बाद जब उन्हें बन्दी के वेश में नगर में घुमाया जाने लगा तब वे आञ्जनेय पर लात-घूँसों का प्रहार करते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे। ढोल बजाते हुए वे उनके पीछे चल रहे थे। आञ्जनेय का अभिनय भी उस समय दर्शनीय था। वे स्वयं को डरे हुए वानर के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। भयभीत प्रतीत होने वाले आञ्जनेय को देखकर राक्षसों का सारा पुराना भय दूर हो गया। उन्हें पवनपुत्र का सारा पराक्रम दुःस्वप्न की भाँति मिथ्या लगने लगा। फलतः उनका दुस्साहस बढ़ता ही गया। आञ्जनेय के अभिनय से राक्षसों की क्रूरता सामने आ गयी। और उनके नगर को नष्ट किए जाने का औचित्य सिद्ध हो गया। मानस और कवितावली दोनों में ही इस घटना का बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है :

कौतुक कहँ आए पुरबासी।
मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी।
नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी॥

× ×

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि धाइ-आइ बाँधत लँगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीले गात कै-कै,
लात के अघात सहै, जीमें कहै, कूर हैं।
बाल किलकारी कै-कै, तारी दै-दै गारी देत,
पाछें लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्ही आगी,
बिधिकी दवारि कैधौं कोटिसत सूर हैं॥

कुछ क्षण पहले रावण के सभासदों ने मृत्यु-दण्ड के विपक्ष में अपना मत प्रकट

कर दया का प्रदर्शन किया था। दया की आड़ में वस्तुतः उनका भय ही कार्य कर रहा था, यह पहले कहा जा चुका है। कवितावली के उपर्युक्त पद में उनकी मनोवृत्ति और भी स्पष्ट रूप से सामने आ गई। राक्षस आञ्जनेय को जितना डरा हुआ देखते थे उतना ही अधिक प्रहार में उनका उत्साह बढ़ता जा रहा था। दया की वृत्ति की सार्थकता दीन के प्रति ही है। दीनता देखकर दबाने का प्रयास और शक्तिशाली शत्रु के सामने दयालुता का अभिनय मिथ्या दम्भ का परिचायक है। भगवान् राम ने खर-दूषण के प्रसङ्ग में इस मनोवृत्ति पर तीक्ष्ण प्रहार किया। चौदह सहस्र सेनाओं के साथ खर-दूषण और त्रिशिरा ने प्रभु पर आक्रमण की योजना बनाई। किन्तु प्रभु के समक्ष पहुँचकर उनका विचार बदल गया। उन्होंने प्रस्ताव किया कि यदि "अपनी छिपाई हुई पत्नी को यह राजकुमार हमें दे दे तो हम क्षमादान के लिए प्रस्तुत हैं।"

देहु तुरत निज नारि दुराई।
जीअत भवन जाहु द्वौ भाई॥

किन्तु इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए प्रभु ने यही कहा कि जिसे तुम दया के रूप में प्रदर्शित कर रहे हो वह तुम्हारी कायरता है :

रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा परम कदराई॥

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बड़ा ही उपयुक्त था। चौदह सहस्र सेना लेकर आने का तात्पर्य ही यह था कि वे श्रीराम को एक साधारण शत्रु के रूप में नहीं देख रहे थे। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि यह शत्रु बहुत शक्तिशाली है। यदि दो राजकुमार लंकाधिपति की बहन को पहचानने के बाद भी उसे दण्डित करने का साहस करते हैं तो इसका तात्पर्य ही यही है कि इन्हें अपने बल पर अगाध विश्वास है। सामने सेना लेकर पहुँचने पर उन्हें श्रीराम के जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार हुआ वह शृंगार के स्थान पर शौर्य के साकार विग्रह के रूप में था। अकेले श्रीराम को खड़े देखकर वे कहीं-न-कहीं अन्तःकरण में अवश्य आतंकित हो उठे। सौन्दर्य और शौर्य के इस मिले-जुले भाव ने ही उन्हें इस सन्धि-प्रस्ताव की दिशा में प्रेरित किया। प्रभु ने इसीलिए उनकी कृपा के प्रदर्शन को कायरता के रूप में देखा।

लंका के राक्षस भी क्रूरता और कायरता के मिश्रित रूप हैं। निर्बल पर प्रहार और सबल के समक्ष दया का प्रदर्शन इन्हीं दोनों वृत्तियों को प्रकट करता है। आञ्जनेय ने इन्हें पूरी तरह नग्न कर दिया। और यह खेल जो वे कपिप्रवीर

से खेल रहे थे उन्हें बड़ा महँगा पड़ा। लंका का प्रत्येक घर अग्नि की ज्वाला में धधक रहा था। एकमात्र विभीषण राक्षसों के इस क्रूर कौतुक में सम्मिलित नहीं हुए थे। इसीलिए उनका भवन पूरी तरह सुरक्षित रहा। आतंकित राक्षस चीख-पुकार कर रहे थे, पर उसे कौन सुनता ?

देह बिसाल परम हरुआई।
मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई।।
जरइ नगर भा लोग बिहाला।
झपट लपट बहु कोटि कराला।।
तात मातु हा सुनिअ पुकारा।
एहिं अवसर को हमहि उबारा।।

शंकरावतार महावीर की संहार-लीला सफल हुई। तृतीय नेत्र से विश्व को भस्म करने वाला लंका को क्षण-भर में जलाकर भस्म कर दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?



॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा ।
जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा ॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ ।
हरष समेत पवनसुत लयऊ ॥

अर्थ—(हनुमानजी ने कहा) हे माता ! मुझे कोई चिह्न दीजिए, जैसे श्री रघुनाथजी ने मुझे दिया था । तब सीताजी ने चूड़ामणि उतारकर दिया। हनुमानजी ने उसको हर्षपूर्वक ले लिया।

आञ्जनेय के अतुल पराक्रम से लंका कुछ ही क्षणों में जलकर विनष्ट हो गई। महावीर को समुद्र की प्रेरणा से मैनाक पर्वत द्वारा दिये गए निमन्त्रण की स्मृति हो आई। उस समय उन्होंने "रामकाजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम" कहकर उसे अस्वीकार कर दिया था। सफलता के इस क्षण में जब प्रभु का कार्य पूरी तरह सम्पन्न हो चुका था, हनुमानजी ने श्रमापनयन के लिए समुद्र के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। समुद्र में स्नान कर उनका सारा श्रम दूर हो गया।

विनयपत्रिका में लंका को आवृत किए हुए समुद्र को देहाभिमान के रूप में चित्रित किया गया है :

कुणप अभिमान सागर भयंकर घोर अमित अवगाह दुस्तर अपारं ।
नक्र रागादि संकुल मनोरथ सदा संग संकल्प वीची बिकारं ॥

साधक के मार्ग में देहाभिमान बहुत बड़ा बाधक है। देह पर दृष्टि जाते ही शरीर से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ साधन-मार्ग में अवरोध बन जाती हैं।

समुद्र ने जब मैनाक से यह अनुरोध किया कि वह पवनपुत्र को विश्राम का निमन्त्रण दें तब उसका तात्पर्य यही तो था कि मैनाक पवन के मित्र हैं और इस नाते हनुमान उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लेंगे। समुद्र की दृष्टि में सम्बन्ध का केन्द्र शरीर था। उधर भक्त सारे नाते प्रभु के आधार पर ही स्वीकार करते हैं। जितने भी प्रियता और पूज्यता के नाते हैं उसका आधार श्रीराम का सम्बन्ध है, जिसे वैदेही आर श्रीराम से प्रेम नहीं है वह शारीरिक दृष्टि से भले ही सम्बन्धी हो किन्तु उसका परित्याग कोटि-कोटि बैरी के समान कर देना चाहिए। इसीलिए प्रह्लाद ने पिता का, विभीषण ने भाई का और श्रीभरत ने माँ का परित्याग कर दिया। ब्रजगोपियों ने पतियों का परित्याग करने में रंच-मात्र संकोच अनुभव नहीं किया। बहिरंग दृष्टि से साधारण धर्म का परित्याग करने पर भी वे भक्तों के चरम आदर्श हैं। अञ्जन का उद्देश्य नेत्र के सौन्दर्य की वृद्धि-मात्र नहीं है, उसका मुख्य कार्य नेत्रों की ज्योति की वृद्धि है। यदि वह आँखों के सौन्दर्य को बढ़ाकर भी अन्धता ला दे तो उस अञ्जन को नष्ट कर देना चाहिए। साधारण धर्म के पालन का उद्देश्य भी अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार ही है। यदि वह धर्म ईश्वर के साक्षात्कार से वंचित कर दे तो उस धर्म का परित्याग ही कल्याण-कारी है :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥

× ×

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

समुद्र ने रघुपति का दूत समझकर ही विश्राम का निमन्त्रण देना चाहा था, किन्तु स्वयं आगे न आकर मैनाक के द्वारा निमन्त्रण दिलवाने में यही भ्रम कार्य कर रहा था कि सम्भव है ये मेरे द्वारा दिये गए निमंत्रण को स्वीकार न करें। इसलिए उसने मैनाक से अनुरोध किया :

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी ।
तैं मैनाक होहि श्रमहारी ।।

किन्तु आञ्जनेय ने मैनाक के निमंत्रण को उस दिन अस्वीकार करते हुए भी लंकादहन के पश्चात् समुद्र की भावना को स्वीकार कर लिया । देहाभिमान भले ही त्याज्य हो पर जब देह के द्वारा प्रभु की सेवा का कार्य सम्पन्न हो सके तब भक्त उसे पूजा का उपकरण मानकर स्वीकार कर लेता है । उस समय भक्त में देह के प्रति जो महत्त्व-बुद्धि होती है वह इसी सेवा-भावना से ही होती है। आञ्जनेय का जन्म ही 'रामकाजु' के लिए हुआ है। इसलिए जब वे सेवा के उपकरण शरीर को लेकर, देहाभिमान के समुद्र में कूदते हैं तब मृत्यु के स्थान पर उन्हें विश्राम की अनुभूति होती है । देहाभिमान के समुद्र में डूबकर अनेक व्यक्ति मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं किन्तु मारुति-जैसे संतरण की कला में निपुण भक्त उसमें विश्राम पा लेते हैं :

पूँछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि ।
जनक-सुता कें आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि ।।

अपने विशाल स्वरूप को समेटकर नन्हें-से रूप में माँ के समक्ष उपस्थित होने वाले कपिप्रवीर का यह चित्र उनकी कर्तृत्वशून्यता और निरभिमानता का प्रतीक है। संसार में प्रत्येक बालक क्रमशः बढ़ता ही चला जाता है । प्रारम्भ में उसकी यह वृद्धि उत्थान के प्रतीक के रूप में जान पड़ती है । पर किशोर के पश्चात् युवा और युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था की ओर बढ़ता हुआ पतन की दिशा में गिरता चला जाता है, किन्तु मारुति माँ मैथिली के समक्ष एक नन्हे-से शिशु के रूप में ही बने रहे । उन्होंने माँ के समक्ष अपने कार्यों की चर्चा तक नहीं की । अब तक आञ्जनेय ने जो कार्य किए थे वे बड़ी सरलता से सम्पन्न हो गए थे, किन्तु अब उनके समक्ष सबसे कठिन कार्य था, माँ मैथिली से विदा लेना । एक पुत्र के लिए माँ से अलग होना वैसे ही महान् कष्टकारी है । पर जिस स्थिति में जनकनन्दिनी वहाँ थीं, उन्हें छोड़कर जाना उन्हें अपराध-सा प्रतीत हो रहा था। किन्तु कर्त्तव्य का जो गुरुतर बोझ प्रभु के द्वारा सौंपा गया था उसे स्वीकार करना उनकी बाध्यता थी । वचनरचना-नागर मारुति ने विदा शब्द का उच्चारण किए बिना ही माँ को विदा लेने की सूचना दे दी । उन्होंने कहा, "माँ आप भी कोई वैसा ही चिह्न प्रदान करें जैसा प्रभु ने मुझे दिया था ।"

मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा ।
जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा ।।

माँ का अन्तःकरण करुणा और पीड़ा के असह्य भार से बोझिल हो उठा। मारुति की उपस्थिति ने उन्हें एक अनोखी सान्त्वना प्रदान की थी। घोर रेगिस्तान के बीच जल और छाया पाकर पथिक को जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है माँ को अपने लाड़ले पुत्र के सान्निध्य से वैसा ही परमानन्द प्राप्त हुआ। किन्तु विदा की इस वेला में उनका हृदय विदीर्ण होने लगा। जब उनके मुख से यह वाक्य निकला कि पुत्र तुम्हें देखकर छाती शीतल हो गई थी किन्तु अब मेरे समक्ष वे ही भयावने दिन तथा अन्धकार और निराशा से भरी हुई रात्रियाँ हैं :

तोहि देखि सीतलि भइ छाती।
पुनि मो कहुँ सोइ दिन सोइ राती॥

माँ की इस विकल अवस्था को देखकर मारुति का हृदय रो पड़ा, और वे व्याकुल होकर सोचने लगे, "हाय, माँ ने मुझे अमरता का वरदान क्यों दे दिया ? यदि मेरी इसी क्षण मृत्यु हो जाती तो माँ की आँखों में आँसू और विकलता-भरे शब्द सुनने को तो न मिलते।" उस समय उन्हें अमरता मृत्यु से भी अधिक दुःख-दायी प्रतीत होने लगी। उनकी अन्तर्व्यथा और माँ की करुणा का बड़ा ही हृदय-द्रावी चित्र गोस्वामीजी ने गीतावली में उपस्थित किया है :

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥

कहन चह्यो सँदेस, नहि कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि-तायो॥
नीचतें नीच लगी अमरता, छल को न बल को निरखि थल परुष प्रेम पायो।
कै प्रबोध मातु-प्रीतिसों असीस दीन्ही ह्वै है तिहारोई मन भायो।
करुना-कोप-लाज-भय-भरो कियो गौन, मौन ही चरन कमल सीस नायो।
यह सनेह-सरबस समौ, तुलसी रसना रूखी, ताहीतें परत गायो॥

एक ओर माँ के अन्तःकरण में पुत्र से बिलग होने की व्याकुलता थी तो दूसरी ओर प्रियतम तक अपनी व्यथा-कथा पहुँचाने की आतुरता। मारुति विदा की मुद्रा में माँ के समक्ष खड़े थे। मैथिली ने चूड़ामणि उतारकर आञ्जनेय को दे दिया। हर्षित हृदय से आञ्जनेय ने उसे सिर माथे चढ़ा लिया। आते समय उन्हें प्रभु की मुद्रिका प्राप्त हुई थी, और जाते समय वात्सल्यमयी माँ ने चूड़ामणि देने की कृपा की। मुद्रिका नाममयी थी, उसमें रामनाम अंकित था। चूड़ामणि रामभक्ति मणि का प्रतीक है। इसका उल्लेख उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति के तुलनात्मक प्रसङ्गों

में किया गया है :

राम भगति चिंतामनि सुंदर।
बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥

मुद्रिका में अंकित रामनाम नाम-साधना का संकेत करता है। नाम का जप और स्मरण मुद्रिका के द्वारा प्राप्त होने वाला उपदेश है। इसी नाम के आश्रय से आञ्जनेय ने लंका-यात्रा सम्पन्न की। किन्तु भक्तिमणि में चरम सिद्धि का संकेत है। चिन्तामणि की विशेषता ही यह है कि वह जिसके पास होता है उसके मन में उठने वाली प्रत्येक इच्छा को वह पूर्ण करता है। यहाँ इसे प्रज्ज्वलित रखने के लिए घृत, दीपक अथवा वर्तिका किसी की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वथा निरपेक्ष है। नाम-साधन में जहाँ पर साधक को सजग रहकर जप में संलग्न रहना है वहाँ भक्ति की पूर्णता में भक्त इस कर्त्तव्य से भी मुक्त हो जाता है। वह प्रेम की ऐसी दिव्य स्थिति में पहुँच जाता है कि जहाँ उसे कुछ भी स्मरण नहीं रह जाता। उस समय स्वयं प्रभु ही ऐसे भक्त का स्मरण करने लगते हैं। नन्हा बालक दिन में संकेत और स्वर के माध्यम से अपनी कुछ बातें माँ तक पहुँचा देता है, किन्तु रात की प्रगाढ़ निद्रा में यह प्रक्रिया भी समाप्त हो जाती है। बालक सुख की नींद सो सके यह चिन्ता माँ को ही करनी पड़ती है। दिन में भले ही बालक और माँ एक-दूसरे का स्मरण करें किन्तु रात्रि में इसका पूरा भार माँ पर ही होता है। इसी स्थिति का उल्लेख सन्त दादू के इस दोहे में किया गया है—न तो प्रभु का नाम मैं माला पर ही लेता हूँ और न अँगुली पर; जिह्वा से भी उनके नाम का जप नहीं करता। अब तो हरि ही मेरा स्मरण करते हैं, मैंने तो विश्राम पा लिया है :

माला जपौं न कर जपौं जिह्वा जपौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं मैं पावा बिश्राम॥

माँ ने निर्भरा भक्ति का वरदान देकर मारुति को यही स्थिति प्रदान की। चूड़ामणि को उसी का प्रमाणपत्र कह सकते हैं। जब तक घृत के द्वारा दीपक प्रज्ज्वलित किया जाता है तब तक उसमें घृत न चुकने पावे, इसका ध्यान रखना होगा। साधक की स्थिति इसी प्रकार की होती है। मणि में घृत आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। यही निर्भरा भक्ति की स्थिति है। आञ्जनेय उसी स्थिति में पहुँच चुके हैं। इसलिए चूड़ामणि के द्वारा माँ ने आञ्जनेय को मानों भक्त चूड़ामणि की उपाधि दी। सुंदरकाण्ड के प्रारम्भ में प्रभु की वन्दना "भूपाल

चूड़ामणिम्" के रूप में की गई है :

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपाल चूडामणिम्।।

हनुमानजी की इस यात्रा की समाप्ति "भक्ति चूड़ामणि" के "भूपाल चूड़ामणि" से मिलन में होती है। सचमुच ही आञ्जनेय समग्र भक्तों में सिरमौर हैं। जहाँ अन्य भक्त भक्तिदेवी की कृपा से प्रभु को प्राप्त करते हैं वहाँ स्वयं भक्तिदेवी और प्रभु, मारुति के माध्यम से एक-दूसरे को अपना संदेश पहुँचाते हैं। भक्त माँ से प्रार्थना करते हैं कि वे प्रभु को उनकी सुधि दिला दें। क्योंकि प्रभु बड़े भूलने वाले स्वभाव के हैं :

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥
दीन, सब अंग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥
बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जग जननि जनकी किए बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥

विनयपत्रिका के उपर्युक्त पद में भक्तों के इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु यहाँ तो स्वयं जगज्जननी ही आञ्जनेय से अनुरोध करती हैं कि प्रभु तक उनकी व्याकुलता को पहुँचाकर उनकी पीड़ा को दूर करने में सहायक बनें :

कहेहु तात अस मोर प्रनामा।
सब प्रकार प्रभु पूरनकामा॥
दीनदयाल बिरिदु सँभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर आञ्जनेय का चूड़ामणित्व पूरी तरह सिद्ध हो जाता है। मुद्रिका और चूड़ामणि के माध्यम से प्रभु और किशोरीजी ने एक-दूसरे को सांकेतिक स्नेह-संदेश भेजा, ऐसा जान पड़ता है। यह मुद्रिका किशोरीजी और प्रभु के करकमलों में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त कर चुकी

है। सर्वप्रथम विवाह के अवसर पर यह प्रभु के करकमलों में दिखाई देती है :

पीत जनेउ महाछबि देई।
कर मुद्रिका चोरि चित लेई॥

यह मुद्रिका भक्तों का चित्त चुराकर प्रभु के चरणों में अर्पित कर देती है। किन्तु स्वयं प्रभु का चित्त श्री किशोरीजी के द्वारा अपहृत कर लिया गया। इसलिए विजय-चिह्न के रूप में यह मुद्रिका राघव के द्वारा मैथिली को दे दी गई। तब से यह मुद्रिका उनके ही कर-कमलों में सुशोभित रही। पुनः यह मुद्रिका श्री किशोरीजी के द्वारा गंगातट पर प्रभु के करकमलों में हस्तांतरित होती है। केवट को उतराई देने के लिए प्रभु को संकुचित होते देखकर मैथिली ने यह मुद्रिका प्रभु को दे दी :

केवट उतरि दंडवत कीन्हा।
प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥
पिय-हिय की सिय जाननिहारी।
मनि मुदरी मन-मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई।
केवट चरन गहे अकुलाई॥

किन्तु केवट ने उतराई के रूप में इस मुद्रिका को लेना अस्वीकार कर दिया। तब से यह मुद्रिका प्रभु के करकमलों में ही सुशोभित रही। इस तरह यह मुद्रिका विवाह से लेकर वनवास तक की मधुर स्मृतियों से जुड़ी हुई है। वियोग की वेला में इस मुद्रिका को मैथिली के पास भेजकर प्रभु ने यह स्मरण दिलाने का प्रयास किया था कि तुम्हें मेरे मन के संकोच का कितना ध्यान है इसकी साक्षी यह मुद्रिका है। तुम इस मुद्रिका के माध्यम से ही मेरे हृदय की भावनाओं को समझ लो। मिथिलेशनन्दनी ने चूड़ामणि के माध्यम से अपने मस्तक पर प्रभु के वरदहस्त की कामना की। प्रियतम अपने कोमल करकमलों से जब श्री किशोरीजी के मस्तक का स्पर्श करते थे तब इस मुद्रिका और चूड़ामणि का भी मिलन होता था। इस चूड़ामणि में स्नेह की जितनी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं कि उसे केवल प्रिया-प्रियतम को छोड़कर और कोई नहीं जानता। यह चूड़ामणि उन्हीं घटनाओं की याद दिलाने के लिए भेजी जा रही है। दस मास के इस वियोग में मुद्रिका और चूड़ामणि का मिलन नहीं हुआ। दोनों ही प्रभु और प्रिया के वियोग की मूक द्रष्टा हैं। आञ्जनेय के माध्यम से मुद्रिका और चूड़ामणि दोनों की अन्तर्व्यथा को एक-दूसरे के सन्निकट पहुँचाती हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

तब मधुबन भीतर सब आए।
अंगद संमत मधु फल खाए॥

अर्थ—तब सब लोग मधुवन के भीतर आए और अंगद की सम्मति से सबने मधुर फल खाए।

आतुरता से आञ्जनेय के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए बन्दर लौटते हुए हनुमान के मुख से निकली हुई हर्ष-ध्वनि सुनकर उछल पड़े। कुछ ही क्षणों में महावीर की तेजोमयी आकृति का भी दर्शन होने लगा। आकृति की प्रसन्नता से ही यह प्रकट हो रहा था कि वे प्रभु के कार्य को भली-भाँति सम्पन्न कर लौट रहे हैं। मारुति के निकट आते ही बंदरों में उनके स्वागत के लिए होड़ मच गई। "कोई उन्हें हृदय से लगा रहा था तो कोई उनके चरणों की धूल को ही अपने माथे पर धारण कर रहा था। कुछ ऐसे भी थे कि जो महावीर के लांगूल को ही चूमने लगे। एक बंदर को ऐसा लगा कि वे लंका से भूखे लौटे होंगे इसलिए उनके समक्ष कंद-मूल-फल लाकर रख दिए। भावना से भरे कुछ बंदर पुष्प ले आकर उनकी विशाल भुजाओं का पूजन करने लगे। वे बार-बार विदेहजा का कुशल समाचार पूछते हैं। उसे सुनाकर आञ्जनेय का सारा श्रम दूर हो गया। बड़े स्नेह से किसी बंदर ने कहा कि कृपासिंधु सीतापति जिसके अनुकूल हैं उसके सब कार्य सिद्ध होना स्वाभाविक है।"

आयो हनुमानु प्रानहेतु, अंकमाल देत,
लेत पगधूरि एक, चूमत लँगूल हैं।
एक बूझैं बार-बार सीय-समाचार, कहें
पवनकुमारु, भो बिगत-स्रम-सूल है।।
एक भूखे जानि, आगें आनैं कंद-मूल-फल;
एक पूजैं बाहु बलमूल तोरि फूल हैं।
एक कहैं 'तुलसी' सकल सिधि ताकें जाकें
कृपा-पाथनाथ सीतानाथ सानुकूल हैं।।

लंका के संस्मरणों को सुनते हुए सारे बंदरों की यात्रा इतनी शीघ्रता से समाप्त हुई कि उन्हें समय का भान भी न रहा। किष्किन्धा के बहिर्भाग में प्रवेश करते ही बंदरों की ललचाई हुई दृष्टि महाराज सुग्रीव के लिए सुरक्षित वाटिका पर पड़ी। "उत्साही युवराज ने बंदरों को फल खाने का आदेश दिया। रक्षकों को उनका यह व्यवहार अनुचित और असह्य जान पड़ा। अतः उन्होंने रोकने का प्रयास किया, किन्तु उत्तर में मुक्कों का प्रहार होते ही वे भाग खड़े हुए और सीधे सुग्रीव के पास जाकर उन्होंने पुकार मचाई, राजन् ! युवराज अंगद अपने साथियों के साथ आपका उपवन उजाड़ रहे हैं।" रक्षकों को यह आशा थी कि क्रुद्ध सुग्रीव अंगद को मृत्यु-दंड का आदेश देंगे। उन्हें सुग्रीव और अंगद के मनोमालिन्य का पता था। इसलिए उन्होंने विशेष रूप से अंगद पर ही सारा दोष मढ़ दिया था। पर रक्षकों की अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। सुनते ही वे आनन्दातिरेक से भर उठे और उन्हें निश्चय हो गया कि अवश्य ये वीर प्रभु का कार्य सम्पन्न कर लौटे हैं:

तब मधुबन भीतर सब आए।
अंगद संमत मधु फल खाए।।
रखवारे जब बरजन लागे।
मुष्टि प्रहार हनत सब भागे।।
जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज।।

उपर्युक्त प्रसंग में अंगद और सुग्रीव में होने वाला परिवर्तन हृदयङ्गम करने योग्य है। सुग्रीव पूरी तरह परिवर्तित हो चुके हैं। महाबली बालि के पुत्र अंगद अनेक सद्गुणों से सम्पन्न थे। बल और बुद्धि में आञ्जनेय को छोड़कर वे सारे बंदरों में आगे थे। पर प्रारम्भ में वे अपने को संशय और भय से मुक्त नहीं कर पाए थे। उनके मन में यह आशंका बनी रहती थी कि सुग्रीव कभी-न-कभी उन्हें अपने

मार्ग से हटाने की चेष्टा करेंगे। समुद्र-तट पर उनका यह मनोभाव प्रकट हो चुका है :

पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही॥

पर महावीर की पराक्रममयी यात्रा के संस्मरणों ने उन्हें पूरी तरह बदल दिया। उनका सारा संशय और भय न जाने कहाँ भाग गया। अपनी निर्भयता के प्रदर्शन के लिए ही उन्होंने इस प्रकार का आचरण किया था, जिसकी वे पहले कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्हें लगने लगा कि जब आञ्जनेय माँ मैथिली का दर्शन करने के बाद रावण की वाटिका के फल खाकर तृप्त हो सकते हैं तब जिन्होंने माँ के दर्शन करने वाले महान् भक्त का दर्शन प्राप्त किया है, वे भी फल खाकर तृप्त होने के अधिकारी हैं। क्योंकि भक्ति और भक्त का दर्शन समान रूप से फलदायी माना गया है। सत्सङ्ग की महिमा का प्रत्यक्ष प्रमाण अंगद का चरित्र है। दूसरी ओर सुग्रीव का औदार्य-भरा चित्र भी सामने आ गया। यदि उनके अन्तःकरण में अधिकार की वृत्ति प्रबल होती तो वे क्रुद्ध होकर अंगद और बन्दरों को दण्डित करने का आदेश देते। किन्तु वैदेही के समाचार मिल जाने की कल्पना से ही वे इतने आनन्दित और चमत्कृत हुए कि उन्हें बन्दरों के अपराध का भान भी नहीं हुआ। क्योंकि उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि यदि बन्दरों ने जगज्जननी का समाचार न पाया होता तो वे इतना बड़ा दुस्साहस नहीं कर सकते थे :

जौं न होति सीता सुधि पाई।
मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥

विनयपत्रिका में सुग्रीव को साधन-ज्ञान के प्रतीक-रूप में स्वीकार किया गया है। साधन-रूप बन्दरों के स्वामी वही हैं। ज्ञान की वाटिका का फल अत्यन्त दुर्लभ है :

कहहिं सन्त मुनि बेद पुराना।
नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥

किन्तु भक्तिदेवी की कृपा प्राप्त हो जाने पर ज्ञान का दुर्लभ कैवल्य फल अत्यन्त सुलभ हो जाता है। क्योंकि "भक्ति सुतन्त्र सकल गुनखानी" है। जब वे कृपा कर देती हैं तब बन्धन का भय समाप्त हो जाता है। उनके कृपापात्र को बाँधने की चेष्टा का क्या परिणाम होता है इसका प्रत्यक्ष अनुभव लंकावासियों को हो चुका है। इसलिए भक्तिदेवी के कृपापात्र संत की दृष्टि भी जब किसी

व्यक्ति पर पड़ जाती है तब वह भी कैवल्य फल का अधिकारी बन जाता है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
सन्त पुराण निगम आगम बद।।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अन इच्छित आवत बरिआईं।।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में इसी सत्य का साक्षात्कार होता है। विवेकी सुग्रीव वही भूल नहीं दोहरा सकते थे जो मोहग्रस्त रावण ने आञ्जनेय के साथ की थी। जिसके परिणामस्वरूप वाटिका और लंका दोनों का विध्वंस हो गया। व्यक्तिगत नाते से सुग्रीव और अंगद में भले ही कुछ मनोमालिन्य रहा हो किन्तु यहां तो भक्ति-देवी के नाते से ही सम्बन्ध स्वीकार करने का प्रश्न था :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मनिअहिं राम के नाते।।

निर्भय और संशय-रहित अंगद तथा संकीर्णता से मुक्त सुग्रीव दोनों के चरित्र में भक्तिदेवी की महिमा का दर्शन होता है।

